प्रकारांतर से

डायरी

कुबेर कुमावत

Ink Publication

सर्वाधिकार सुरक्षित है – इस पुस्तक के किसी भी अंश अथवा सामग्री को बिना अनुमति के पुनर्प्रकाशित या प्रसारित नहीं किया जा सकता लेखक एवं प्रकाशक से बग़ैर किसी लिखित अनुमति प्राप्त किये, इसकी नकल बनाना, फ़ोटोकॉपी या अन्य सूचना संबंधी माध्यमों से प्रकाशित या प्रसारित करना क़ानूनन अपराध है।

ISBN : 978-81-19624-69-0
Copyright : Kuber Kumawat
Publishing Right : Ink Publication
First Edition : February 2024
Price : 360 /-

Publisher : Ink Publication
Print & Bound in India

Published by : Ink Publication
Office : 333/1/1K, Naya Pura, Kareli, Prayagraj - 211016
E-mail : publicationink@gmail.com
Mobile : 9455400973, 8318034587

Title : Prakarantar Se (Dairy)
Author : Kuber Kumawat
Cover & Text Design : ink Art & Creative Team

जीवन के उन तमाम
क्षणों, घटनाओं, प्रसंगों, व्यक्तियों और क्षतियों को
जिनके कारण मुझमें
विवेक, साहस, त्याग, तर्कना और सहनशक्ति
का विकास हुआ और हो रहा है

भूमिका

पाश्चात्य विचारक बेनदत्तो क्रोचे ने अभिव्यंजना की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि किसी भी कविता में अथवा साहित्यकृति में जो कुछ भी व्यक्त होता है वह कवि अथवा लेखक की अंतर की अभिव्यक्ति होती है। उसकी अपनी निजी भावना होती है, जिस पर एकांततः उसी का अधिकार होता है। उनका कहना है कि कोई भी कवि अपनी कविता में किसी भी बाह्य वस्तु को अथवा घटना को व्यक्त नहीं करता, अपितु अपने ही भीतर की भावना को स्थिति के अनुसार शब्दों, रंगों व स्वरों में बाँधने का प्रयत्न करता है। वह तो केवल मन की अवस्था को अभिव्यंजित करता है। मैं क्रोचे के इन विचारों से सहमत हूँ। इस डायरी की जितनी भी सुदीर्घ प्रविष्टियाँ हैं, वह मेरी मन की अवस्थाओं का प्रकटीकरण है। मैं इन प्रविष्टियों को अभिव्यंजना तो नहीं कहूँगा परंतु उन्हें आत्मप्रकटीकरण कहना अधिक युक्तिसंगत मानूँगा। मेरे आसपास के लोग, परिवेश, स्थितियाँ, दृश्य, घटनाएँ, प्रसंग, कार्य और व्यवहार आदि ने जब-जब और जहाँ-जहाँ मेरे भीतर को झंकृत किया या प्रभावित किया उसे मैंने केवल अपने भीतर की गंध प्रदान करते हुए व्यक्त किया है।

मेरी इस डायरी की अधिकांश प्रविष्टियाँ सन 2020-21-22 वर्ष की हैं। प्रारंभिक कुछ प्रविष्टियाँ मैंने कच्ची-पक्की अवस्था में पहले एक नोटबुक में लिखना शुरू की थी। फिर जैसे ही मैं फेसबुक से जुड़ा तो मैंने अपने इस लेखन को फेसबुक स्तंभ 'कुबेरायण' के द्वारा लिखना शुरू किया। प्रारंभ में मेरे फेसबुक पटल की संख्या में बहुत कम मित्र थे, पर जितने भी थे उन्होंने मेरे इस स्तंभ को पढ़ना शुरू किया और मुझे इस तरह लिखने के प्रति प्रेरित किया। कुछ वरिष्ठ मित्रों ने प्रतिक्रिया देते हुए यह कहा कि यह सब मैं कैसे लिख लेता हूँ? इसका कोई उत्तर मेरे पास नहीं था। शाम के समय जब मैं अपने अध्ययन कक्ष में पहुँचता तो लिखने की तीव्र बेचैनी-सी होनी लगती। कभी-कभी सुबह या दोपहर से यह बेचैनी मुझे तीव्रता से सताने लगती और मैं भागा-दौड़ा घर पहुँचता और अपने कक्ष जिसे मैंने कोश या गुफा भी कहा है, में अपने को बंद कर लेता। पत्नी और बच्चों से मैं कह देता कि लगभग नौ बजे के आसपास या खाने के समय पर ही मुझे बुलाया जाए। आप कल्पना नहीं करेंगे कि इन दो-तीन पृष्ठों की

प्रविष्टियों को लिखने के लिए मुझे तीन-तीन घंटे लगे हैं और यह सब लिखकर जब मैं फारिग हो जाता तो बता नहीं सकता कि मैंने कैसी अद्‌भुत मुक्ति एवं तृप्ति का अनुभव किया है। लिखना सचमुच ही काफी कष्टसाध्य काम है। लोगों को जितना यह सरल प्रतीत होता है, उतना है नहीं। उसमें भी अपनी सहज अनुभूतियों के साथ जुड़कर प्राप्त अनुभवों, बेचैनियों और दृष्टिकोणों को व्यक्त करना और भी कठिन है। यह सब मेरा लेखन दैनिक कालक्रमानुसार होने और इसमें अधिकतम सद्यःस्क स्थितियों और कुछ को स्मृतियों के आधार पर मैंने व्यक्त किया हैं। वस्तुतः सत्य और सद्यःस्क ही डायरी का सौंदर्यशास्त्र कहा जा सकता है। पर यह जो डायरी का सत्य है यह केवल बाहरी स्थितियों का यथातथ्य प्रस्तुतिकरण मात्र नहीं होना चाहिए बल्कि वह आत्मरस से युक्त, तरल, स्निग्ध होना चाहिए जैसे कि किसी फल का रस चू रहा होता है। सैद्धांतिक भाषा में कहें तो आत्मप्रकटीकरण की शैली में प्रस्तुत होना चाहिए। इसे अंग्रेजी में मैनीफैस्टेशन (Manifestation) कहा जाता है। मेरी इस डायरी में मैंने तत्कालीन अपने मन की अवस्थाओं को ही अधिक शब्दांकित किया है। मेरे भीतर और आसपास के परिवेश के आतंरिक और बाह्य बहुत-से ऐसे बिंदु हैं जो यथास्थान वैचारिक, चिंतनपरक, आत्मपरक स्तर पर व्यक्त हुए हैं। इस डायरी में शिक्षा, शिक्षक, अध्यापन, शोध, साहित्य, आलोचना, समाज, संस्कृति, परिवार, धर्म, आस्था, युद्ध, राजनीति, इतिहास, व्यापार, लोकतंत्र, राष्ट्र, आर्थिक चिंताएँ, सामाजिक विद्रूपताएँ, विपत्तियाँ, पुस्तकें, फिल्में, पर्व, त्यौहार, लोग, मनुष्य जीवन, लोगों के परस्पर संबंध, पाखंडीपन आदि अनेक समसामयिक विषयों पर मेरी दृष्टि, अनुभव, कटाक्ष एवं चिंताओं को पढ़ते हुए मेरे वास्तविक व्यक्तित्व का आंकलन कर सकते हैं। कई लोगों ने मेरे प्रविष्टियों को पढ़कर प्रतिक्रिया देते हुए मात्र इतना ही कहा कि यह सब सच है। यह नहीं कहा कि मैं झूठ लिख रहा हूँ। कई प्रकार की मेरी प्रविष्टियाँ विचारोत्तेजक बन पड़ी हैं और आत्मचिंतन के लिए प्रेरित करती हैं। यह सब कंस्ट्रक्टिव लेखन नहीं है बल्कि आत्मस्फुरित है। जिसे आप अंग्रेजी में 'टैक्टलेस रायटिंग' कह सकते हैं यानी अयुक्तिपरक लेखन। इसका कारण है कि मैं कथात्मक शैली या कल्पनात्मक या युक्तिपरक कुछ लिखने में अपने आपको दुर्बल और असहाय अनुभव करता हूँ। मुझमें वह प्रतिभा ही नहीं है। मुझे लगता है कि हमें लिखने के लिए ज्यादातर सामग्री यानी कच्चा माल अपने परिवेश और जीवनानुभवों से उठाना चाहिए। इससे रचना में प्रामाणिकता

का समावेश होता है। मैं अभी तक यह नहीं समझा कि इस तरह जीवन और परिवेश से इस कच्चे माल को उठाना क्या अनुकरण मात्र कहा जा सकता है? हमारे समस्त भाव, विचार, अनुभावादि क्या अनुकरण के दायरे में ही आते हैं? यदि ऐसा होता तो किसी एक विषय पर केन्द्रित एवं लिखित भिन्न-भिन्न साहित्यिक रचनाओं या कृतियों में परस्पर भिन्नताएँ क्यों पायी जाती? वे एक जैसी ही लगती। मेरा मानना है कि इसे पूर्णतः अनुकरण नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य विचारक अरस्तू ने बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है कि कवि या रचनाकार अपने जीवन और परिवेश अर्थात् प्रकृति से जिस वस्तु अथवा भाव का अनुकरण करता है वह तीन प्रकार से करता है। एक - वस्तुएँ जैसी थी या हैं। दो - वस्तुएँ जैसी कही या समझी जाती हैं और तीन - वस्तुएँ जैसी होनी चाहिए। मुझे लगता है कि अच्छे और उत्कृष्टतम लेखन के लिए इन तीनों में संतुलन होना जरुरी है। इन तीनों में संतुलन बनाकर लिखने में ही रचनाकार की कसौटी है। कथात्मक विधाओं में यह संतुलन साधना बहुत कठिन होता है। इसके लिए उत्तम जेनर कथेतर ही है और कथेतर की डायरी विधा में यह कुछ सरलता से घोला जा सकता है। मुश्किल यहाँ केवल सरलता को साधना है। वर्तमान, भूत और भविष्य का अपनी आत्मा के द्वारा परीक्षण करते हुए उसके उत्तम और उत्कृष्ट मेल को प्रस्तुत करना है। यद्यपि डायरी तो वर्तमान के प्रस्तुतिकरण या अंकन की विधा है पर इसके माध्यम से डायरीकार अपनी स्मृतियों और भविष्य के संकल्पों को आधार बनाकर भी बहुत कुछ दे सकता है। मेरी इस डायरी में एकदम से डे-टू-डे लिखना मुझसे संभव नहीं हुआ है। जब कभी विषयसामग्री मिली और मुझमें उसे व्यक्त करने की संभावना जगी तब मैंने इसे अपने आगे-पीछे का बहुत कुछ समेटते हुए लिखा है। मैं इसे लिखा हुआ भी नहीं कहूँगा। मैंने केवल अपने आपको दूसरी तरह से प्रकट मात्र किया है। आशा करता हूँ कि मेरी यह डायरी 'कुछ प्रकारांतर से' सुधि एवं सहृदय पाठकों को पसंद आएगी।

- कुबेर कुमावत

अनुक्रम

01. भाषा, साहित्य का अध्ययन-अध्यापन 13
02. आवश्यकता, वैभव एवं फीचर्स 16
03. वैसे दूसरे लोग नहीं हैं 18
04. दैनिक कार्य और उनका सृजनात्मक पक्ष 20
05. चाहे कितने भी ओले पड़े 23
06. यह संसार आपको क्या लगता है? 27
07. शुद्ध मनुष्यों की भारी कमी दिखती है 30
08. भद्र नागरिकों के निर्माण के कोचिंग क्लासेस क्यों नहीं हैं? 32
09. प्रिय आलोचक मेरे 35
10. साहित्य, साहित्यकार एवं साहित्य का ध्येय 38
11. राष्ट्रीय धन और हम सब का दायित्व 42
12. महामारी का विज्ञान, भ्रम, प्रशासन और हम 45
13. अच्छे-बुरे के विवेक से युक्त शिक्षा-प्रणाली 49
14. भय, वेदना, चिंता एवं धैर्य : कोरोना से मेरा युद्ध 52
15. कोरोना का मृत्यु ताण्डव : यह मैंने क्या खोया प्रभु? 58
16. विपत्ति-विष : हमारी सामाजिक विद्रूपताएँ एवं संवेदनहीनता 62
17. मौत : जब तुम केवल एक भेड़िया होती हो 66
18. राजनीतिक पार्टियों की हार-जीत : उत्तेजना में बिखरा हुआ हाशिए का समाज 70
19. मनुष्य : छोटा शून्य और बड़ा शून्य 74
20. दूसरों की आग में क्या रखा है? 77
21. मैं भी कहीं कुछ गलत था 81
22. शिक्षा के मूल अन्वयार्थों की पड़ताल 84
23. दूसरों की चीजें 86
24. महामारी की सृजनकथा 88
25. हिंदी में पढ़ाई करना क्या जोखिम लेना है? 91
26. सर्वोत्तम कार्यसंस्कृति और लोग 95
27. बस यह मुलाकात एकतरफा न हो 99
28. विशुद्ध चिंतन एवं आर्थिक चिंता से मुक्ति 102
29. आत्मा के मित्र मेरे 105
30. यह शिक्षा वास्तव में एक नकली पदार्थ की तरह है 107
31. जीवन ही महत्वपूर्ण है 109
32. पुस्तक की सृजनप्रक्रिया और विक्रयप्रक्रिया 111
33. वह नहीं है दीवाना 114
34. भारत की राष्ट्रीय एकता और हिंदी 117
35. युद्ध के प्रेरक कारण और अनिवार्यताएँ 121
36. हिंदी आलोचना और रचना की उपेक्षा 124
37. अहिंदी भाषियों का हिंदी प्रेम और प्रेम की हिंदी 129
38. सौंदर्य और घृणा : प्रकृति की न्यायव्यवस्था 133
39. हर कोई आदमी को खरीदने की बात करता है 136
40. हर कोई अपने आपको मसीहा एवं महान मानता है 139
41. गांधी : भारत कभी नास्तिक नहीं बनेगा 143
42. मनुष्य की सबसे बड़ी योग्यता उसके श्रम करने में है 148
43. सुरा, सुंदरी और सिंहासन के बावजूद जीवन अभिशप्त ही है 152
44. हम तत्काल नकारात्मक राय पर कैसे पहुँच जाते हैं? 156
45. आजकल लोगों में शिक्षा का दंभ अधिक मिलता है 159
46. वास्तविक आनंद का सृजन इतना सरल नहीं है 163
47. अपना देश, अपने लोग, अपनी सरकार 167
48. जीवन की कुछ अपूर्णताएँ भविष्य की सहायक होती हैं 170
49. दासता और स्वामीभक्ति में किंचित अंतर होता है 173
50. हिंसा का असंवेदनशील पक्ष-विपक्ष और निजी न्यायतंत्र 176
51. रचनाकार का लक्ष्य और रचना की उपलब्धि 180
52. अशुभ की आशंका की स्मृतियाँ और बीता एक साल 184
53. बहुसंख्यक समान वैचारिकी और शक्ति का गुणोत्तर 186
54. मर्त्य मानव की विजय का तुर्य हूँ मैं 189
55. उच्चशिक्षा की मंडी और शिक्षा का फैशन 193

56. जिजीविषा और आत्म बलिदान की पुनर्व्याख्या का जटिलतम समय 195
57. लेखक और साहित्यिक पत्रिकाएँ : निरीक्षण और बोध 197
58. श्रेष्ठ मनुष्य और मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ 198
59. साहित्य : प्रतिभा और श्रम का अंतर्संबंध 200
60. पचास कम... पचास ज्यादा... 202
61. धर्म, आस्था, खान-पान के अंतर्विरोध और भारत 204
62. क्या अभिव्यक्ति जैसा कुछ नहीं बचा है, हमारे पास? 206
63. धार्मिक आस्था की निरंकुशता, आक्रामकता, असहिष्णुता एवं संकीर्णता 209
64. मेरा पुराना विद्यालय, मैं और मेरे बच्चे 213
65. अच्छी शिक्षा और शिक्षक की अवधारणा 217
66. सृजनात्मक लेखन परियोजना की तरह नहीं होना चाहिए 219
67. मेरा जीवन और साधु-संतों का प्रभाव 221
68. साहित्यकर्म और निकम्मापन 224
69. गरीबों की दुनिया ही सबसे बड़ी दुनिया है 228
70. साहित्य : जीवनसत्य की सृष्टि और पुष्टि 231
71. आत्मचिंतन की स्वतंत्रता 232
72. समर्थ रामदास स्वामी का कवित्व निरूपण 235
73. निजी जीवन में हस्तक्षेप और पुस्तकें 238
74. शिक्षक दिवस की औपचारिकताएँ और मौलिक शिक्षक 240
75. पारिवारिक संबंधजन्य प्रेम एक अजीब-सी स्थिति में होता है 243
76. जनसाधारण का नेतृत्वहीन होना अत्यंत गंभीर है 245
77. शिक्षा और प्रतिष्ठा के अस्वस्थ अंतरसंबंध 247
78. जब दुआ जाती है अर्श पर असर लाने को 250
79. मुझे सबकुछ देखना और समझना होगा 252
80. सत्य और न्याय को नुकीले दाँत और नाखून क्यों नहीं 254
81. मेरी, आपकी, इसकी, उसकी, सबकी दिवाली 256
82. हिंदी फिल्में यथार्थ को प्रस्तुत करने में चूक जाती हैं 259
83. हिंदी की पुस्तकें, साहित्यकार और मेरे संबंध 261
84. मैं कई हिस्सों में बंट गया हूँ 263
85. इंतहा हो गयी... 265
86. कुछ भी विश्वसनीय नहीं है 270
87. पराया धन, पराई नार पे नजर मत डालो 273
88. अपना दांपत्य जीवन और... 278
89. बेशर्म रंग देखा दुनियावालों ने 281
90. पता चला कि गलत ले के मैं पता निकला 284
91. पुस्तक और परिवार दोनों मेरे लिए समान हैं 288
92. दिल्ली से देश का पता नहीं चलता 290
93. पुस्तकें प्रतिदिन जीवनोपयोगी काम की चीज क्यों नहीं हो सकती? 293
94. अब तक की अपनी अध्यापकी 297

24 अक्तूबर, 2020

भाषा, साहित्य का अध्ययन-अध्यापन

विद्यालयों, विश्वविद्यालयों में भाषा एवं उसके साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की स्थिति उतनी उन्नत एवं संतोषजनक नहीं कही जानी चाहिए। किसी भाषा में संप्रेषण की क्षमता को मात्र प्राप्त करना या उस भाषा या उसके साहित्य का सूचनापरक एवं कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। आजकल हिंदी भाषा के बारे में लोगों में और विशेषकर हिंदी पढने-पढ़ाने वालों के लिए कुछ मुहावरे काफी प्रयोग में आने लगे हैं, जैसे- हिंदी प्रेमी, हिंदी सेवी आदि। अब यह मुहावरे हिंदीतर प्रदेशों के लोगों पर एक मायावी जादू की तरह हावी हैं। भारत में ऐसा अंग्रेजी के बारे में नहीं है। न कोई अंग्रेजी प्रेमी है और न अंग्रेजी सेवी। इसके बावजूद अंग्रेजी भारत में उच्च शिक्षा का प्रमुख माध्यम है। देश के अधिकांश निजी, पब्लिक एवं केन्द्रीय बोर्ड के विद्यालयों में भी अंग्रेजी का ही साम्राज्य है। हिंदी भाषा केवल कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध लिखने एवं उनके अध्यापन तक ही सीमित है। अच्छा, अंग्रेजी में कोई कविता, कहानी, उपन्यास आदि नहीं लिख रहा है। छात्रों को अंग्रेजी में ऐसा लिखने के लिए कोई प्रेरित भी नहीं कर रहा है। अंग्रेजी के हिंदी की तरह साहित्योत्सव भी नहीं होते। इतना सब होते हुए भी भारतीय परिवेश पर केन्द्रित कोई विशेष रचनात्मक लेखन की कोई धाँसू रचना पिछले अनेक वर्षों में नहीं आयी है, जिसमें भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक संरचना, घटना एवं परिवेश का विशेष चित्रण हो। देश के किसी भी विश्वविद्यालय का अंग्रेजी विभाग अंग्रेजी लेखकों को बनाने में अधिक सफल नहीं हुआ है। केवल पत्रकार मात्र अपवाद है। इसी तरह अन्य भाषाओं के विभाग भी रचनात्मक लेखकों के निर्माण में अधिक सफल होते हुए नहीं दिखाई देते। यानी इतने बड़े व्यापक स्तर पर शिक्षा का माध्यम होते हुए भी रचनात्मक लेखन के स्तर पर अंग्रेजी भारत में पिछड़ी हुई भाषा है। समाचार-पत्रों का अंग्रेजी लेखन यहाँ विशेष मुद्दा नहीं है। इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि भारत में अंग्रेजी का इतना व्यापक प्रभाव होते हुए भी अंग्रेजी में यहाँ के लोग न विचार करते हैं और न चिंतन-मनन। चिंतन-मनन के क्षेत्र में भारतीय भाषाएँ ही अधिक सक्रिय

हैं। इस विषय में शिक्षाजगत से संबंधित नीतियों का निर्माण करने वाले लोगों को भी सोचना चाहिए।

अन्य भाषाओं के विभाग भी इसी तरह रचनात्मक रूप से अपने छात्रों का विकास करने में अधिक सफल नहीं रहे हैं। यह भी ध्यान रखें कि शोधकार्य रचनात्मक लेखन नहीं है। अनेक लेखक, कवि, रचनाकार अपनी स्वतंत्र साहित्यिक चेतना के विकास में इन विभागों को सहायक नहीं मानते। साहित्य के क्षेत्र में रचनात्मक लेखन को स्तरीय मानना एवं न मानना भी एक रोड़ा है, जो छात्रों की साहित्यिक अभिरुचि के विकास में बाधक बनता है। यदि हिंदी भाषा को ही लें तो इसमें मेरी रुचि भी प्रारंभ में गुलशन नंदा, सुरेंद्र या कांत जैसे लेखकों के उपन्यासों को पढ़कर ही हुई। हिंदी भाषा के विकास में इन लेखकों का भी विशेष योगदान है। यह लेखक हिंदी विभागों से तैयार नहीं हुए हैं और न होंगे। विशेषकर अहिंदी भाषी प्रदेशों में। तब मैंने न प्रसाद को पढ़ा और न महादेवी, निराला और पंत को। विभागों में इन्हें पढ़ाया जाता है, परंतु पंत, निराला, प्रसाद से हिंदी साहित्य का विकास और इतिहास भले ही बना हो पर हिंदी भाषा का विकास नहीं हुआ ऐसा मेरा स्पष्ट मत है। विशेषकर अहिंदी भाषी प्रदेशों में। कहने का अभिप्राय यह है कि हम एक अभिजात्य एवं आडंबरपूर्ण सोच की दृष्टि से साहित्य को देखते हैं और पढ़ाते हैं। मैं शिवरतन थानवी की पुस्तक 'शिक्षा सर्वोपरि' पढ़ रहा हूँ। इस पुस्तक की मुझे समीक्षा भी करनी है। इस पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है, 'कुशवाह-कांत या गुलशन नंदा के नाम से घबराएँ नहीं। कर्नल रणजीत पढ़ने की उम्र होगी तब फणीश्वरनाथ रेणु या अज्ञेय नहीं चलेगा। उच्चस्तरीय रुचियों का आडंबर हम न करें, हमारे बच्चों को देखें। उदारता हम नहीं रखेंगे, स्वतंत्रता नहीं देंगे और सदैव कुत्सित विचारों के प्रवेश से भयभीत हो बालक-बालिकाओं को प्रिय साहित्य वर्जनाओं के घेरे बनाकर उनसे दूर-दूर ही रखते रहेंगे तो इससे कुत्सित और क्या कृत्य होगा?'

मैं भी प्रायः अपने छात्रों को उनकी अपनी हिंदी में लिखने की सर्वप्रथम प्रेरणा देता हूँ तो उनमें कुछ लिखने का साहस बढ़ता है। यह उन्हें एक प्रकार से स्वयं को व्यक्त करने में सक्षम बनाने का एक प्रयास मात्र है। बने-बनाये उत्तरों एवं गाइडों से उनकी रचनात्मक चेतना बाधित होती है। अब यदि स्वयं प्रेरणा से अहिंदी प्रदेशों में कोई हिंदी प्रतिभा यदि विकसित हो जाये तो यह हिंदी प्रदेश के लोगों के लिए गौरव की बात होनी चाहिए। है ना? ऐसे अहिंदी भाषी प्रदेश की हिंदी प्रतिभाओं को उन्होंने अपने प्रदेश में एक प्लेटफार्म उपलब्ध कराना चाहिए। परंतु उनका अपना यह हिन्दी जगत इसको अपने लिए खतरा तो नहीं मानता? हिंदी को इस स्तर पर भी रोजगार की भाषा बनना होगा। अहिंदी भाषी प्रदेश को उदार बनना होगा। मुझे लगता है कि हिंदी प्रेमी या हिंदीसेवी कहने भर से अहिंदी प्रदेश के लोग अब बरगलाए नहीं जा सकते। अंग्रेजीमेवी जो हैं उसका तो कोई उपाय ही नहीं है इनके पास। मेवा खाये वह जब तक उसकी अपनी मर्जी हो। अभिजात्य अंग्रेजी स्कूलों एवं विश्वविद्यालयों के विभागों में तो हिंदी दरिद्रलक्ष्मी की तरह ही देखी जाती है। व्यापक राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी प्रदेश (या हिंदी जाति कहिए) के लोगों को अपनी उदात्त एवं हार्दिक दृष्टि का परिचय तो देना ही होगा।

❐❐❐

28 अक्तूबर, 2020

आवश्यकता, वैभव एवं फीचर्स

वर्तमान परिवेश में मोबाइल फोन, बंगला एवं कार के विषय में लोगों में गहरा आकर्षण मिलता है। महँगा मोबाइल फोन एवं आलीशान कार को वैभव का प्रतीक माना जाता है। साथ ही बंगला भी आपकी उच्च जीवनशैली का प्रतीक है। अब प्रश्न यह है कि यह तीनों चीजें दुनिया के सभी लोगों को तो प्राप्त होनी नहीं है। कुछ लोगों को ही प्राप्त होगी और वह भी अपने-अपने तरीके से होगी। यह तरीके भी दुनिया के सभी लोगों को मालूम नहीं होने दिए जाएँगे। पैसा अधिक होने से वैभव की वृद्धि तो हो सकती है, जरूरतों की नहीं। मनुष्य को तीन रोटी चाहिए तो वह तीन ही खाएगा या खा सकेगा। दस रोटी नहीं। मनुष्य को रहने के लिए एक कमरा पर्याप्त है। वह चाहकर भी एक समय में दो कमरों में नहीं रह सकता। इसी तरह से यदि वह एक स्त्री से प्रेम करके संतुष्ट है तो दूसरी स्त्री से ठीक वैसा ही प्रेम नहीं कर सकता। परंतु अधिक स्त्रियों से संबंध भी वैभव या शान का प्रतीक माना जाता है।

अब हम यह देखते हैं कि मोबाइल फोन तो केवल संवाद का काम करता है। डेढ़ हजार का जो फोन संपर्क का काम करता है, ठीक वही और वैसा ही काम पचास हजार का ऐप्पल का फोन भी करता है। परंतु फीचर्स ने फोन को वैभव का कारक बना दिया है और इसलिए वह महँगा हो गया है। अब संवाद स्थापित करना फीचर्स नहीं रहा है। ठीक वही कार के विषय में है। समझ में नहीं आता कि दस लाख की कार में और एक करोड़ की कार में ऐसा कौनसा विशेष अंतर है, जो दोनों में मूल्य की दृष्टि से परस्पर इतना बड़ा भेद उत्पन्न करता है। आखिर दोनों ही चीजें तो यात्रा करने के लिए सहायक हैं। परंतु फिर वही बात फीचर्स की। मूल आवश्यकता के पूरी होने पर भी हमें ऐसा कुछ चाहिए जिससे हम अपनी श्रेष्ठता या वैभव का प्रदर्शन कर सकें। लेकिन यह फीचर्स भी मनुष्य को संतुष्ट नहीं कर सकते। इनकी भी एक सीमा है। किसी ने एक ऐसे चित्र के साथ एक पोस्ट मुझे भेजी थी जिसमें एक मोबाइल फोन में चार कैमरे थे। मुझे याद है जब भारत में मोबाइल फोन आया तब वह केवल फोन ही था। वह गैजेट नहीं बना था। उसमें तो कैमरा भी नहीं होता था। अब चार-चार कैमरे। अब कारों में भी कॉम्पैक्ट, फेसलिफ्ट या प्रीमियम जैसे फीचर्स आने लगे हैं। घरों को भी पेंट हाउस जैसे रूप प्रदान किए जाने लगे हैं। 10 से 20 लाख में केवल आलीशान रसोईघर बनाये जाने लगे हैं। यह सब क्या है? अब अस्पतालों को भी फाइव स्टार होटलों जैसा रूप दिया जाने लगा है। अब मनुष्य अपनी मूल आवश्यकता को पूर्ण करने में सफल हो गया है। अब उसे रोटी, कपड़ा और मकान का अभाव महसूस नहीं होता। जैसे ही मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है, ठीक वहीं से उसके जीवन में वैभव और विलास का प्रवेश होता है। कुछ लोगों की दृष्टि से वैभव एवं विलास ही वास्तविक विकास या समृद्धि है। आजकल सरकारें भी ऐसा हो सोचती हैं। क्या उनका इस तरह से सोचना या मानना सही है? हम सभी ने अभी-अभी अनुभव किया है कि मृत्यु के भय से हमारा अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया था। परंतु फिर से हम फीचर्स की चाह में दौड़ने लगे हैं। मृत्यु के भय ने हमारी विलासी जीवन को भोगने की आकांक्षा को अधिक तीव्र कर दिया है। अर्थव्यवस्था को गति देने के लिए लोगों की खर्च करने की क्षमता को बढ़ाना जरूरी हो गया है। अच्छा, लोगों के तो पेट भर चुके हैं। अब वे केवल स्वाद या चखकर चीजों को फेक देंगे। जिनके जीवन की भूख और प्यास की आवश्यकता अब भी अधूरी है, वे इच्छाओं एवं सपनों के बारे में सोच भी नहीं सकते। फीचर्स से उन्हें क्या लेना देना? दीवाली आ रही है। खर्च करने वालों से उम्मीद यही है कि वह जरूरत की चीजें ही खरीदें और जरूरतमंदों से ही खरीदें।

❐❐❐

5 जनवरी, 2020

वैसे दूसरे लोग नहीं हैं

''वे कुछ बहुत बड़े इंसान नहीं हैं। हाँ, वे अपने आपको यदि ऐसा समझते हैं तो यह उनका अपना भ्रम मात्र है।'' यह दो साल पहले मुझे अपने नानाजी ने कहा था। एक बार मैं उनसे ऐसे ही मिलने गया था। अब वे 96वें वर्ष के हैं। उनकी लोगों के बारे में समझ काफी गहरी है। मैं यद्यपि उनसे कुछ ज्यादा प्यार नहीं करता। वे एक पारिवारिक सीमा के भीतर जीवन जीने वाले आम इंसान रहे हैं। इस संसार में उनके रहने न रहने से मेरे ऊपर कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता। परंतु फिर भी मैं उनकी बातों को भूला नहीं। पता नहीं किस विषय पर चर्चा हो रही थी? याद नहीं। वे यह समझते थे कि अपने साथ-साथ लोगों को आपने आसपास के लोगों की भी चिंता करनी चाहिए और ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि वे भी सही हैं और कुछ हम भी। प्रायः अपने आपको सही मानना और दूसरों को गलत या मूर्ख यह एक तरह की बीमारी है। ऐसे लोग यदि किसी कार्यालय, संस्था या परिवार के प्रमुख हैं तो वे उसे कई वर्ष पीछे लेकर चले जाते हैं।

हमारे परिचितों में या मित्र परिवार में, रिश्तों में ऐसे अनेक लोग होते हैं जिनके जीवित रहने या मर जाने से हम पर कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता। मर जाने से तो बिलकुल भी नहीं पड़ता। ऐसा लगता है कि वे जैसे थे ही नहीं। जीवित रहने से लोगों को फर्क पड़ता है, यह भी कुछ हद तक कड़वे सत्य की तरह है। लोग अपनी मृत्यु को अपनी असफलता या पराजय मानने लगे हैं। एक होड़-सी मची है। जीवित रहना जैसे एक प्रतियोगिता बन गयी है। कोई किसी से कुछ बात नहीं कर रहा है। हर तरह की प्रगति करने, दूसरे से अधिक संपत्ति कमाने, एक-दूसरे से अधिक विद्वान या श्रेष्ठ बनने की या किसी भी मामले में कुछ अधिक बढ़ जाने की होड़-सी मची है। लोग तो अपने दुःख या अभाव को भी असफलता या पराजय मानने लगे हैं। अभाव या दुःख जीवन के हिस्से हैं और इन्हें सहजता से स्वीकार करने की प्रवृत्ति हममें नहीं रही है।

एक और चीज जो मैं यह देख रहा हूँ वह यह है कि आजकल के लोगों में एक दूसरे की सहायता करने का पाखंड या ढोंग करना अधिक बढ़ गया है। यद्यपि यह भी एक समस्या ही है कि हम किसे और कैसे मदद करें। आज मैं शाम में टहलने गया था और कुछ डेढ़ मील चलकर वापस लौटा। मेरा आगे जाने का मन इसलिए नहीं हुआ कि रास्ते में मैंने देखा कि एक कुतिया बार-बार रास्ते को पार करने का प्रयास कर रही थी और उसके कुछ नन्हे ४-५ बच्चे उसके साथ थे। रास्ता इन दिनों काफी चौड़ा होने के कारण गाड़ियों की गति तेज थी। बच्चे तो नित्य माँ के साथ रहना चाहते थे। रास्ते के इस पार कुतिया, दूसरी ओर बच्चे। बच्चे रास्ते के बीच में आकर खड़े हो जाते। कुछ गाड़ियाँ रुक जाती तो कुछ गाड़ी वाले उन्हें बचाकर निकल जाते। एक शिशु तो चलते हुए मेरे पैरों से लिपट गया। रास्ते के दोनों ओर होटल या ढाबे होने के कारण वह कुतिया दोनों ओर भोजन को खोजती। यह उसकी जरूरत बच्चों के जान की जोखिम बढ़ाती थी। इन पशुओं को रास्ते की समझ नहीं है। लेकिन मैं उनकी क्या सहायता कर सकता हूँ? परिस्थितियाँ और परिवेश ही उनके वास्तविक संकट का केन्द्र बन गया है। अवश्य ही वे किसी दिन दुर्घटना के शिकार होंगे यह निश्चित है। हमारे आसपास में इन पशुओं की तरह ही अनेक लोग अपने आसपास के परिवेश के कारण ही संकटों से घिरे हैं। भोजन इन पशुओं की प्रमुख आवश्यकता है। चौड़ा रास्ता और उसके दोनों ओर होटलों का होना पशुओं का संकट है। वे कुत्ते हैं और कुत्ते की मौत मरेंगे ऐसा कहकर क्या मेरा घर लौट आना जायज है? पता नहीं। लेकिन मैं उनकी सहायता के लिए घर छोड़कर रास्ते पर निगरानी करते हुए नहीं रह सकता। इन दिनों अपने पैतृक गाँव शेदुर्नी, फिर जलगाँव और धुले में मेरा कई बार अपनी एविएटर स्कूटर से आना-जाना हुआ। पहले भी मैं स्कूटर से घूमता था। इन दिनों का मेरा निरीक्षण और अनुभव यह रहा कि हर ८-१० मील के बाद मुझे रास्ते पर कोई न कोई पशु कुचला हुआ मिला। कुत्ते, सुअर, बिल्लियाँ, नेवले, गिरगिट, भारद्वाज पक्षी और बंदर भी मुझे मरे पड़े हुए दिखे। कुछ किलोमीटर जाने के बाद रास्ते से दुर्गंध आनी ही है। रास्ते काफी चौड़े और अच्छे बन जाने के कारण गाड़ियों की आवाजाही तेज हो गयी है। पशुओं के अचानक बीच में आने से कई लोग भी दुर्घटना का शिकार हुए हैं। रास्तों के विकास के साथ-साथ पशुओं पर नियंत्रण रखने या गति पर नियंत्रण रखने के सुरक्षा उपायों से हम अभी वंचित और उदासीन ही हैं। कई ऐसी सामान्य बातें हैं जिनके विषय में हम बिलकुल गंभीर नहीं हैं। हमें प्रगति जो करनी है। हम विश्वस्तरीय शिक्षा, सड़कें और मनोरंजन के साधनों का निर्माण जो करना चाहते हैं।

❐❐❐

11 जनवरी, 2021
दैनिक कार्य और उनका सृजनात्मक पक्ष

मनुष्य के जीवन में उसके लिए प्रतिदिन ऐसा क्या हो सकता है, जिसे लिखा जा सके? मैं एक छोटे-से शहर में रहता हूँ और जब भी शहर में जाता हूँ तो कुछ समय बाद काम समाप्त होते ही तुरंत लौट आता हूँ। जब भी मेरा घर से बाहर और शहर में जाना होता है, तो किसी न किसी प्रयोजन से ही होता है। चाहे वह सब्जियाँ खरीदनी हो, राशन भरना हो, स्टेशनरी, मिठाई, कपड़े, प्लास्टिक की चीजें आदि। बैंक, डाकघर, बीमा, नगर निगम, तहसील कार्यालय आदि से संबंधित कार्य आदि हो तो ही लोगों से संपर्क होता है। महाविद्यालय में जाना और लौटना एक सामान्य दिनचर्या है और नितांत अनुभवहीन। इस क्षेत्र के लोगों से कुछ भी सीखने के लिए नहीं मिलता। इस क्षेत्र में कुछ चीजों को लेकर ही कभी विशेष उपलब्धि और संतुष्टि का अनुभव मुझे हुआ हो। ऐसा क्यों? पता नहीं। मैं कई बार ऐसे प्रसंगों को खोजने और अनुभव करने का प्रयत्न करता हूँ कि जिन्हें बाद में लिखा जा सके। चाहे वह डायरी या जर्नल के रूप में क्यों न हो। परंतु ऐसे अनुभव और क्षण पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलते। अब पिछले कुछ दिनों से मैं बाहर घूमते समय भी बहुत कुछ लिखने लायक टटोलने में सफल हो रहा हूँ। बहुत-से ऐसे प्रसंग अब मेरी दृष्टि से नहीं बचते जो मेरे लेखन का सूत्र बन सकें। लगभग एक सप्ताह पूर्व मुझे एक रेफ्रिजरेटर मैकेनिक को उसके काम के पैसे लौटाने थे। जब मैं उनकी दुकान में पहुँचा तो वे नहीं थे। मेरे फोन करने पर उन्होंने बताया कि उनके पड़ोस में जो छोटी दर्जी की दुकान है, उनके पास पैसे दे दें। मैंने इससे पूर्व कभी उस दुकान को गौर से नहीं देखा था। वह बहुत ही छोटी-सी और सँकरी जगह थी, जिसमें मुश्किल से सिलाई मशीन के साथ दो लोग बैठकर काम कर सकते थे। अंदर में जो व्यक्ति सिलाई का काम कर रहे थे, वे मुझे आयु से काफी वृद्ध प्रतीत हुए। यह आयु उनके काम करने की कतई नहीं थी। वे अपने काम में तल्लीन थे। उनके व्यक्तित्व ने मुझे प्रभावित किया। मैंने उनसे बात करने हेतु पहला प्रश्न यह किया कि बाबूजी आपकी आयु कितनी है? तो उन्होंने बताया सतहत्तर। मेरे लिए यह काफी चौंकाने वाला और हैरत से युक्त प्रसंग था। वैसे मैंने अनेक स्थानों पर वृद्धों को कार्य करते हुए देखा था, परंतु वे कार्य बैठे-बैठे दुकानदारी जैसे कुछ थे। उन कार्यों का कोई सृजनात्मक पक्ष नहीं था। इस काम में हाथ, पैर, आँख सभी कुछ व्यस्त थे और कुछ न कुछ नया बनाना था। यहाँ प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि वास्तव में काम या कार्य की सार्थक परिभाषा क्या की जा सकती है? क्या दुकान में बैठे-बैठे वस्तुओं को बेचना वास्तव में कार्य है? यानी सृजनात्मक कार्य है? मुनाफे का काम जैसे किसी वस्तु को 20 रुपये में खुदरी कीमत में खरीदकर 25, 30 या 40 रुपये में बेचना क्या वास्तविक कार्य है? इन प्रश्नों के वास्तविक उत्तर हमें खोजने होंगे, तलाशने होंगे।

जो व्यक्ति सतहत्तर की आयु में भी सृजन का कार्य कर रहे हैं, वे हमारे देश के युवकों के लिए आदर्श क्यों नहीं हैं? मैं अपने आसपास के बहुत-से युवाओं का जब निरीक्षण करता हूँ तो देखता हूँ कि वे पैसे कमाने के सरलतम रास्तों को खोज रहे हैं। जिन्हें अपने पिता या दादा से अकूत धन प्राप्त हुआ है, वे किसी सृजनशील कार्य में धन का उपयोग करने की अपेक्षा उसे अधिक बढ़ाने हेतु रियल एस्टेट के क्षेत्र में काम करने को अधिक प्राथमिकता देते हैं या बड़ी-बड़ी दुकानें या शो-रूम खोलकर वस्तुएँ बेचने को। पढ़ने-लिखने के काम को बहुत-से लोग तो समय नष्ट करना मानते हैं। मैंने ऐसे धनी परिवारों के बहुत ही कम युवकों को कभी देखा है, जो अपनी किसी निजी प्रतिभा से और बिना अपने माता-पिता की संपत्ति का सहारा लिए अपने पैरों पर अपने जीवन को खड़ा करने में सफल हुए हों। अच्छा, एक बात और यह है कि प्रायः अधिक पैसे कमाने को ही लोग जीवन की सफलता मानते हैं। ऐसी स्थिति में धन कमाने की क्रूरतम मानसिकता के स्तर पर अनेक लोगों को व्यवहार करते हुए मैंने देखा है। फटे जूते की सिलाई करने वाला उदार मोची दो-पाँच रुपये का त्याग तुरंत कर सकता है, लेकिन एक सेठ नहीं। क्या एक सेठ का पैसे बचाना या कंजूसी को उसके धनी बनाने का रहस्य माना जा सकता है? मुझे तो नहीं लगता। मानवीय मूल्यों का विकास मानवीय संबंधों के परस्पर व्यवहार के अनेक छोटे-छोटे स्तरों पर होता है। इसे प्रायः लोग नहीं समझते। एक दर्जन केले खरीदने पर वह ठेले वाला केले की पिछली पंक्ति में छिपे हुए एक सड़े हुए केले को जब हटा देता है और उसकी जगह नया अच्छा केला देता है, तो वह विश्वास एवं प्रामाणिकता के महान मूल्य का समाज में अनायास प्रसार करता है। ऐसी स्थितियों में मैंने कई ऊँचे पढ़े-लिखे और धनी लोगों को दुर्बल और उदासीन देखा है।

आजकल सृजनात्मक पद्धति से पैसे कमाने का चलन लगभग समाप्त हो गया है। बड़ी-बड़ी एजेंसियाँ लेना, कमीशन के माध्यम से पैसे जोड़ना, बैठे-बैठे फोन पर निर्देश देकर वस्तुओं को बेचना, राजनीतिक रसूख वाले लोगों से अच्छे संबंध बनाकर ठेके प्राप्त करना आदि बहुत-से ऐसे कार्य हैं, जो वास्तव में असृजनशीलता और निकम्मेपन की निशानी हैं। ऐसे कामों में ही आजकल देश के होनहार युवक अपनी प्रतिभा और ऊर्जा को नष्ट कर रहे हैं। आज अल्प समय में अधिक से अधिक धन प्राप्त करने के नए-नए क्षेत्रों का निर्माण हो रहा है। कैसे यू-ट्यूब पर कुछ वीडियो लोड करने से पैसे कमाए जा सकते हैं? मेरी बिटिया ने अपने छोटे भाई-बहनों के साथ एक वीडियो कुछ दिनों पूर्व मोबाइल पर बनाया था। यह वीडियो बच्चों की ब्यूटी कांटेस्ट की थीम पर आधारित था। उसका कहना था कि ऐसे वीडियो यू-ट्यूब पर डालने से पैसे मिलते हैं। उसे यह किसने बताया होगा? ऐसे भी पैसे कमाए जा सकते हैं, यह मेरे लिए अद्‌भुत सूचना है। मुझे आजतक पैसे कमाने के अनेक समांतर रास्तों के विषय में किसी ने कुछ नहीं बताया। प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि यदि सभी लोगों को ऐसे रास्तों का ज्ञान जब प्राप्त हो जाएगा, तब हमारे लिए खेतों में अनाज कौन उगाएगा? कपड़े कौन सिलकर देगा? खाना कौन बनाकर देगा? जूते कौन बनाएगा? क्या केवल हर हाल में पैसे कमाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य होगा? क्यों मुझे उस वृद्ध दर्जी ने इतना संवेदनशीलता से भर दिया। उसका एकांत में और निष्ठा से यह तल्लीन होकर कार्य करना मुझे क्यों महान प्रतीत हुआ? मुझे लगा कि अपने छोटे शहर में भी मेरे लिए लिखने के लिए बहुत कुछ है। इस तरह के छोटे-छोटे लोग ही वास्तव में ईश्वर के रूप हैं। वे चुपचाप, मौन धारण किए अपने जीवन का सुख भोग रहे हैं। हो सकता है वे अभावग्रस्त हों, अपने परिवार एवं समाज में सताए गए हों। पर जीवन से लोहा तो ले ही रहे हैं। संभवतः वे आखिरी साँस तक इसी तरह कार्यमग्न हों। जीवन का उद्देश्य धन कमाना, आराम करना और सोना तो नहीं है। उनके इस कार्य की योग्यता अर्थात् एलिजिबिलिटी का प्रमाण-पत्र देने हेतु किसी विश्वविद्यालय की मुझे नहीं लगता कि दूर-दूर तक कोई आवश्यकता है।

❐❐❐

16 जनवरी, 2021
चाहे कितने भी ओले पड़े

उर्दू के लोकप्रिय कवि मजरूह सुल्तानपुरी का एक शेर है - ''मैं अकेले ही चला था जानिब-ए-मंजिल मगर, लोग साथ आते गये और कारवाँ बनता गया।'' इस शेर में 'मगर' शब्द अधिक महत्वपूर्ण है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि लोग किसी व्यक्ति का कब और कौन-सी स्थिति में साथ देते हैं? उस व्यक्ति में ऐसा क्या होता है जो लोग उसके सहयोगी बनते हैं? यदि हम महात्मा गांधी, सुभाषचंद्र बोस, जयप्रकाश नारायण आदि लोकनेताओं के उदाहरण लें, तो हम यह अनुभव कर सकते हैं कि यह सभी नेता जमीन के साथ जुड़े नेता थे और इनकी कोई राजनीतिक या अन्य किसी भी तरह की कोई महत्वाकांक्षा नहीं थी। और न ही यह उनकी कोई व्यक्तिगत लड़ाई थी। यह नेता यद्यपि अपने अकेले के दम पर कुछ नहीं कर सकते थे। लोगों का सहयोग काफी महत्वपूर्ण होता है। परंतु इस शेर में कवि 'मगर' शब्द का प्रयोग क्यों करता है? क्या उसे लोगों के साथ आ जाने से आपत्ति है? या फिर प्रसन्नता है? 'कारवाँ' शब्द क्या है? इसका शब्दकोशीय अर्थ है लोगों का झुंड या समूह। भारत के इतिहास में ऐसे कई सारे प्रसंग मिलेंगे, जब लोगों ने सही व्यक्ति को सही समय पर साथ नहीं दिया। क्यों नहीं दिया? और यदि दिया तो क्यों दिया? यह दोनों प्रश्न विशेष है। क्या यह जो एक व्यक्ति के पीछे लोगों के खड़े होने या मिल जाने या कारवाँ बन जाने का युग लद गया है? ऐसी कौन-सी मंजिल है, जिसे कोई व्यक्ति अपने साथ-साथ और लोगों के लिए भी आवश्यक मानता है? संभवतः ऐसी मंजिलें या लक्ष्य नितांत वैयक्तिक नहीं होते। सामान्यतः व्यापक राष्ट्रीय एवं सामाजिक हित के प्रसंगों में लोगों को जोड़ने को किसी एक व्यक्ति की मंजिल तो नहीं कहा जा सकता है। किसी एक क्षेत्र में अधिक धन या सफलता प्राप्त करने के हेतु से प्रारंभ किये गए सफर में अन्य लोगों का आना या मिल जाना प्रायः अखरता है। यदि कोई लक्ष्य या मंजिल प्रतियोगिता के भाव से युक्त हो तो कारवाँ बनना असंभव है। अनेक स्थितियों में कारवाँ या समूह तो केवल समर्थन या विरोध के भाव से बनते हैं और अनेक बार दिशाहीन भी हो जाते हैं। यह आंदोलन का रूप तो लेते हैं, पर अराजक तत्वों के मिलावट से अपने लक्ष्य से भटक जाते हैं। कवि को संभवतः

यह कहना होगा कि लक्ष्य की ओर सर्वप्रथम उन्होंने कदम बढ़ाए और फिर लोग उनसे आकर मिलते गये। या फिर ऐसा भी कह सकते हैं कि सर्वप्रथम लक्ष्य उन्हें ही दिखायी दिया। परंतु वह 'मगर' शब्द काव्यपंक्ति में क्यों मिलाते हैं, यह शोध का विषय होना चाहिए। कई बार भाषा में लेकिन, मगर, पर, परंतु आदि शब्द भाव को परिवर्तित करने में अत्यंत सहायक होते हैं।

अच्छा, इस शेर का स्मरण मुझे लगभग एक सप्ताह पूर्व मेरे एक वरिष्ठ परिचित मित्र आदरणीय श्री नाना जोशी ने कराया, जब मैं उन्हें फोन पर अपनी कविता 'उपलब्धि' को सुना रहा था। कविता को सुनने के बाद मुझे उनके दीर्घ श्वास लेने की ध्वनि सुनायी दी। प्रतिक्रिया स्वरूप उन्होंने टिप्पणी की कि मेरी यह कविता मजरूह सुल्तानपुरी के उपरोक्त शेर के भाव के एकदम प्रतिकूल है और विचारोत्तेजक भी। श्री जोशी हिंदी भाषा एवं साहित्य के उत्तम ज्ञाता एवं रसिक हैं। सन् 2010 में उन्होंने मुझे अपने संग्रह से दिए सारिका एवं धर्मयुग के 60 से 70 के दशक के अंक आज भी मेरे पास सुरक्षित हैं। लगभग दो वर्ष पूर्व उन्होंने मुझे फोन कर यह जानना चाहा था कि वे अंक मेरे पास व्यवस्थित हैं या नहीं। तब से लेकर मेरी उनसे कभी बात नहीं हुई थी। वे जब हिंदी में बोलते हैं तो कोई भी उन्हें यह नहीं कहेगा कि वे मराठी भाषी हैं। हिंदी की ध्वनियों का स्पष्ट एवं कड़ा उच्चारण उनके व्यक्तित्व को एक विशेष गरिमा प्रदान करता है। अब वे अस्सी वर्ष के हो चुके हैं, परंतु आवाज में ठंडापन नहीं है। क्या मैं उनकी आयु में पहुँचकर इतना ही उत्साही और जानदार रह सकता हूँ? मेरी कविता के प्रति उनकी यह टिप्पणी मेरे लिए काफी महत्वपूर्ण है। आखिर मेरी इस कविता में यह भाव कहाँ से और कैसे उत्पन्न हुआ? मैं अपने जीवन की ऐसी कौन-सी भीषण स्थिति से गुजरा कि मुझे लगा कि यहाँ कारवाँ तो नहीं बना, बल्कि जो था, वह भी तरबतर हो गया।

आप कृपया यह न समझें कि अपनी इस कविता के द्वारा मैं अपने विचारों या भावों का महिमामंडन कर रहा हूँ। इस विषय में यदि आप मुझे पहले ही माफ कर दें तो अच्छा होगा। भला इसमें क्या आपत्तिजनक है कि कवि या रचनाकार अपनी रचना के विषय में स्वयं अपने मत या विचार को व्यक्त करे? स्वयं अपना आलोचक या विश्लेषक बने। अपनी चीर-फाड़ स्वयं करें। अपने ही हाथों से अपने सिर पर मुकुट रखने से अच्छा है, स्वयं नंगे सिर रहना। चाहे कितने भी ओले पड़ें। यद्यपि मैं अपनी आलोचना या प्रशंसा से अधिक प्रसन्न या दुखी नहीं होता हूँ। यदि जब मंजिल अपनी है और उसे पाने का लाभ भी जब केवल मुझे ही प्राप्त होगा, ऐसा जब लोगों को प्रतीत हो तो वे मेरा साथ क्यों देंगे? किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति का श्रेय वैसे भी एक ही व्यक्ति को मिलता है। आप महात्मा का ही उदाहरण लें। निःसंदेह वे ही महात्मा हैं। मेरे कविता संकलन 'लोग जिनकी जड़ें होती हैं' की यह कविता आपके लिए प्रस्तुत है।

यह जरूरी नहीं कि
पहले लोग आपके दुश्मन बनें
और फिर आप
अपने रास्ते पर चलें।
यह एक बहुत ही बड़ी हकीकत है
कि जैसे ही आप
अपने रास्ते पर चलने लगेंगे
लोग आपके दुश्मन बनने लगेंगे।
असल में सवाल
सही रास्ते और दुश्मनी का नहीं है
असल में यह मामला
उपलब्धि का है
यह मामला सत्य-असत्य
और धर्म-अधर्म का भी नहीं है
यह मामला तुम्हारा
उनकी उन सारी चीजों के बीच से
निहायत अलग दिखने का है।
यह मामला तुम्हारा
उनकी उन सारी चीजों से
असहमत होने का है
जो सलीके से नहीं है
जो तरीके से नहीं है
उन्होंने जो सोचा, बनाया, चलाया, मनवाया
बस उसी स्थान पर
ईश्वर को भी खड़ा कर दिया

अब जब भला आप
इस ईश्वर को भी नहीं मानते
तो लोग आपके दुश्मन बनेंगे ही
असल में जैसे ही आप
अपने रास्ते पर चलेंगे
तो वे डरेंगे ही
असल में यह मामला
आपका अपने ही रास्ते पर चलने की
उपलब्धि का है।

ऐसा होता है कि हममें से कई लोगों के रास्ते अपने-अपने विवेक और समझ के अनुसार रूप ग्रहण करते हैं। आपके रास्ते पर लोग चलें और एक हुजूम बन जाये, यह आपके उस मंजिल के सर्वोत्तम होने का मानक नहीं है। यह इतना विशाल, बहुआयामी एवं अनांकलनीय देश है कि आप इसकी सनातन संस्कृति, भाषा, परंपरा और गौरव के विरोध में भी एक कारवाँ इसी देश में खड़ा कर सकते हैं। मुझे कहना यह अभिप्रेत है कि कारवाँ बनना या बनाना अधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि न हो। सबसे बड़ी उपलब्धि है कि अपनी समझदारी एवं विवेक के बल पर कारवें के विरुद्ध कदम बढ़ाना। किसी ने कहा भी है कि मरी हुई मछली धारा के साथ बहती है, परंतु जीवित मछली ठीक धारा के विपरीत बहती है। धारा के विपरीत बहना ही जीवंतता का चिह्न है।

❐❐❐

22 जनवरी, 2021

यह संसार आपको क्या लगता है?

आपको क्या लगता है? यह दुनिया किस तरह से चल रही है? क्या रात और दिन के पैदा होने और बीत जाने से यह दुनिया आगे बढ़ रही है? क्या यह दुनिया वास्तव में स्वर्ग और नरक का मिश्रित रूप है? मुझे प्रतीत होता है कि यह दुनिया वास्तव में एक संयुक्त परिवार की तरह है। इस परिवार में सभी का स्थान एक जैसा नहीं है। बराबरी का नहीं है। समानता का नहीं है। बल्कि किसी एक या दो के आश्रय में तीसरे के जीने की संभावनाओं को पैदा करने का नाम दुनिया है। यह दुनिया अच्छे और बुरे, योग्य और अयोग्य, स्वार्थी और निःस्वार्थी, क्रूर और दयालु, सज्जन और दुर्जन सभी तरह के लोगों से मिलकर बनी है। हममें से कोई भी इस तरह से दो वर्गों में लोगों को बँटने से रोक नहीं सकता। ईश्वर भी नहीं। वस्तुतः यही इस संसार की दो स्वाभाविक जातियाँ हैं। बाकी जन्म, कर्म, धर्म के आधार पर मानव जाति का किया गया वर्गीकरण अस्वाभाविक एवं कृत्रिम है। भारत में हुए प्राचीन युद्धों का इतिहास यही कहता है कि एक ही जाति, एक ही धर्म, एक ही परिवार, एक ही समाज के भीतर जो युद्ध हुए वह वास्तव में सही और गलत तथा पाप और पुण्य, न्याय और अन्याय के द्वंद्व के परिणाम ही थे। भारत में केवल दो ही जातियाँ हैं और वह हैं सज्जन और दुर्जन अर्थात् राम और रावण। भारत की सनातन संस्कृति इसी प्रकार के दो वर्गों में विश्वास करती आई है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि पापी, दुर्जन, अन्यायी, स्वार्थी लोगों की उपस्थिति हर युग में रही है और बहुसंख्या में रही है। वर्तमान समय में भी है। परंतु राम की अनुपस्थिति पिछली कई शताब्दियों से भारत की समस्या रही है। हमें यदि अपने भीतर राम को पैदा करना है तो सर्वप्रथम त्याग के लिए तैयार रहना होगा। माता, पिता, पत्नी, राज्य, ऐश्वर्य, सुख, समृद्धि का त्याग। ऐसी स्थिति में क्या कोई मनुष्य राम बन सकता है? ठीक इसके विपरीत रावण बनना अत्यंत सरल है। तो क्या हम वर्तमान समय के सभी मनुष्यों को रावण मान लें? तो फिर राम कहाँ हैं? क्या राम आर्थिक विपन्नता, अस्थिरता, अभाव, अपमान और असुरक्षा के वातावरण में जीवनयापन कर रहा है? क्या सभी गरीब और दरिद्र लोग राम हैं और श्रीमंत एवं समृद्ध परिवारों के लोग

रावण हैं? नहीं, नहीं, ऐसा तो नहीं है। मेरी राम की व्याख्या यह है कि जो आपको प्राप्त है या प्राप्त हो सकता है, उसका भी आप प्रसन्नता से त्याग कर सकें, वही राम है। और यह त्याग केवल मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए।

आज हम अपने आसपास के परिवेश में जो संघर्ष देख रहे हैं, वह केवल प्राप्ति के विषय में है, त्याग के विषय में नहीं। लाभ की सोच वस्तुतः एक वणिक सोच है। उसका मूल्यों से कोई संबंध नहीं है। प्रतियोगिता का भाव लाभ से संबंधित है। वर्चस्व से संबंधित है। श्रेष्ठताबोध से संबंधित है। वर्तमान युग के हर क्षेत्र में यह प्रतियोगिता हावी है। मुझे यदि किसी ने कहा कि यदि आप ऐसा नहीं करेंगे तो पिछड़ जाएँगे तो फिर अनायास पिछड़ जाने के भय से मैं वह काम करने लगता हूँ, जो नहीं करना चाहिए। परंतु मैंने अपने आपको हर स्थिति में रोका। जब मैं केवल 18 वर्ष का था, तब भी मैंने स्वयं को रोक लिया और आज भी रोक रहा हूँ। परंतु आश्चर्य है कि मैं किसी का प्रतियोगी नहीं हूँ। आज भी मुझे अपने आप पर यह गर्व है कि मैंने किसी से कोई प्रतियोगिता नहीं की। क्या आपको ऐसा प्रतीत होता है कि राम-रावण का युद्ध वर्तमान क्रिकेट या हॉकी मैचों की तरह था? क्या हम किसी भी क्षेत्र में प्राप्त रेकॉर्ड सफलता को जीवनयापन का अंतिम मानदंड मान लें? वास्तव में अपने-अपने क्षेत्र एवं स्थान पर अयोग्य एवं दुष्ट लोगों से लड़ना ही वास्तविक मैच है। आपको इसे हर हाल में लड़ना है। अयोग्य व्यक्तियों के संगठन, समूह एवं राज्य हैं। इनके अपने-अपने कोश हैं। यह पहले भी थे। परंतु तब राम थे। अयोग्य लोगों की एक पहचान होती है कि वे सामने से बहुत ही सरल एवं मधुर प्रतीत होते हैं। पीछे से प्रहार करने एवं अदृश्य रहने में उनका हित होता है। रावण ने भी राम के सामने सीता का अपहरण नहीं किया। ढोंग रचकर किया।

इधर के कुछ दिनों में मुझे भी लगता है कि मैं अपने परिवेश के सही-सही अवलोकन में कुछ असहजता का अनुभव कर रहा हूँ। मुझे अपनी वर्तमान उपलब्धियों पर कुछ विशेष प्रसन्नता या अप्रसन्नता भी नहीं है। मैं यद्यपि हिंदी भाषा एवं साहित्य का अध्यापक हूँ, परंतु मेरे समक्ष ऐसी कोई विवशताएँ नहीं हैं कि मैं हिंदी को विश्व की नंबर एक की भाषा बताऊँ और भारत को नंबर एक का देश। विवशताएँ हर स्थिति में घातक होती हैं। मेरे समक्ष केवल सही और सत्य की ही चुनौती है। इससे पीछे हटना मेरे बस का नहीं है। अपनी वर्तमान स्थिति में सहज और शांत बने रहना बड़ी कसौटी है। कितने अंतर्विरोध हैं? जहाँ एवं जिधर देखो, अंतर्विरोध ही अंतर्विरोध हैं। परिवार, समाज, लोक एवं राज्य ईश्वर के भरोसे पर ही आगे बढ़ रहे हैं। हमें किसी अदृश्य शक्ति की उपस्थिति से सहमत होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो हम इतनी सरलता से पूर्वस्थिति में नहीं पहुँचते। कितना अच्छा हुआ कि शेर को सांप का विष नहीं दिया ईश्वर ने। हम सभी किसी एक वर्ष पहले के वृक्ष के समान ही कितने सुंदर, स्वस्थ एवं सकुशल हैं।

❐❐❐

3 फरवरी, 2021
शुद्ध मनुष्यों की भारी कमी दिखती है

आज मेरी बेटी का स्कूल का पहला दिन था। जबकि मैं आज घर से बाहर रहा और शाम को घर लौटा। कई दिनों से वह मुझे बता रही थी कि उसे 'D' डिवीजन में नहीं पढ़ना है। वह 'A' या 'B' डिवीजन में बैठना चाहती है। मैंने उसे कई बार समझाया कि कोई भी डिवीजन यह उत्कृष्टता का मानक नहीं है। पर वह नहीं मानी। मुझे उसके विद्यालय के प्राचार्य से अनुरोध करना पड़ा कि वे उसकी डिवीजन बदल दें। पहला ही दिन है, कहीं उस पर कुछ विपरीत प्रभाव न पड़े। प्राचार्य संभवतः बाल मनोविज्ञान से परिचित थे। उन्होंने उसकी डिवीजन पहले ही दिन 'A' कर दी। जब मैं शाम को घर लौटा तो बिटिया काफी उत्साहित थी और ऊर्जा से भरी भी। उसने बताया कि कक्षा अध्यापिका ने उसे A डिवीजन में बैठाया है। आज वह लगभग दो घंटे तक लगातार पढ़ाई करती रही। रात के लगभग साढ़े आठ बजे वह अपना होमवर्क मेरे पास ले आयी। उसमें एक अंग्रेजी शब्द का अंग्रेजी में ही उसे अर्थ याद करना था। शब्द था Civil और उसका अर्थ बताया गया था Polite एंड Well Mannered. अंग्रेजी भाषा की यह बड़ी विशेषता है कि किसी भी शब्द के अर्थ के प्रति भ्रम उत्पन्न होने की बहुत ही कम संभावना होती है। मेरे इस स्थापना से संभवतः अनेक लोग सहमत होंगे। यही कारण है कि अंग्रेजी विश्वभाषा है। संभवतः इस मामले में हमारी भाषाएँ दुर्बल हैं। परंतु काव्यशास्त्र में ध्वनि की दृष्टि से यह शब्द की विशेषता है। लक्षणा और व्यंजना को शब्द की शक्ति माना गया है, परंतु व्यावहारिक दृष्टि से यह शब्द की दुर्बलता है। इस पर क्या किसी हिंदी के विद्वान ने विचार किया है? हम अपना ही ढोल बजाते जा रहे हैं।

मैं भारतीय भाषाओं की आलोचना नहीं कर रहा हूँ। पर बात तो टाली नहीं जा सकती। अब यह जो सिविल शब्द है, यह लोकतंत्र और उच्चशिक्षा में क्या अर्थ रखता है? हमारे समाज के जो विभिन्न आयाम हैं, जैसे- राजनीति, शिक्षा, उद्योग, परिवार, बाजार, स्वास्थ्य आदि के संबंध में क्या हम वास्तव में सिविल लोगों का निर्माण कर पाए हैं? सिविल के लिए सामान्यतः 'सभ्य' इस शब्द का प्रयोग होता है और इससे सभ्यता बना है। यह मानवीय समाज का एक ऐसा मूल्य है, जिसमें अन्य कई उच्चतम मूल्यों का समावेश हो जाता है। पर हम क्या ऐसा सभ्य समाज या लोगों को निर्माण करने में सफल हुए हैं? विनम्र होने का क्या अर्थ हो सकता है क्या कोई प्रैक्टिकली मुझे समझा सकता है? नहीं तो। यह एक भारी विडंबना है। शब्दों के वास्तविक अर्थों के सफल प्रयोगीकरण के या क्रियान्वयन के मामले में हम पिछड़ चुके हैं। कुछ ज्यादा ही हम टेक्नोसेवी हो गए हैं। एक अच्छे या उत्तम मनुष्य होने की प्रतिभाएँ या कुशलताएँ धीरे-धीरे लोप होती जा रही हैं। जो शांत रहे, संयम दिखाए, अपने गलतियों या दोषों को स्वीकार कर सके, अधिक उद्दाम न बने, वाचालता से बचे, कीर्तिप्राप्ति के मोह से दूर रहे, दूसरों को नीचा न माने ऐसे सिविल लोगों की कमी दिखाई देती है। इसे आप क्या कहेंगे? हर क्षेत्र में अपना प्रभाव या वर्चस्व बनाने वाले लोगों की निर्मिति हो रही है। एक प्रतियोगिता-सी लगी है कि कौन कितना धूर्त या होशियार बन सकता है? लूटने या ठगने की होड़-सी लगी हुई है। मानो मनुष्य-मनुष्य के लिए सहायक नहीं बल्कि उपयोग की एक वस्तु मात्र है। शुद्ध मनुष्यों की भारी कमी है। कई तरह की मिलावटों से युक्त मनुष्य जहाँ-तहाँ देखे जा सकते हैं।

विद्यालयों की भूमिका छात्रों को शब्दों के व्यवस्थित अर्थों को समझाने में है। कोई विद्यालय सिविल शब्द का अर्थ प्रैक्टिकली कैसे समझा सकता है? यदि समझा सका तो सर्वश्रेष्ठ विद्यालय उसे कहना चाहिए। ऐसी स्थिति में भाषा का अध्यापन गणित और विज्ञान के अध्यापन से कठिन हो सकता है। परंतु सफल हुए तो सबसे अधिक रोचक। प्रामाणिक शब्द का प्रैक्टिकली अर्थ समझाना ही शिक्षा की सफलता है। वैसे मैं यदि प्रामाणिकता के विषय पर किसे होमवर्क लिखने या व्याख्यान देने के लिए कहूँ तो काफी सरल है, यह काम करना। परंतु अत्यंत कठिन है व्यावहारिक दृष्टि से प्रामाणिक बनाना। सच्चा, सभ्य, प्रामाणिक, सुंदर, सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम वही है, जो यह सब व्यावहारिक दृष्टि से करने में सफल हुआ हो। छात्रों को यह सब अनुभव लेने दें। यही विद्यालय और प्रधानाचार्य की भूमिका होनी चाहिए। मेरी बेटी को क्या मैं यह समझा सकता हूँ कि वह 'D' डिवीजन में पढ़कर भी बहुत कुछ उत्तम प्राप्त कर सकती है। आपके स्थान का कोई महत्व नहीं है, जब तक कि आप स्वयं अपने लिए स्थिति, स्थान एवं संभावनाओं का निर्माण नहीं करते।

❐❐❐

15 फरवरी, 2021
भद्र नागरिकों के निर्माण के कोचिंग क्लासेस क्यों नहीं हैं?

इधर के कुछ दिन बड़े ही तेजी से जीवन में आये और बीत गए। इस तरह से दिनों का खाली-खाली बीत जाना कभी-कभी बहुत ही व्यथित करता है। कुछ भी नहीं हुआ। अपने लिए कुछ नहीं कर सका। न कुछ ठीक से लिखना हुआ और न किसी अदद कविता का स्फुरण। छोटी-मोटी टिप्पणियाँ भी नहीं। अच्छा, कुछ दिनों पहले का एक मामूली प्रसंग याद आ रहा है। उस पर कुछ विषय बन सकता है, ऐसा मुझे लग रहा है। मुझे इस शहर में रहते हुए 19 वर्ष बीत चुके हैं। जिस महाविद्यालय में मैं 2001 में लेक्चरर पद पर नियुक्त हुआ, उसका महाराष्ट्र राज्य में बड़ा ही नाम है। अब जब नाम बड़ा होता है, तो जवाबदेही भी बनती है। मैं एक सप्ताह पूर्व शहर के एक दुकानदार से मिला। मुझे कुछ चीजें लेनी थी, सो ली और थोड़ी-बहुत दुनियादारी की बातें भी हुई। जब बात कॉलेज के विषय में होने लगी तो उन्होंने मुझसे कहा कि एक समय था, जब इस कॉलेज का बड़ा नाम था। मैंने उनसे पूछा कि जिस समय की आप बात कर रहे हैं, उस समय में कॉलेज की ऐसी कौन-सी उपलब्धियाँ थीं, जो उसे अन्य कॉलेजों से बड़ा या श्रेष्ठ बनाती थी? उनसे कुछ उत्तर देते नहीं बना। हम देखते हैं कि हमारे आसपास ऐसा अनेक चीजों के बारे में कहा जाता रहता है कि फलां चीज फलां समय में कुछ इतनी बड़ी, महान और सर्वोत्तम थी। लेकिन उसके आधार क्या और कैसे थे, यह कोई नहीं जानता। जब मैंने अपने वर्तमान कॉलेज के किसी समय में बड़े और सर्वोत्तम होने के मानकों का पता लगाने का प्रयत्न किया तो ज्ञात हुआ कि सत्तर और अस्सी के दशक के आसपास इस कॉलेज से एम.बी.बी.एस. (मेडिकल) में चयनित होने वाले छात्रों की संख्या सबसे अधिक थी और ठीक इसी तरह से कुछ कुछ इंजीनियरिंग में भी। यह पढ़ाई ग्रेजुएशन या पोस्ट ग्रेजुएशन की नहीं बल्कि 12वीं कक्षा की पढ़ाई थी और वह भी केवल विज्ञान की। इसका परिणाम अन्य अनुशासनों पर अत्यंत बेरहमी से हुआ, जो अब तक इससे उबर नहीं सके। सारे देश में यही हाल है। समाज की मानसिकता कुछ ऐसी बन चुकी है कि अपने बच्चों को डॉक्टर, इंजीनियर या सी.ए. बनाना ही जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि है। यह मानक कुछ ऐसा तैयार हुआ है कि इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए अनेक कृत्रिम, यांत्रिक और व्यावसायिक पद्धतियों का अवलंब होने लगा। एक आकर्षक यूटोपिया बनाया गया। बड़ी से बड़ी रकम खर्च करना उत्तम शिक्षा का परिचय चिह्न बन गया। अनेक पारंपरिक चिंतन एवं मनन प्रधान अनुशासनों का स्तर गिरता गया। कुछ दिनों पूर्व एक अभिभावक माता-पिता जब मुझे कॉलेज में मिले तो वे इसलिए दुःखी और चिंतित थे कि उन बेटे ने विज्ञान में प्रवेश नहीं लिया, आर्ट्स में लिया। मैं उन्हें क्या उत्तर दे सकता था? कॉलेजों, अध्यापकों, छात्रों के बारे में एक ऐसा मानस समाज में पिछले कई वर्षों में लगातार बनता गया है कि विज्ञान की शिक्षा ही सर्वोत्तम और बेहतर है और यह शिक्षा प्राप्त कर ही मनुष्य कुछ विशेष बन सकता है। इसके बाद वाणिज्य की शिक्षा का स्थान है और बाद में आर्ट्स की। यह आर्ट्स की शिक्षा क्या होती है? कैसे ली और दी जाती है? इसके विषय में लोगों में अनेक प्रकार के भ्रम व्याप्त हैं और ज्ञान का अभाव भी है। शिक्षा के विषय में जागरुकता का अत्यंत अभाव है। भाषा की शिक्षा के प्रति जो गंभीरता दसवीं कक्षा तक मिलती है वह 11वीं कक्षा के बाद नहीं है। हमारे यहाँ शिक्षा को पूरी तरह से रोजगार या कौशल विकास से जोड़ देने के कारण शिक्षा के प्रति लोगों की दृष्टि अत्यंत व्यावहारिक एवं भोगपरक बन चुकी है। यह कुछ हद तक ठीक भी है, परंतु पूर्णतः ठीक नहीं। इससे आप केवल मशीनी तरह से एवं लाभ की दृष्टि से काम करने वाले यांत्रिक या मजदूर ही तैयार करेंगे।

इस देश में प्रतिवर्ष कई लाख डॉक्टर एवं इंजीनियरिंग की सीटें तैयार होती हैं। देश का ऐसा कोई स्कूल नहीं होगा, जहाँ से अभी तक कोई एक भी छात्र डॉक्टर या इंजीनियर न बना हो। इस तरह से डॉक्टर या इंजीनियर बनाने की फैक्टरी के रूप में ही स्कूलों या कॉलेजों का चरित्र बनना या बनाना और उनका इस तरह से सर्वश्रेष्ठ या बड़ा बन जाना मेरी दृष्टि में आपत्तिजनक है। भाषा, साहित्य, इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र आदि शाखाओं में विशेषज्ञों, लेखकों, विद्वानों, चिंतकों, साहित्यकारों के निर्माण में भी स्कूलों, कॉलेजों की स्तरीयता की पहचान बनानी चाहिए। यदि मुझे किसी एक कॉलेज या स्कूल से यह प्रश्न पूछना पड़े कि पिछले 30-40 वर्षों में कितने लेखक या साहित्यकारों के निर्माण में उसका और उसके अध्यापकों का योगदान रहा है, तो क्या उत्तर होगा उनके पास? कितने प्रामाणिक और भद्र नागरिकों के निर्माण में उसकी भूमिका रही है, तो क्या उत्तर देंगे वे? लेखक, कवि, साहित्यकार, पत्रकार और

भद्र नागरिकों के निर्माण के कोई कोचिंग क्लासेस होते हैं क्या? यह एक बहुत ही बुनियादी प्रश्न है, जो हमारी शिक्षाव्यवस्था के समक्ष उपस्थित है। हमें ऐसी शिक्षाव्यवस्था का सृजन करना होगा, जो रोजगार और संस्कार के बीच संतुलन रख सखे और इनमें से किसी एक दिशा में केवल जाने से लोगों को रोक सके। मुझे यह पता नहीं है कि मैं आपके सामने इस विषय को ठीक से रख पाया भी हूँ या नहीं। शिक्षा प्राप्ति को केवल धन या अत्यधिक धन कमाने या प्रतिष्ठाप्राप्ति की दृष्टि से देखना योग्य नहीं है। यदि कोई समाज या समाज का बड़ा या उच्च वर्ग इस दृष्टि से शिक्षा को देखता है, तो वह भविष्य में एक अराजक शिक्षा व्यवस्था को जन्म देगा। देश-विदेश में उच्चशिक्षा प्राप्ति के लिए ऋण देने की सरकारी योजनाएँ भी समर्थनीय नहीं हैं। यदि इसके लिए छात्रवृत्तियों में वृद्धि की जाए, तो एक स्वस्थ कदम हो सकता है। शिक्षा में नितांत व्यावसायिकता को लाना या उसे एक उद्योग के रूप में संचालित करना अत्यंत घातक है। इसके दुष्परिणाम तो दिखाई देने ही लगे हैं।

❐❐❐

8 मार्च, 2021

प्रिय आलोचक मेरे

बहुसंख्यक लोगों की राय और विचारों से सहमत होकर चलना अत्यंत सरल होता है। वे यदि किसी वस्तु, व्यक्ति या पदार्थ की निंदा करें, तो आप भी करें। वे यदि उसकी प्रशंसा करें, तो आप भी करें। अत्यंत कठिन होता है, उनसे असहमत होकर अपने विवेक से निंदा या प्रशंसा का चुनाव करना। लोकतंत्र में आजकल बहुसंख्यक लोकसमूह से सहमत होकर चलना राजनीति का प्रमुख आधार बन गया है। किसी न किसी बड़े समूह का पक्षधर आपको होना ही पड़ेगा, नहीं तो आपकी राजनीतिक स्थिति अस्थिर हो जाएगी। यह स्थिति अब राजनीति ही नहीं बल्कि देश की हर छोटी-बड़ी संस्थाओं एवं सत्ता केन्द्रों की हो गयी है। आप एक व्यक्ति के रूप में तब तक ही लोकप्रिय माने जाएँगे जब तक कि आप एक बहुसंख्यक लोकसमूह के प्रतिनिधि, हितचिंतक या मसीहा के रूप में अपने आपको पेश नहीं करते। भले ही उस लोकसमूह का आधार कोई विचारधारा हो या कोई निजी स्वार्थसिद्धि।

मुझे कहना यह है कि अपनी प्रशंसा होना या अपने किसी विचार से दूसरे का सहमत होना सभी को प्रिय लगता है। ऐसा व्यक्ति दुर्लभ ही होगा जिसे अपना आलोचक प्रिय लगता हो या अपने विचारों से असहमत होने वाला। पिछले कुछ दिनों में मुझसे मेरे कुछ भूतपूर्व छात्र मिले या कुछ ने मुझसे फोन पर बातें की। यह सभी छात्र मुझसे बाते करते हुए मुझे मेरे प्रशंसक अधिक प्रतीत हुए। यद्यपि यह उनकी सीमाएँ हैं। अपने अध्यापक के प्रति आदर या सम्मान का भाव होना स्वाभाविक है। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि आपको अपने गुरू में कुछ दोष या दुर्बलताएँ दिखाई भी दे, तब भी छात्र को उनकी प्रशंसा या सम्मान ही करना चाहिए। यद्यपि मेरा मित्र समूह अधिक बड़ा नहीं है। फिर भी जब कभी किसी सामान्य उपलब्धि को लेकर यदि कोई मित्र मेरी अधिक एवं अस्वाभाविक प्रशंसा करता है, तो मैं असहज होने लगता हूँ। सामान्य एवं स्वाभाविक जीवन स्तर पर अपने को स्थिर रखना काफी कठिन होता है। मनुष्य कितना भी बड़ा बने या महान, उसे व्यावहारिक स्तर पर सामान्य बने रहते आना चाहिए। पिछले दिनों औरंगाबाद शहर के भारतीय प्रशासनिक सेवा के एक युवा अधिकारी को अपनी

पत्नी के साथ साप्ताहिक मंडी में सब्जियाँ आदि खरीदने और सामान की बोरियों को अपने कंधे पर उठाए रखने के चित्र काफी वायरल हुए थे और उनकी काफी प्रशंसा भी हुई और कहानी समाप्त हो गयी। अब उनकी कोई प्रशंसा नहीं हो रही है। प्रशंसा एक शब्दछल है। इसे आप वाणी का भूषण भी कह सकते हैं। कुछ लोग प्रशंसा करने में अत्यंत निपुण होते हैं। संभवतः वे जब तक किसी की प्रशंसा न करें तब तक उन्हें खाना हजम न हो। इस तरह से प्रशंसा करने के अभ्यस्त लोग निंदा भी तत्काल करने लगते हैं। प्रशंसा करने की कला वस्तुतः एक व्यवहार कौशल है। यद्यपि मुझे व्यक्तिगत स्तर पर की गयी प्रशंसा कुछ असामान्य-सी लगती है, मेरे प्रशंसक भी बहुत कम हैं, क्योंकि वे स्वाभाविक प्रशंसक हैं। एक बार मुझे अपनी पत्नी ने बताया कि देखो तो, आपके इस फलाना मित्र के आपसे भी ज्यादा मित्र हैं, इस नगर में उनके अनेक परिचित हैं। मैंने उससे कहा - ''यह मेरे जो मेरे मित्र हैं, संभवतः लोकमनोविज्ञान के विशेषज्ञ हैं। वे जानते हैं कि लोगों को कैसे जोड़ना चाहिए। मैं इस कला में निपुण नहीं हूँ।'' अच्छा, मुझे होना भी नहीं है। फिर मुझे क्या चाहिए? अपने लिए जैसे सुयोग्य लोगों की मुझे तलाश है, वे मुझे कहाँ और कैसे मिलेंगे? ''मुझे अपने लिए स्वाभाविक प्रशंसक एवं आलोचकों की आवश्यकता है।'' क्या मैं ऐसा विज्ञापन दे दूँ? अब यह दोनों भी प्रजातियाँ नष्ट होने की कगार पर हैं। लगभग हर क्षेत्र में इनकी उपस्थिति नदारद हो गयी है। प्रशंसक ऐसा कि जो आलोचक भी हो एवं आलोचक ऐसा कि जो प्रशंसक भी हो। वह आलोचना ऐसी करे कि मेरी वर्तमान अवस्था में सुधार हो और प्रशंसा ऐसी करे कि मुझमें घमंड या श्रेष्ठताबोध उत्पन्न न हो... कहाँ हो प्रिय आलोचक मेरे?

आजकल जिन लोगों को मैं प्रशंसक या आलोचकों के रूप में यत्र-तत्र अनुभव करता हूँ, चाहे वे दूसरों के ही आलोचक-प्रशंसक क्यों न हों। वे मुझे वस्तुतः निंदक या चापलूस ही अधिक प्रतीत होते हैं। इस तरह की प्रशंसा वस्तुतः ठगने की एक कला है। मैंने देखा है कि अनेक साहित्यकार जो लोकप्रियता के भूखे या लोभी हैं, इस मामले में सरलता से ठगे जाते हैं। वस्तुतः प्रशंसा की कामना एक लोभ है। आप इस लोभ में पड़े तो समझ लीजिए कि शीघ्र ही ठगे जाएँगे। मुर्गियाँ इसलिए पाली जाती हैं कि वह अंडे देती हैं। आप जब तक अंडे देने में समर्थ हैं, तब तक आपको प्रशंसकों की कोई कमी नहीं होगी। मैं तो हिंदी के अकादमिक जगत से जुड़ा व्यक्ति हूँ। जब तक आप किसी ओहदे पर नहीं हैं, किसी स्थापित पत्रिका के संपादक नहीं हैं, किसी विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष, कुलपति, कुलाधिपति नहीं हैं, किसी अकादमिक संस्था के निदेशक नहीं हैं, बड़े सरकारी अधिकारी नहीं हैं, तो आपका बड़ा प्रशंसक वर्ग भी नहीं है। इस तरह से आप एक मामूली इंसान हैं। कम से कम किसी रसूखदार व्यक्ति, मंत्री के साथ तो आपकी नित्य बैठक होनी ही चाहिए या फिर वह आपका रिश्तेदार या लंगोटिया मित्र होना चाहिए। नहीं है तो आप अभी से इस तैयारी में लग जाइये। स्वाभाविक मित्र, प्रशंसक या आलोचक आपको मिलने से रहे। आप इसकी तलाश में भी लगना चाहें तो लगे रहें। आपकी मर्जी। इसका दूसरा पक्ष यह भी है कि आप तब तक किसी के कृपापात्र नहीं हो सकते जब तक कि आप स्वयं इस तथाकथित प्रशंसकों या आलोचकों की जमात में शामिल न हो जायें। आपको रबड़ी खानी भी है और खिलानी भी है।

चमचागिरी की इस प्रतियोगिता में आप तब सफल नहीं होंगे, जब तक आप किसी भी तरह से अपने प्रतियोगी चमचों को पछाड़ने में सफल नहीं होंगे। आजकल यह जमात पूरी तैयारी के साथ मैदान में उतरी है। इन प्रशंसकों-आलोचकों के बड़े-बड़े मठ विकसित हो चुके हैं और इनमें प्रखर आक्रामकता है। अनेक लोभी एवं लंपट लोकप्रियता के अभिलाषी इनके शिकार हो रहे हैं और होंगे। मैंने अपना रास्ता चुन लिया है। कुछ जल्दी ही मैंने अपने इस रास्ते का चुनाव कर लिया है। अब मुझ पर अपनी प्रशंसा या निंदा का कोई फर्क या प्रभाव नहीं पड़ता। यदि पड़ने लगा तो मैं पड़ने नहीं दूँगा। यदि कोई प्रभाव पड़ा भी तो सम्यक आलोचना का पड़ेगा। कवि, लेखक या साहित्यकार परमेश्वर नहीं है। आलोचक, निंदक या प्रशंसक भी परमेश्वर नहीं हैं। कोई भी परमेश्वर नहीं है। परमेश्वर या अमर होने की आकांक्षा या लोभ का संवरण करने में जो जल्दी सफल हो जाए, उसका जीवन सार्थक है। अंत में फिर से यही कहूँगा - ''कहाँ हो आलोचक मेरे?''

❐❐❐

9 मार्च, 2021
साहित्य, साहित्यकार एवं साहित्य का ध्येय

साहित्य के क्षेत्र में विधिवत 'साहित्य के अध्यापक' के रूप में प्रवेश कर मुझे लगभग 22 वर्ष बीत चुके हैं। इस लंबे कालखंड में मैं अभी-अभी कुछ लिखने लगा हूँ। यह लिखना पूरी तरह से अंतः स्फुरित है। जब कुछ विचार स्फुरित होने लगते हैं या कुछ अनुभव शब्दों में कोई आकार ग्रहण करने लगते हैं, तो एक अजीब-सी बेचैनी होने लगती है। मैं किसी भी तरह से अपने आपको कथात्मक स्तर पर कुछ भी लिखने से असमर्थ एवं अक्षम अनुभव करता हूँ। दूसरी ओर वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक लिखने की प्रतिभा भी मुझमें नहीं है। अतः मैं कोई कहानीकार या उपन्यासकार बनने से रहा। मैं कुछ कथेतर किस्म का एवं अकलात्मक गद्य लिखने में ही अपने आपको सहज पाता हूँ। मेरे इस तरह से लिखने की आधारभूमि भी यथार्थ एवं वास्तविकता से जुड़े प्रसंग एवं अनुभव ही होंगे। कल्पनात्मक लिखने या वास्तविकता को कल्पना या कला में घुला-मिलाकर लिखने का कौशल मुझमें अभी तक उत्पन्न नहीं हुआ। मैंने अनेक उपन्यास एवं कहानियाँ पढ़ी हैं और उनका आनंद भी प्राप्त किया है, फिर भी अकल्पनात्मक गद्य में ही मेरी रुचि अधिक है। मेरी कविताओं की विषयवस्तु भी अधिकांश यथार्थ एवं भुक्तभोगी प्रसंग ही रहे हैं। अब मैं जब अपनी रचनाप्रक्रिया के विषय में यह सब लिख रहा हूँ तो इससे अभिप्रेत यह है कि मैं यथार्थ, वास्तविक एवं तथ्यनिष्ठ विषयों का साहित्य में अधिक आग्रह रखता हूँ। दूसरी बात मुझे यह भी कहनी है कि साहित्यकार को अपना जीवन, जीवन के आदर्श और जीवन के प्रति ईमानदारी को अपने साहित्य सर्जना में उतारना चाहिए। अपने जीवन के आदर्श एवं साहित्य सर्जना में यदि विरोधभास है तो वह साहित्यकार समाज को बड़ा धोखा दे रहा होता है। उसे गुमराह कर रहा होता है। उसकी रचनाओं को पढ़ने वाले ठगे जाएँगे या फिर उसके द्वारा प्रस्तुत जीवनदर्शन को खोखला पाकर हतोत्साहित होंगे। असफल होकर आत्महत्या भी कर सकते हैं। जबकि यह साहित्यकार स्वयं सभा-समारोहों का सितारा बन, विमान के टिकटों से मुफ्त में देश-विदेश में यात्रा करता हुआ, कई प्रकार के पुरस्कारों से पुरस्कृत होता हुआ सरकारी धन पर मौजमस्ती कर रहा होता है। पाठक तो उसे एक दिव्य, अद्‌भुत एवं अद्वितीय मनुष्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में इस साहित्यकार की आँखों पर अपने यश एवं कीर्ति की धुंध छाई हुई होती है। वह अपनी किसी भी तरह की आलोचना को स्वाभाविक रूप से स्वीकार करने में समर्थ नहीं होता। उसके अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं होती। इस प्रकार साहित्य का एक लंबा कालखंड उसके प्रभाव क्षेत्र में आ जाता है और तुरंत किसी नए परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में एक ठहराव-सा आ जाता है।

साहित्य को अधिकांश यथार्थवादी होना ही चाहिए। गोल-गोल बातें करने वाला साहित्यकार कुछ भी काम का नहीं है, भले ही वह प्रथितयश क्यों न हो। यद्यपि मैं अब तक अपने कार्यकाल में किसी बड़े साहित्यकार से नहीं मिला हूँ। कुछ प्रथम दर्जे के साहित्यकारों एवं आलोचकों से मेरी फोन पर अवश्य बातें हुई पर मुझे उनसे मिलने की इच्छा नहीं हुई। इनमें से कई प्राध्यापकीय वर्ग से संबंधित थे। इसके बाद के दर्जे के साहित्यकारों से भी मैं मिला तो इनमें मैंने अहं की मात्रा को लगभग न के बराबर पाया। इन दो वर्ग के साहित्यकारों में कुछ ऐसे भी थे, जो अपने वास्तविक जीवन में डरपोक किस्म के थे और प्रायः समझौतावादी प्रवृत्ति के थे। यद्यपि उन्होंने अपनी रचनाओं में क्रांति, संघर्ष और स्वाभिमान की बातें की। मुक्तिबोध ने अपनी 'एक साहित्यिक की डायरी' में एक स्थल पर लिखा है, ''आज के साहित्यकार का आयुष्य-क्रम क्या है? विद्यार्जन, डिग्री और इसी बीच साहित्यिक प्रयास, विवाह, घर, सोफासेट, एरिस्टोक्रेटीक लिविंग, महानों से व्यक्तिगत संपर्क, श्रेष्ठ प्रकाशकों द्वारा अपनी पुस्तकों का प्रकाशन, सरकारी पुरस्कार अथवा ऐसी ही कोई विशेष उपलब्धि; और चालीसवें वर्ष के आसपास अमरीका या रूस जाने की तैयारी; किसी व्यक्ति या संस्था की सहायता से अपनी कृतियों का अंग्रेजी या रूसी में अनुवाद; किसी बड़े भारी सेठ के यहाँ या सरकार के यहाँ ऊँचे किस्म की नौकरी!'' यह मुक्तिबोध ने ऐसे ही नहीं लिखा है। संभवतः वे अपने समय में भी इस तरह के जुगाड़पसंद, व्यवहार चतुर एवं अवसरवादी साहित्यिक वर्ग से परिचित हों। वे आगे लिखते हैं कि, ''अब मुझे बताइए कि यह वर्ग क्या तो यथार्थवाद प्रस्तुत करेगा और क्या आदर्शवाद?''

मुक्तिबोध के इस वक्तव्य के द्वारा मुझे यह कहना अभिप्रेत है कि साहित्यकार को केवल अपनी रचना ही नहीं बल्कि आचरण के द्वारा भी एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करते आना चाहिए। अब वह रामायण या महाभारत या

रामचरितमानस जैसी रचना नहीं लिख सकता कि जिसकी घर-घर में लोग पूजा करें। अब उसे छोटी-छोटी और कारगर बाते ही करनी हैं, जो लोगों को अपने निजी जीवनसंघर्ष में सहायता या आत्मबल प्रदान कर सके। मुक्तिबोध साहित्यकार की भूमिका पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए लिखते हैं कि, ''यह नहीं कि आज का कथा साहित्य अयथार्थवादी है अथवा यथार्थ विरोधी है। बल्कि यह है कि लेखक यथार्थ के नाम पर, अनुभूत यथार्थ (अपने जीवन के वास्तविक यथार्थ) से दूर निकलकर, किसी और के यथार्थ से कहानियाँ और उपन्यास गढ़ना चाहता है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि हमारे लेखक के पास प्रतिभा नहीं है। बल्कि यह कहना चाहता हूँ कि उसमें सोशल कांशियस - मानवीय अंतरात्मा - मानवीय विवेक-चेतना की हलचल मचाने वाली पीड़ा नहीं है, क्योंकि वह जरूरत से ज्यादा समझदार हो गया है और समझदारी का यह तकाजा है कि जिस दुनिया में हम रहते हैं, उससे हम समझौता करें।''

अर्थात् स्पष्ट है कि वर्तमान में ज्यादातर साहित्यकार या आलोचक समझौतावादी एवं अवसरवादी किस्म के हैं। वे किसी से भी टकरा नहीं रहे हैं। घायल नहीं हो रहे हैं। नैतिक नहीं बन रहे हैं। इसलिए किसी भी साहित्यकार या आलोचक को उसकी साहित्यिक एवं आलोचकीय ईमानदारी की पड़ताल करने के पश्चात् ही उसे लोकस्वीकृति दें। साहित्यकार और उसकी रचना को अंदर-बाहर से परखें। साहित्यकार भी अपनी रचना की विषयवस्तु को अंदर-बाहर से परखकर ही प्रस्तुत करे। यह जो परखना, देखना, जाँचना, टटोलना है, इसकी प्रक्रिया के विषय में अज्ञेय ने 'शेषा' में लिखा है, ''बाहर से भी देखा जा सकता है जरूर, और उस देखने की उपयोगिता भी है। पर केवल बाहर से ही देखना है, तो साहित्य की जरूरत क्या है? वह काम तो सभी विज्ञान अधिक कुशलता से और अधिक व्यवस्थित ढंग से कर सकते हैं। साहित्य भीतर से देखता है। साहित्यकार देखने के लिए भीतर घुसता है; वह यथार्थ का भी आभ्यंतरीकरण कर देता है, जिससे कि वह उसकी पकड़ में आ सके और सच्चाई से आ सके। . ..आपत्ति हो सकती है कि ''भीतर से कैसे देखा जा सकता है? देखने के लिए क्या बाहर आना जरूरी न होगा?'' आपत्ति संगत भी है। पर उसका जवाब भी है। भीतर से देखने वाले साहित्यकार के लिए बाहर आना जरूरी नहीं है, क्योंकि वह असल में दो काम कर रहा होता है। वह यथार्थ को भीतर से देख रहे होने के साथ-साथ इस देखने वाले को भी बाहर से देख रहा होता है। इसी में साहित्य का जादू है कि वह वस्तु को भीतर से देखता हुआ साथ ही देखने वाले को भी बाहर से देखता रहता है; इसी से उसका देखना परीक्षित, प्रमाणपुष्ट, वेरिफिएड भी होता है और सब तक पहुँचने वाला, सबकी प्रतीति पाने वाला भी होता है - सर्वजन सम्प्रेष्य, सर्वजन प्रतीत्य...''

अज्ञेय ने यह एक बड़ी ऊँची बात कही है। मैं भी उसी का समर्थक हूँ। साहित्यसेवी होना ही इसका वास्तविक मर्म है। मुझे जो कुछ भी लिखना है वह लिखते समय अपने को भी बाहर से देखते हुए लिखते जाना है। क्या यह सब मुझसे संभव होगा? मैं कथनभंगिमाओं की सुदूर विलक्षणताओं की प्राप्ति की खोज में नहीं लगना चाहता हूँ और न अद्वितीय प्रतिभा प्राप्ति हेतु कोई तपस्या करना चाहता हूँ। जो जैसा देख रहा हूँ, अनुभव कर रहा हूँ और उसका आभ्यंतरीकरण करने में यदि मैं सफल हो रहा हूँ तो क्यों न लिखूँ? इति।

❐❐❐

11.03.2021 (महाशिवरात्रि)
राष्ट्रीय धन और हम सब का दायित्व

आजकल सामान्यतः मैं कभी-कभी अपने आप से यह प्रश्न करता हूँ कि मेरे देश के पास आज कितना धन संचित होगा? यानी रुपये, सोने एवं विदेशी मुद्रा के रूप में, और इस संचित धन का देश के विकास हेतु उपयोग में लाना किसकी जिम्मेदारी है? तो उत्तर मिलता है कि जो वर्तमान सरकार है, उसके विभिन्न खातों, विभागों के मंत्री, लोकप्रतिनिधि एवं अधिकारीगण इसका निर्णय करेंगे कि देश का यह धन कहाँ और कैसे खर्च करना है? इस संबंध में वे लोगों की सुविधाओं एवं आवश्यकताओं को अधिक प्राथमिकता देंगे। संभवतः वे चाहें तो संबंधित क्षेत्र के लोगों की राय भी ले सकते हैं कि उनकी सुविधाओं हेतु किसी कार्य या परियोजना को करें या न करें। पर मुझे लगता है कि इस संबंध में सफलतापूर्वक कार्य करने की कोई व्यवस्थित व्यवस्था सरकार के पास नहीं है। पिछले कई वर्षों से मैं अपने नगर में सरकारी धन से पूर्ण हो चुके कार्यों एवं परियोजनाओं का जब निरीक्षण कर रहा हूँ तो पा रहा हूँ कि सरकारी धन का अपव्यय हुआ है। कई ऐसे काम हुए हैं जिनका जनसुविधा की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। कई ऐसे काम नहीं हुए जिनकी नितांत आवश्यकता है। आज प्रातः मुझे एक अंत्येष्टि में सहभाग हेतु नगर की एक सुदूर श्मशानभूमि में जाना पड़ा। मैंने देखा कि वहाँ का निर्माण काफी आधुनिक तरीके से हुआ है और न्यूनतम एक-दो करोड़ के बीच निश्चित ही सरकारी धन खर्च हुआ होगा। शवों के दाह संस्कार हेतु जो तीन कंक्रीट के छतरीनुमा खुले घर निर्मित हैं, उनकी रचना एवं स्थापत्य काफी आकर्षक है एवं वहाँ वर्षा से बचाव का भी काफी ध्यान रखा गया है। इस निर्माण से मुझे कोई आपत्ति नहीं है। दूसरी ओर शोकाकुल परिजनों एवं नागरिकों के लिए ऊँचा सीढ़ीनुमा और रंगमंच के प्रेक्षागृह की तरह बैठक-स्थान बना है। उसके नीचे और बाहर रास्ते की ओर खुलने वाली जगह पर कुछ कार्यालय, स्टोअर्स आदि बनाए गए हैं। मैंने अवलोकन किया कि एक तो लोगों के बैठने के स्थानों पर धूल बैठी है, कुत्तों एवं अन्य पशुओं से स्थान गंदे हो चुके हैं। परिसर में लोगों के कटे बाल बिखरे हुए हैं। दरवाजे एवं शटर्स टूटे पड़े हैं। कोई रख-रखाव ही नहीं है। महँगे टाइल्स एवं ग्रेनाइट का इस निर्माण में जो प्रयोग किया गया है, उसका औचित्य एवं उपयोगिता के आगे प्रश्नचिन्ह खड़ा हुआ है। क्या कोई व्यक्ति 20-25 फीट ऊपर चढ़कर बैठ सकता है? क्यों? किसलिए यह सब? मुझे प्रतीत हुआ कि आवारा, जुआरी एवं शराबी लोगों के लिए ही वर्तमान में इसका उपयोग हो रहा होगा। अच्छा, जल की कोई व्यवस्था नहीं। मृतक के परिजनों को बाल्टी लेकर नदी में उतरना पड़ा और वहाँ से जल भरकर लाना पड़ा। पिछले दिनों जब सपारिवारिक यात्रा में मुझे राज्य के कुछ रिसॉर्ट्स में ठहरने का लाभ प्राप्त हुआ तो मैंने अनुभव किया कि वे रिसॉर्ट्स इस श्मशान भूमि के निर्माण में खर्च हुए कुल धन के मात्र एक चौथाई धन में ही बने होंगे। हम अपने घर में अपने परिवार की सुविधाओं एवं आवश्यकताओं हेतु जो धन खर्च करते हैं, क्या उसमें हम यह ध्यान नहीं रखते कि धन का सदुपयोग हो। फिर सरकारी धन के खर्च के बारे में उदासीनता क्यों? दूरदृष्टि का अभाव क्यों? ऐसे कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। जब घर में कोई वस्तु अनावश्यक रूप से खरीदी जाती है, तो बड़ा दुःख होता है। भारत आज भी एक गरीब देश है और इस तरह से देश के धन का निरर्थक खर्च होना, सरकारी परियोजनाओं में धन के व्यवस्थित प्रबंधन का कोई ब्लूप्रिंट न होना, राष्ट्रीय धन के सुरक्षा के प्रति आस्था का अभाव होना, इसके लिए पाकिस्तान, अमेरिका या चीन तो जिम्मेदार नहीं है। सरकारी परियोजनाओं में सांठ-गाँठ से गड़बड़ियाँ कर धन को लूटना भी राष्ट्रीय अपराध है। इसमें किसी एक धर्म, जाति, समाज या वर्ग को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। देश के लोगों को आनुवांशिक रूप से ईमानदार होना पड़ेगा। कमीशनखोरी, ठेकेदारी, रिश्वतखोरी जैसे अवगुणों का निजी स्तर पर धिक्कार करने का जोखिम उठाना होगा। आप समझे ना, निजी स्तर पर।

एक और बात, कई दिनों से मैं देश के विद्वानों, राष्ट्रवादियों, परंपरावादियों एवं संस्कृति चिन्तकों से यह सुनते आ रहा हूँ कि भारत ने कभी किसी दूसरे देश पर पहले होकर आक्रमण नहीं किया। अब मैं उनसे प्रश्न पूछता हूँ कि लोकतांत्रिक भारत देश अस्तित्व में ही कब आया? आज के तरह की भारत देश की संरचना क्या पहले कभी अस्तित्व में थी? आज जो भारत के पास सेना है, वैसी पहले कभी थी? भारत जब अनेक राज्यों, प्रांतों, प्रदेशों और उनके अपने-अपने शासकों का एक बिखरा हुआ विशाल भू-प्रदेश था, तब भारत की जो एक सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय संरचना एवं प्रतिमा का निर्माण हुआ, वह युद्धों से नहीं हुआ, बल्कि त्याग, संयम, न्याय एवं समानता के आग्रह को लेकर हुआ।

भारतीय लोकतंत्र यह यूरोपीय लोकतंत्र की कॉपी नहीं है। उसके अपने स्वनिर्मित मूल्य एवं आदर्श हैं। जब कोई भी भारत की अस्मिता को छेड़ेगा, उसका अपमान करेगा तो भारत आक्रमण करेगा। यह पाठ हमें प्रभु श्रीराम ने सिखाया है। अयोध्या तो भारत का एक छोटा-सा राज्य था, फिर केवल उसके राजा ही भारत के नायक क्यों बने? अन्य राजा या शासक क्यों नहीं? जब लंकाधिपति ने सीता का अपहरण किया तो राम ने लंका पर आक्रमण किया और राम का यह आदर्श वर्तमान एवं भविष्य के शासकों भी लेना चाहिए। भारत के पारंपरिक एवं ऐतिहासिक चरित्र से यह छेड़छाड़ किसने की? भारत के चरित्र के विषय में इस तरह की मनगढ़ंत एवं मिथ्या अवधारणा का मैं निषेध करता हूँ। सत्य, न्याय एवं धर्म की रक्षा को लेकर अपनों से ही युद्ध करने का नाम ही महाभारत है। अस्तु।

❐❐❐

11.03.2021

महामारी का विज्ञान, भ्रम, प्रशासन और हम

भारत की जनसंख्या वर्तमान में लगभग 135 करोड़ के आसपास स्वीकार की जा सकती है। यह एक विशाल जनसंख्या एवं भिन्न-भिन्न जातियों, जनजातियों, धर्मों, संप्रदायों एवं विचार धाराओं के लोगों का देश है। ऐसे देश में उच्च स्तर एवं गुणवत्ता से युक्त स्वास्थ्य, शिक्षा, कानून, न्याय, सुरक्षा आदि से संबंधित सुविधाओं को केवल सरकारी मशीनरी के बल पर प्रदान नहीं कराया जा सकता, जब तक कि जनता के सभी वर्गों की सक्रिय एवं प्रामाणिक भागीदारी न हो। यदि मिट्टी में खराबी या कीड़े होंगे, तो वे अच्छी फसल को पैदा नहीं होने देंगे। किसी भी देश की जनता उस देश के लिए मिट्टी की तरह है और फसल के रूप में हम डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, नेता, वकील, व्यापारी, पुलिसकर्मी, अधिकारी वर्गों को ले सकते हैं। इस संबंध में महात्मा गांधी की पुस्तक 'हिंद स्वराज' को पढ़ना चाहिए, जो अधिक उपयुक्त होगा। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' को भी पढ़ना चाहिए। पिछले वर्ष देश में कोरोना महामारी का प्रकोप बढ़ना प्रारंभ हुआ और इस महामारी से बचाव के लिए केन्द्र की मोदी सरकार ने कुछ कड़े कदम उठाये, जिनमें से एक लॉकडाउन या तालाबंदी है। अब जब लगभग एक वर्ष बीतने में है, तो अनेक लोग मोदी सरकार के इस संबंध में किये गए उपाय-योजनाओं की समीक्षा करते नजर आ रहे हैं। कुछ लोकसमूह पहले से मोदी सरकार के खानदानी निंदक रहे हैं और उसके प्रत्येक कार्य की निंदा एवं बुराई करते रहे हैं। उन्हें तो मोदी सरकार में कुछ भी अच्छा दिखाई ही नहीं देता। जो लोकसमूह मोदी सरकार का पहले से समर्थक एवं हितचिंतक है, वह तो उनके प्रत्येक कार्य, निर्णय एवं उपलब्धियों का प्रशंसक रहा है, उसे मोदी सरकार के कामकाज में कोई भी कमी, दोष या दुर्बलताएँ दिखाई ही नहीं देती। यह दोनों भी लोकसमूह, उनके विचार एवं निष्कर्ष अधिक पारदर्शक नहीं कहलाये जा सकते। ऐसी स्थिति में तीसरे वर्ग की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। पर वह तीसरा वर्ग है कहाँ? इस तीसरे वर्ग का कोई भी प्रतिनिधित्व करता दिखाई नहीं दे रहा है। पहले भी नहीं था। जनतंत्र में सत्तापक्ष एवं विपक्ष जब प्रामाणिक न हो और एक-दूसरे के शत्रु एवं निंदक मात्र हों, तब एक तीसरे मोर्चे की आवश्यकता

होती है, जो निष्पक्ष हो। इस तरह से निष्पक्ष लोग समाज से जब तक उत्पन्न नहीं होंगे और अपना मोर्चा नहीं बनाएँगे, अपनी सशक्त उपस्थिति से सत्तापक्ष एवं विपक्ष पर जब तक दबाव बनाकर नहीं रखेंगे, तब तक जनता का एकतरफा ही भला होगा या नुकसान।

मुझे यह कहना है कि जब सारे विश्वभर में कोरोना का प्रकोप बढ़ना प्रारंभ हुआ, तब विभिन्न देशों की सरकारों ने इससे बचाव में जो सर्वप्रथम कदम उठाए, उनमें तालाबंदी एक समान कदम था। केवल एकमात्र मोदी सरकार ने यह कड़ा निर्णय नहीं लिया, बल्कि सभी यूरोपीय एवं एशियाई देशों ने तालाबंदी को लगाया एवं उसे जायज भी मान रहे हैं। कुछ लोगों का यह कहना है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन ने कोरोना से बचाव के लिए यह निर्देश कभी नहीं दिए थे, कि लॉकडाउन किया जाए। WHO का कहना था कि कोरोना का संसर्ग परस्पर मिलने-जुलने, स्पर्श करने, साँसों के द्वारा हो सकता है। अतः लोग एकत्र न हों और इस तरह अपना बचाव करें। अतः तत्काल कानून एवं प्रशासन की भूमिका को महत्व दिया जाने लगा और वे हरकत में आए। अंग्रेजों द्वारा बनाये गए महामारी प्रतिबंधक कानून को अमल में लाना प्रारंभ हुआ और इस तरह सभी तालाबंदी से परिचित हुए। पहले हम इस तरह की तालाबंदी से अपरिचित थे। कुछ मेरे जैसे एकांत पसंद लोग ही संभवतः एक-दो दिनों के बाद कभी घर से बाहर निकलते हों या पढ़ने-लिखने में स्वयं को व्यस्त रखते हों। अपने शक्ति प्रदर्शन के लिए आपका कोई बड़ा मित्र परिवार होना बहुत ही जरूरी है, नहीं तो आप एक तुच्छ प्राणी हैं, जिसे कोई नहीं पहचानता। मिलने-जुलने से मित्र-सूची में वृद्धि होती है। अच्छा, तो इसे तालाबंदी कहते हैं, यह मुझे ज्ञात हुआ। अब जब तालाबंदी लगी तो चारों ओर भय, आशंका, चिंता एवं असुरक्षा का वातावरण पैदा हुआ। क्या भारतीय लोकमत इस तरह की तालाबंदी के अनुकूल जीवन-शैली का अभ्यस्त था? यह तो एक अनुशासनहीन समाज है। इस समाज में परस्पर विश्वास का अभाव भी देखने को मिलता है। छोटी-छोटी बातों पर यहाँ लोग एक-दूसरे से झूठ बोलते हैं, धोखा देते हैं, ठगते हैं, गुमराह करते हैं, कमीशन एवं रिश्वत लेते हैं, विवशता का फायदा उठाते हैं। यह परस्पर विश्वास का अभाव जनता एवं प्रशासन के बीच में भी है। इसलिए तालाबंदी से घोर अविश्वसनीयता का वातावरण पैदा हुआ। लोग जरूरी चीजों का संग्रह करने लगे। चाहे किसी दूसरे को न मिले। सरकारी तंत्र तो कुछ इस तरह हरकत में आया कि जैसे जनता भेड़-बकरी हो। तालाबंदी ने हमें अपने असली चेहरे पर लगे मुखौटे को उतारने में मदद की। हमने डॉक्टर, पुलिस आदि की भूमिका को भी गौर से देखा और समझा भी। मुझे एक असहाय व्यक्ति ने कहा कि कुछ पुरानी शत्रुता के कारण उसके दबंग पड़ोसी और उसके बेटों ने जब उसे और उसकी पत्नी को मारा-पीटा और वे उसकी शिकायत करने पुलिस थाने में रिपोर्ट लिखवाने गए तो पुलिस ने यह कहकर लौटा दिया कि तालाबंदी है। उल्टे ही घर से बाहर निकलने पर आप पर ही कारवाई की जाएगी। अभी कुछ दिनों पहले यह समाचार एक स्थानीय अखबार में छपा कि कोरोना काल में एक व्यक्ति के 10-12 वर्ष के बेटे की कुछ लोगों ने मिलकर हत्या की, जिसे वे नरबलि कह रहे थे। जब वे शिकायत दर्ज कराने पहुँचे तो कई दिन और घंटों तक पुलिस ने उन्हें बैठाए रखा। इधर डॉक्टरों ने कई जरूरी मामलों में रोगियों को देखने से मना किया और अपने अस्पताल और दवाखाने बंद रखे। कोरोना बीमारी के बारे में मीडिया में कई भ्रमित करने वाले समाचार प्रसारित किए गए, जो वास्तविकता से कोसों दूर थे। कई ऐसे कोरोना के कार्टून टाइप वीडियो बने, जिसमें कोरोना का मुकुटधारी जंतु आपके दरवाजे के बाहर खड़ा है और आपकी घर से बाहर निकलने की प्रतीक्षा कर रहा कि कब आपसे चिपकू और आपको कोरोना हो। भय, भ्रम और झूठ का मनगढ़ंत वातावरण। लोगों में छुआछूत का भाव बढ़ने लगा। मास्क नामक एक नए उत्पाद से लोगों को परिचित कराया गया, जो अब भी जारी है। कुछ मेडिसनल मास्क का जोरों से धंधा हुआ और बाद में कहा गया कि यह कोरोना से बचाव में असफल है और हानिकारक भी है। कुछ भी स्पष्ट एवं विश्वसनीय नहीं था। कोरोना की कोई सुस्पष्ट वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की गयी। नरसिंह अवतार की तरह उसके स्वरूप, उपस्थिति एवं अस्तित्व को अस्थिर एवं अनाकलनीय ही रखा गया। यद्यपि तालाबंदी जरूरी ही थी, तो उसे कुछ सलीके से लागू करने लायक विशेषज्ञों की सक्रियता को भी हमें टटोलना चाहिए था। फिर वही बात कि बिल्ली के गले में घंटा कौन बाँधेगा? कोई नहीं। सभी लोग कुछ ऐसे निर्णय को लागू करने के पक्ष में थे, कि चित भी मेरी और पट भी मेरी।

अब रही शिक्षा की बात कि अब कैसे पढ़ाएँ और कैसी परीक्षा लें? फिर ऑनलाइन कक्षा का दौर प्रारंभ हुआ। भला हो उस वैज्ञानिक का जिसने इंटरनेट, कम्प्यूटर एवं मोबाइल का आविष्कार किया। पर गरीबी, अज्ञान, अशिक्षा एवं भूख

का हल विज्ञान के पास तो नहीं है। जो निजी स्कूल के प्रबंधक थे, उन्हें गरीबी एवं लोगों की भुखमरी की चिंता नहीं हो रही थी, बल्कि अशिक्षा एवं अज्ञान की अधिक हो रही थी। वे किसी भी हालत में बच्चों की पढ़ाई को जारी रखना चाहते थे। पता नहीं क्यों? कई छात्र तो इस आशा में अध्ययन-अध्यापन से अपने को विमुख कर बैठे थे कि बिना परीक्षा के ही वे पास कर दिए जाएँगे। सरकार ने इस विषय में कोई रोडमैप प्रस्तुत नहीं किया। उच्चशिक्षाजगत में वेबिनारों की बाढ़-सी आयी। इस बाढ़ में तैरने एवं गोते खाने का मोह सभी को हुआ। क्या इस बारे में हर स्तर पर सरकार जिम्मेदार है? हमारा कोई नैतिक दायित्व नहीं है कि हम क्या करें और क्या ना करें? सरकार के जो निंदक हैं, वे अर्थव्यवस्था में गिरावट आना, बेरोजगारी बढ़ना, जी०डी०पी० का कमजोर होना, ऐसे विषयों पर ही सरकार की असफलता पर मर्सिया गा रहे हैं। कोई अपने अंदर भी तो झाँककर देखे। सरकार की कुछ असफलताएँ हो सकती हैं, पर हम अपने-अपने स्तर पर भी कुछ कम दोषी नहीं हैं। कोरोना की महामारी को अनेक लोगों ने लाभ एवं अवसर की दृष्टि से देखा है। शेयर बाजार एवं सोने के भाव को ऊपर चढ़ाया गया। जरूरी चीजों को महँगा किया गया। कोरोना रोगियों के इलाज में उल्टी-सीधी दवाइयों का इस्तेमाल हुआ। इस बीमारी में वैज्ञानिक एवं वस्तुनिष्ठ इलाज का आभाव प्रखरता से देखा गया। नए-नए काढ़ों का सृजन हुआ। क्या-क्या नहीं हुआ और हो रहा है? ऐसा लगता है कि हम कभी नहीं चेतेंगे और आगे भी ऐसा ही होता रहेगा।

❐❐❐

16.03.2021

अच्छे-बुरे के विवेक से युक्त शिक्षा-प्रणाली

हिंदी में 1934 में एक अद्वितीय उपन्यास का प्रकाशन हुआ। उपन्यास का नाम है- 'चित्रलेखा' और उपन्यासकार है भगवतीचरण वर्मा। इस उपन्यास का केन्द्र मनुष्य जीवन की अनादि काल से अनसुलझी समस्या 'पाप और पुण्य क्या है?' इसका पता लगाना है। उपन्यास के प्रारंभ में महाप्रभु रत्नाम्बर से उनका शिष्य श्वेतांक यह जानना चाहता है कि पाप क्या है? गुरू रत्नाम्बर को अपनी विद्वत्ता का अहं नहीं है। वे अपने शिष्यों से विनम्रतापूर्वक कहते हैं- ''हाँ, पाप की परिभाषा करने की मैंने भी कई बार चेष्टा की, पर सदा असफल रहा हूँ। पाप क्या है और उसका निवास कहाँ है; यह एक बड़ी कठिन समस्या है... अनुभव के सागर में उतरने के बाद भी जिस समस्या को नहीं हल कर सका हूँ, उसे किस प्रकार तुम्हें समझा दूँ?'' यहाँ महाप्रभु रत्नाम्बर ने एक श्रेष्ठ गुरू का आदर्श प्रस्तुत किया है। पाप का पता लगाने के लिए वे अपने दोनों शिष्यों को एक परियोजना पर कार्य करने के लिए भेजते हैं, जो एक वर्ष की है। पाप का पता लगाना हो तो तुम्हें इसे संसार में ढूँढना पड़ेगा। अतः वे श्वेतांक को बीजगुप्त के यहाँ और विशालदेव को कुमारगिरि के सान्निध्य में रहकर पाप का पता लगाने के लिए भेजते हैं। श्वेतांक को बीजगुप्त से सौंपते हुए वे कहते हैं - ''अच्छा! मैं जाता हूँ - मेरा एक काम पूरा हो गया। और श्वेतांक, यह याद रखना कि बीजगुप्त तुम्हारे प्रभु हैं और तुम इनके सेवक। इस वैभव को भोगो और फिर पाप का पता लगाने का प्रयत्न करो। अच्छा और बुरा, यह सब तुम्हारे सामने आएगा; पर इस कसौटी पर ध्यान रखना कि अच्छी वस्तु वही है, जो तुम्हारे वास्ते अच्छी होने के साथ ही दूसरों के वास्ते भी अच्छी हो। और बीजगुप्त! तुमसे केवल यही कहना है कि श्वेतांक के दोषों को क्षमा करना, यह अभी अबोध ही है, संसार में यह अभी पदार्पण ही कर रहा है।'' अंग्रेजी में जिसे 'बिटवीन द लाइन्स' कहा जाता है, उसकी खोज यहाँ अनिवार्य है। इसे 'हाइड इन द लाइन्स' कहना अधिक बेहतर होगा। एक तो यह कि स्कूलों-कॉलेजों के द्वारा हमें संसार का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए हमें संसार के अनुभव सागर में उतरना ही पड़ेगा। परंतु कम से कम हमें संसार की तमाम चीजों की अच्छी-बुरी

अवधारणाओं से अवगत होना पड़ेगा और यह कार्य केवल स्कूलों या कॉलेजों के द्वारा ही कराया जा सकता है, जहाँ महाप्रभु रत्नाम्बर जैसा गुरूजन वर्ग हो। गुरू का परिचय यह है कि उसे अपने प्राप्त ज्ञान का घमंड न हो और न अपने ज्ञान से लोगों को आतंकित करने वाला स्वभाव। शिष्य का गुण यही है कि अध्यापन के समय उसमें सदा सेवकभाव एवं विनम्रता बनी रहे। यह भाव दोनों में भी विद्यमान है, अतः उपन्यास का प्रारंभ जिज्ञासा एवं कौतूहल में वृद्धि करता है।

अच्छा, मुझे इस संबंध में यह कहना अभिप्रेत है कि गुरू रत्नाम्बर ने श्वेतांक को सतर्क करते हुए यह कहा कि, "इस कसौटी पर ध्यान रखना कि अच्छी वस्तु वही है, जो तुम्हारे वास्ते अच्छी होने के साथ ही दूसरों के वास्ते भी अच्छी हो।" यह किसी वस्तु के अच्छी होने यानी निरुपद्रवी होने की (उपयोगी होने की नहीं) सबसे उत्तम परिभाषा है। इस परिभाषा को आप किसी वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति, विचार, नीति, कानून आदि किसी पर भी लागू कर सकते हैं और अंततः उसका निर्णय कर सकते हैं कि वह अच्छी है या बुरी। इस तरह से आप उस सार्वभौमिक व्याख्या को जन्म देते हैं, जो संतुलित होने के साथ-साथ एक लंबे विवाद को खत्म करने में भी सहायक हो सकती है। आज के जमाने में तो यह देखा जाता है कि जो चीज हमारे हित में है, यानी हमारे लिए उपयोगी साबित हो सकती है, वह अच्छी मानी जाती है और जो हित में नहीं उसे बुरा माना जाता है। इसे अवसरवादिता कहते हैं। अपने लाभ के या फायदे के कसौटी पर हम चीजों को अच्छे-बुरे वर्ग में डालते हैं और यहीं से हमारे जीवन में संकट एवं समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। हम यह भूल जाते हैं कि समय के अनुसार अच्छी और बुरी चीजें अपने वास्तविक स्वरूप में अवश्य प्रकट होती ही हैं। हम उन्हें अल्प समय के लिए अपने वास्तविक स्वरूप में आने से भले ही रोकें और अपनी विजय पर गर्व करें, पर यह सब तात्कालिक होता है। वर्तमान लोकसमाज पर बाजारवादी मूल्यों का गहरा प्रभाव है। बाहर की चमक-दमक, आकर्षण, शोभा एवं सुंदरता, प्रदर्शनप्रियता के कारण चीजों के वास्तविक स्वरूप को जानना-समझना कठिन ही नहीं, लगभग असंभव बनता जा रहा है। ऐसी स्थिति में हम कैसे जानें कि कोई चीज हमारे लिए अच्छी है या बुरी? ऐसी स्थिति में किसी भी कृत्य या कर्म का पाप एवं पुण्य के बीच न्यायोचित वर्गीकरण करना क्या संभव है? हमें इस संदर्भ में अपनी न्यायव्यवस्था कितनी सहायता कर सकती है? यह संसार द्वंद्वात्मक भावों एवं वस्तुओं से क्यों निर्मित है? ऐसे ही अनेक प्रश्न उपस्थित हो सकते हैं। यह प्रश्न अनंतकाल से ऋषियों-मुनियों, दार्शनिकों, चिंतकों के जीवन-लक्ष्य का आधार रहे हैं। एक छुरी या चाकू जहाँ फल और सब्जियों को काटने में सहायक है, वह किसी का गला रेतने में भी सहायक है। ऐसी स्थिति में अच्छे-बुरे का निर्णय सत्य, धर्म, न्याय एवं विवेक के बल पर ही हो सकता है। इस तरह धर्माचरण, न्यायाचरण एवं सत्याचरण की शिक्षा से बालक को बाल्यकाल में परिचित कराना आवश्यक है, जब तक कि वह अबोध है। अबोध होना बालक या शिष्य की प्रथम योग्यता है और उनके इस अबोध गुण के प्रति गुरू में सम्मान एवं आस्था का भाव होना भी उतना ही आवश्यक है। अध्ययन एवं अध्यापन (छात्र एवं अध्यापक) इन दोनों स्तरों पर धूर्त एवं निर्बोध किस्म के लोगों की संख्या ही अधिक होने के कारण शिक्षाव्यवस्था पर कई प्रश्नचिह्न लग जाते हैं। शिक्षा प्रणाली को भी दुनियादारी का ही एक भाग समझ लेने की हमारी इस भूल से हमें जल्दी ही परिचित हो जाना चाहिए। एजुकेशन बिजनेस, व्यापार एवं रोजगार पैदा करने का माध्यम नहीं है। कम से कम स्कूली शिक्षा को तो बिजनेस या उद्योग के दायरे से बाहर रखना नितांत आवश्यक है।

❐❐❐

15.04.2021

भय, वेदना, चिंता एवं धैर्य : कोरोना से मेरा युद्ध

मित्रों, कुबेरायण की 11वीं किश्त मैंने 13 मार्च को एवं 12वीं किश्त 16 मार्च को लिखी एवं पोस्ट की थी। इस बीच मैं कोरोना से संक्रमित हो चुका हूँ, इसका न मुझे कोई ज्ञान हुआ और न अनुमान। मुझे वे सभी क्षण एवं बचाव के सामान्य प्रयास याद हैं। 13 मार्च को रात में मैंने अच्छी तरह से भोजन किया और अपने बेडरूम में सोने पहुँचा। तब लगभग 10 बज चुके थे। सोने से पूर्व मुझे अपने पैरों को ठंडे पानी से धोने की आदत है। जैसे ही मैंने पैर धोए, संपूर्ण शरीर में हरारत महसूस हुई। मैं कुछ क्षण ठंड से काँपता रहा। मुझे लगा कि यह तो बुखार है। मैंने तुरंत फेब्रेक्स प्लस ली और सो गया। दूसरे दिन मुझे प्रातः अच्छा तो लगा, परंतु कुछ गड़बड़ हुई है, इसका अंदाजा भी हुआ। 14 तारीख की मध्यरात्रि में मुझे और बुखार चढ़ गया। मैंने दवाइयाँ ली पर कुछ विशेष प्रभाव नहीं हुआ। यद्यपि मेरा भोजन अब भी सामान्य था। 15 मार्च को प्रातः 10 बजे ही मैं जब अपने फैमिली डॉक्टर के पास पहुँचा, तब मुझे बुखार 102 डिग्री था। डॉक्टर ने मुझे तुरंत दो आई०वी० लगवाई और कुछ इंजेक्शन भी दिए। दवाइयाँ लिखकर दी और रक्त से कुछ परीक्षण करवाने के लिए कहा। रक्त के परीक्षण रिपोर्ट मंगलवार को मिले, जिसमें सबकुछ सामान्य था। मंगल को दिनभर मुझे बुखार नहीं था, परंतु रात में और चढ़ गया। अब बुखार के इस तरह से आँख मिचौली करने में चार दिन बीत चुके थे। बुधवार को शाम में डॉक्टर ने फिर से दो आई०वी० और कुछ इंजेक्शन दिए, परंतु बुखार कम नहीं हुआ। अब तो सारे शरीर में वेदना होने लगी। भोजन पर कुछ प्रभाव पड़ने लगा। मैं गुरूवार को पुनश्च डॉक्टर से मिला, तब उन्होंने कोरोना के संक्रमण की आशंका जतायी और मुझे तुरंत RTPCR करने को कहा। प्रातः 11:30 बजे किसी लैब से एक युवक घर पहुँचा और उसने मेरे नाक एवं गले से स्वैब के कुछ नमूने लिए और कहा कि वह रिपोर्ट डॉक्टर को सीधे देगा। डॉक्टर की सलाह के अनुसार अब मुझे रिपोर्ट की प्रतीक्षा करनी थी, जो मुझे दूसरे दिन मिलने वाले थे। इस बीच डॉक्टर ने मुझे कोई भी दवाई नहीं दी कि जिससे मैं संक्रमण पर कुछ अंकुश रख सकूं या उसके प्रभाव को कुछ नियंत्रण में रख सकूं। क्या वे ऐसा कर नहीं सकते थे?

वे यदि तुरंत मिलने वाली एंटीजन टेस्ट की सलाह देते तो कुछ किया जा सकता था। शुक्रवार को शाम में 7 बजे मेरी कोरोना संक्रमण की पुष्टि हुई। रिपोर्ट पॉजिटिव होने की स्थिति में तुरंत HRCT करना आवश्यक था। सी०टी० स्कैन केन्द्र की जगह काफी भीड़ थी। रात में 9 बजे मेरा सी०टी० स्कैन हुआ, जिसकी रिपोर्ट मुझे 2 घंटे बाद मिलने वाली थी। मैं अब स्वयं को कुछ अधिक अस्वस्थ अनुभव करने लगा था। स्कैन मशीन में जब मुझे साँस फुलाने के लिए कहा गया तो जोर से खांसी आयी। किसी तरह से मैंने साँस रोककर रखी। इसी बीच एक प्राध्यापक जलगाँव से मुझे बार-बार फोन कर रहे थे। मैंने तीन बार फोन नहीं उठाया तो उन्हें कुछ तो समझना चाहिए था? काम तो कुछ ऐसा गंभीर नहीं था। विवश होकर मैंने लैब से बाहर आने पर फोन लिया और उन्हें अपनी परिस्थिति से अवगत कराया। आजतक उनका मुझे कोई फोन नहीं है। कैसे लोग होते हैं?

20 मार्च को प्रातः 10 बजे मैं HRCT रिपोर्ट लेने एवं अस्पताल में भर्ती होने की तैयारी के साथ अपनी स्कूटर से घर से बाहर निकला। कालोनी से कुछ मित्र और पड़ोसी स्त्रियों ने मुझे अस्पताल में भर्ती होने से रोकना चाहा। वे सभी डर चुके थे और मानते थे कि अस्पताल से सुरक्षित लौटकर आना मुश्किल है। यह उनका अज्ञान ही था। मुझे तो हर हाल में अस्पताल में भर्ती होने की आवश्यकता थी, क्योंकि बुखार मेरी वास्तविक समस्या थी, जो कम नहीं हुआ था। निर्णय मुझे अकेले को लेना था और इसका जिम्मेदार भी मैं ही था। रात में मैंने अपनी सारी बीमा पॉलिसियों एवं निवेश के विवरणों का कागज ड्रावर में रख दिया था और पत्नी नीता को बता दिया था कि आगे क्या करना है। उसे मैंने विचलित न होने एवं हर स्थिति में धैर्य से काम लेने की सलाह दी। 10 बजे पत्नी से मैंने यह कहा कि वह अपनी स्कूटर से सीधे फैमिली डॉक्टर की क्लीनिक में पहुँचे, तब तक HRCT रिपोर्ट के साथ मैं भी पहुँचता हूँ। रिपोर्ट में मुझे न्यूमोनिया की पुष्टि हुई थी और स्कोर 8 बताया गया था। एक व्यक्ति ने मेरी रिपोर्ट देखते हुए कहा कि स्कोर अधिक नहीं है। पता नहीं लोग अकारण क्यों सलाह देते हैं? और संक्रमण को हल्के में लेते हैं। मैंने उसके कहे को अनसुना किया और सीधे डॉक्टर के पास पहुँचा। उन्होंने मुझे तुरंत भर्ती होने की सलाह दी और शहर के एक कोविड केन्द्र के डॉक्टर से मेरे लिए बेड उपलब्ध कराने का अनुरोध किया। उस अस्पताल में तुरंत बेड उपलब्ध नहीं था। डॉक्टर ने आश्वासन दिया कि दोपहर तक बेड मिल जाएगा। उन्होंने सौ० नीता और बच्चों की भी कोरोना टेस्ट करवाने

को कहा और तुरंत नीता को दो इंजेक्शन दिए। तब तक मैं भर्ती होने निकल चुका था। जब मैं कोविड अस्पताल पहुँचा तो मेरे लिए अस्पताल का दृश्य काफी गंभीर एवं चिंताजनक था। कमरों के अतिरिक्त गैलरी, बरामदा, लॉबी सभी जगह बेड लग चुके थे और अनेक रोगी सो चुके थे या कराह रहे थे। कोई बेड खाली नहीं था। नीचे मेडिकल स्टोर्स में एक युवक ने डॉक्टर से बात करके मुझे एक-दो घंटे प्रतीक्षा करने की सलाह दी। एक महिला ने काफी देर बाद एक रजिस्टर में मेरा नाम दर्ज कराया, जो कि बेड मिलने के वरीयता क्रम का रजिस्टर था। डॉक्टर 2 बजे पहुँचे और राउंड पर लग गए। एक युवक ने मुझे कहा कि अब डॉक्टर जिन रोगियों को डिस्चार्ज करेंगे, वहाँ आपको बेड मिलेगा। सर्वप्रथम 3 बजे मैं अपनी अस्वस्थ स्थिति में डॉक्टर से उनके कक्ष में मिला और परिस्थिति से अवगत कराया। लगभग 03:30 बजे मुझे डॉक्टर ने एक ओ-2 बेड उपलब्ध कराया। बेड मिलने पर मुझे एक विशेष प्रकार की सुखद अनुभूति हुई। 11 बजे से 3 बजे तक एक अस्थायी बेड पर लेटा और डॉक्टर की बेचैनी से प्रतीक्षा करता मैं किस तरह तड़पता रहा इसे शब्दबद्ध करना मुश्किल है। मेरे घर में फर्नीचर का कार्य करने वाले सोमा मिस्तरी मुझे अस्पताल तक छोड़ने तो आये थे, कुछ समय ठहरकर मेरी अनुमति लेकर चले गए। मैं उनके प्रति कृतज्ञ ही हूँ कि लगभग दो घंटे वे मेरे साथ रहे।

मैं अपने जीवन में पहली बार एक लंबे मेडिकल ट्रायल से गुजर रहा था। अस्पताल की यह सारी प्रक्रिया एवं अनुभव मेरे लिए नए एवं अप्रत्याशित थे। बेड पर लेटने एवं उपचार के प्रारंभ होने तक का समय असहनीय वेदना से भरा था। मैं शीघ्र ही इस शारीरिक वेदना से मुक्त होना चाहता था। अब यह बुखार वैसा नहीं रहा था जो 13 एवं 14 मार्च का था। शरीर के कोने-कोने में एक अजीब-सी ऐंठन, जकड़ाव, खिंचाव को मैं अनुभव कर रहा था। नर्स ने एक फाइल दी जिसमें लाइन ऑफ ट्रीटमेंट से जुड़े कुछ कागज नत्थी थे। उन्होंने मुझे तुरंत दवाईयाँ लाने को कहा। उसी समय मुझे बहन का फोन आया कि उसके कोई क्लासमेट के रिश्तेदार मुझे दवाइयाँ उपलब्ध कराएँगे। वह जलगाँव के मेडिकल विक्रेता एसोसिएशन की सदस्य होने के कारण यह सेवा मुझे उपलब्ध हुई। मेरे द्वारा बाहर से दवाइयाँ खरीदने पर अस्पताल के निजी मेडिकल स्टोर्स के विक्रेता नाराज हो गए और मुझे कहने लगे कि आपको बेड उपलब्ध कराने में हमने सहायता की और आप हमारे उपकार के प्रति कृतघ्न हो गए? मैंने उन्हें समझाया कि जहाँ से मेरे लिए दवाइयाँ आ रही हैं, वे मेरे मित्र हैं और वे अपनी स्वेच्छा से दवाइयाँ दे रहे हैं। मैं उन्हें मनाही नहीं कर सकता और क्यों करूँ? इसी समय मेरे मित्र एवं परिचित मेडिकल के मालिक वहाँ पहुँचे और मुझे देख हैरान हो गए। उन्होंने मुझे आश्वस्त कराया कि वे पूरी दवाइयाँ पहुँचाएँगे। शाम में सात बजे दवाइयाँ पहुँची और 07:30 बजे मुझे पहली आई०वी० और रेमदेसीवीर का इंजेक्शन लगाया गया। जिस समय मुझे दवाइयाँ लगनी प्रारंभ हुईं, तब एक विशेष प्रकार की सुखद अनुभूति हुई, जो अब तक जीवन में कभी नहीं हुई थी। मैंने मध्यरात्रि में किसी समय यह अनुभव किया कि मेरे शरीर में अब वह बुखार और वेदना नहीं है।

अब यह उपचार की सुनिश्चित प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी। रक्त को पतला करने के लिए प्रतिदिन पेट में दो इंजेक्शन दिए जाने लगे। अन्य इंजेक्शन अलग से। नाश्ता, दोपहर और रात के भोजन के बाद अलग-अलग तरह की कई सारी दवाइयाँ निगलना शुरू हुई। लेटने में और करवट लेने में एक विशेष प्रकार की वेदना एवं कठिनाई अनुभव होने लगी, जो पहले मुझे कभी नहीं होती थी। यह सब फेफड़ों में संक्रमण का परिणाम था। हर दो दिन बाद रक्त के द्वारा अनेक प्रकार के परीक्षण होने लगे, जिसमें रक्तचाप, शुगर, CRP, CREAT, DE-DIMER आदि प्रमुख थे। मैं इस आशा के साथ अत्यंत उत्साह से दवाइयाँ ले रहा था और परीक्षण कर रहा था कि मुझे शीघ्र ही स्वस्थ होना है और घर लौटना है। डॉक्टर दिन में केवल एक बार मिलते थे। नर्सें भी अत्यंत समय पर उपचार की प्रक्रिया को निभा रही थी। यद्यपि उन पर काम का बोझ कुछ अधिक ही था। रोगियों की तुलना में संख्या में वे कुछ कम ही थीं। प्रारंभ के तीन-चार दिन तो मुझे खाना भी कड़वा लगता था। क्या खाएँ, यह बड़ी समस्या थी। टिफिन खोलते ही एक कड़वी-सी असहनीय गंध भूख को मार देती थी। परंतु ऐसी स्थिति में भोजन करना उतना ही आवश्यक था, जितना कि दवाइयाँ लेना। मैं कह नहीं सकता कि मैं किन हालातों से गुजर रहा था।

जिस दिन मैं अस्पताल भर्ती हुआ, उसी दिन मैंने अपने कालोनी के एक मित्र से फोन किया कि वे मेरी पत्नी और बच्चों का तुरंत कोरोना टेस्ट करवाएँ। मुझे वास्तव में अपने साथ घर के सदस्यों की भी चिंता सता रही थी। वे मेरे कोरोना संक्रमित होने के साथ ही मेरे निकट थे। मैं किसी भी तरह उनकी सुरक्षा के प्रति कोई जोखिम नहीं लेना चाहता था। सौभाग्य से कालोनी में सरकारी

अस्पताल के एक डॉक्टर किराए से रहने आये थे। उनसे संपर्क होने पर उन्होंने तुरंत मेरे परिवार का एंटीजन टेस्ट कराया, जिसमें पत्नी और बच्चे संक्रमित पाए गए। मेरे मित्र द्वारा मुझे यह सूचित करने पर मैंने उन्हें कहा कि वे तुरंत नीता का सी०टी० स्कैन कराएँ। 20 तारीख को ही नीता की HRCT रिपोर्ट का स्कोर शून्य आया। इसे मुझ पर परमेश्वर की कृपा ही कहा जा सकता है। डॉक्टर ने सभी का उपचार घर पर ही किया। वे सभी पाँच-छह दिन में स्वस्थ हो गए। इधर मेरी जंग जारी रही। 27 तारीख को प्रातः पहली बार मुझे अपने शरीर में अत्यंत उत्साह एवं उमंग की अनुभूति हुई। रक्त परीक्षण में मेरे CRP और DI-DIMER यह दो परीक्षण सामान्य पाए गए। मेरे लिए दूसरी सकारात्मक चीज यह रही कि मेरा ऑक्सीजन लेवल कभी 95 से कम नहीं हुआ। यदि ऐसा होता कि मेरा ऑक्सीजन लेवल 90 या 85 से कम हो रहा है, तो क्या होता? मुझे इसकी कल्पना करने से ही कंपकंपी होती है। भय महसूस होता है। मेरे वे मित्र आज भी वेंटीलेटर पर जीवन-मृत्यु के बीच संघर्ष कर रहे हैं, जो नीता को सी०टी० स्कैन कराने ले गए थे। उन्होंने 27 मार्च को अपना सी०टी० स्कैन कराया तो स्कोर 10 आया था। उन्होंने इस स्कोर के प्रति शंका उपस्थित की और दूसरी जगह पुनश्च स्कैन कराया, जहाँ स्कोर 5 बताया गया। उन्हें यह लगा कि यह सब एक ढकोसला है। वे यदि उसी समय अस्पताल भर्ती हो जाते तो आज इस नाजुक स्थिति में संभवतः वे नहीं पहुँचते। मैं परमेश्वर से यह प्रार्थना करता हूँ कि उन्हें भी यथाशीघ्र स्वस्थ करे। 28 को मुझे अस्पताल से डिस्चार्ज मिला और मैं रात में अपनी ही स्कूटर से घर लौटा। बिटिया ने आँगन में मेरे स्वस्थ होकर लौटने की खुशी में रंगोली बनायी थी। मुझे तुरंत ऊपर के अपने बेडरूम में क्वारनटाइन होना था। मैं कोरोना से नहीं बल्कि अपनी मृत्यु से लड़कर वापस लौटा हूँ। इससे पूर्व भी अपने जीवन में दो बड़े संकटों का अत्यंत साहस एवं धैर्य के साथ सामना कर चुका हूँ। वे मेरे सच्चाई का साथ देने एवं झूठों-ढोंगियों के खिलाफ लड़ने का संघर्ष था। वे अपने सच को छुपाना चाहते, जबकि मैं उनका पर्दाफाश करना चाहता था। वे बुरा मान गए और संगठित होकर मेरी नौकरी पर ही आक्रमण कर बैठे। काफी लोगों ने मुझे कहा कि सत्य परेशान होता है, पर पराजित नहीं होता। यद्यपि मेरे सत्य की अभी विजय नहीं हुई है। अपने सत्य की विजय देखे बिना मैं कैसे मर सकता हूँ?

''जाको राखे साइयाँ, मार सके न कोय।
बाल न बाँका कर सके, जो जग बैरी होय।''

मुझे तो अभी बहुत सारी लड़ाइयाँ लड़नी हैं। तीन हो चुकी हैं। तीसरी मुठभेड़ अचानक मौत के साथ हो गयी। जिसके लिए मैं कतई तैयार नहीं था। पर अब रहना होगा। जग तो बैरी होता ही है। कबीर ने ऐसे ही नहीं कहा। जो लोग आपसे ईर्ष्या करते हैं, अंदर से नाराज रहते हैं, आपके स्वभाव एवं विचारधारा से घृणा करते हैं, आपके आत्मसम्मान से जीने की प्रवृत्ति जिन्हें खलती है, उन्हें आपके जिंदा रहने या मरने से कोई फर्क नहीं पड़ता। फर्क आपके परिवार पर पड़ता है। परंतु मैंने अपनी पत्नी से यह भी कहा था, कि यदि मैं न रहूँ तब भी तुम्हें मेरी तरह ही जीवन जीना है। साहस, धैर्य एवं आत्मसमान के साथ। आज लोगों में एक-दूसरे के संकट के प्रति सहानुभूति प्रकट करने की जितनी जल्दी दिखाई देती है, उतनी सहयोग करने के प्रति नहीं।

❐❐❐

19.04.2021

कोरोना का मृत्यु ताण्डव : यह मैंने क्या खोया प्रभु?

कल मेरे पड़ोसी एवं प्रिय पारिवारिक मित्र तथा नित्य सांध्य कालीन भ्रमण के साथी भाई नरेंद्र का प्रातः 7 बजे निधन हो गया। वे 45 वर्ष के थे और जिला परिषद की हाईस्कूल में हेड मास्टर थे। लगभग 1 अप्रैल से 18 अप्रैल तक कोरोना से जंग लड़ते हुए वे हार गए। वे एकदम स्वस्थ थे। मैं अत्यंत स्तब्ध हूँ, इस हँसते-खेलते दोस्त की असामयिक भीषण मृत्यु को देखकर। मैं अपने सूखे नेत्रों एवं निःशब्द मुख से उनकी इस भीषण मृत्यु की दाहकता को सहने को विवश हूँ। मुझे अब भी यह विश्वास नहीं हो रहा है कि नरेन्द्र भाई अब इस दुनिया में नहीं हैं। आज उनका सुपुत्र मंगेश उनकी अस्थियाँ लेकर लौटेगा। कल दोपहर में संभवतः उन पर अंतिम संस्कार हुआ। लगभग छह फुट का यह मेरा तगड़ा मित्र लाचार होकर कल अग्नि में भस्म हो गया। कल प्रातः 8 बजे सौ० नीता मेरे पास रोती-दहाड़ती हुई पहुँची। पहले उसे यह दुःखद सूचना मिली। भाई नरेंद्र की पत्नी और मेरी पत्नी अच्छी सहेलियाँ हैं। कालोनी की इन पाँच-छः महिलाओं का अपना समूह है, जो नित्य किसी-न-किसी गतिविधि में सक्रिय रहता है। इस समय नीता को सँभालना मेरा दायित्व था। कालोनी में आज सभी निवासी इस दुखद सूचना से स्तब्ध, द्रवित एवं शोकमग्न थे। नरेन्द्रभाई के पिता का निधन भी दस दिन पूर्व कोरोना से हुआ था। हम यह सोच एवं मान रहे थे कि एक पिता ने अपने पुत्र की जीवनरक्षा में अपने प्राणों की आहुति दे दी। अब संभवतः नरेन्द्र भाई सकुशल लौटेंगे। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। कितनी लचर होती हैं हमारी आस्थाएँ, प्रार्थनाएँ एवं मान्यताएँ, नहीं? सौ० नीता ने एक बड़ा-सा पत्थर का दीपक देवघर में प्रज्वलित कर रखा था तथा नित्य प्रातः और शाम परमेश्वर से यह प्रार्थना जारी थी कि भाई नरेंद्र हमारे बीच वापस लौटें। क्या हुआ होगा उनके साथ? क्यों उनका संक्रमण कम नहीं हुआ? क्या हमारे अस्पताल, डॉक्टर, चिकित्सा उपकरण, दवाइयाँ सबकुछ एक विशिष्ट सीमा के बाद निरर्थक हैं? भाई नरेंद्र के 18 एवं 11 वर्षीय दोनों पुत्र एवं पत्नी का प्रेम भी कोई चमत्कार नहीं कर सका। यह तीनों कितने असहाय, बेचैन, परेशान एवं अस्वस्थ रहे होंगे कि अपने पिता का क्या होगा? कैसे उन्हें बचाया जाए?

20 मार्च को जब मैं कोरोना से संक्रमित होकर अस्पताल में भर्ती हुआ, तब मेरे परिवार की देखभाल करने वाले भाई नरेंद्र एवं भाभी जी ही थे। मेरे अस्पताल भर्ती होने पर भाभी जी का आक्रोश एवं हमारी सहायता करने के प्रति निष्ठा से मुझे आज कुछ महिलाओं ने अवगत कराया। मैंने 20 तारीख को बेड पर लेटे हुए भाई नरेंद्र को फोन किया और कहा कि तुरंत अभी मेरी पत्नी और बच्चों का कोरोना टेस्ट करवाएँ और मुझे रिपोर्ट से अवगत कराएँ। उन्होंने यह सब काम बड़ी ही फुर्ती से किया। रिपोर्ट पॉजिटिव आने पर वे रात में 10 बजे पत्नी को HRCT टेस्ट के लिए लेकर गए। हमारे सौभाग्य से पत्नी की यह रिपोर्ट निगेटिव आयी। कालोनी में निवासरत सिविल अस्पताल के डॉ० सागर पाटिल से कहकर नरेंद्र भाई मेरे बच्चों एवं पत्नी का उपचार एवं देख-रेख में लगे रहे। डॉक्टर से बातचीत करने, दवाइयाँ उपलब्ध कराने एवं मुझे अस्पताल में नाश्ता पहुँचाने में भी वे सक्रिय रहे। उन्होंने ने ही मुझे बताया कि अब घर में सभी सकुशल हैं। लेकिन एकदम से 24 तारीख से उनकी मेरे से बातचीत रुक गयी। भाई हनुमंत पाटिल सर मेरे लिए अब नाश्ता एवं भोजन पहुँचाने लगे। बच्चों एवं पत्नी को सुरक्षित अनुभव करने पर मुझमें एक नई ऊर्जा का संचार हो चुका था। 28 मार्च को रात में डिस्चार्ज होने पर दूसरे दिन मैंने भाई नरेंद्र को फोन किया। तब मुझे पता चला कि वे भी संक्रमित हो चुके हैं और डॉ० पाटिल से ही घर पर इलाज करवा रहे हैं। उन्होंने यह भी मुझे बताया कि उन्होंने HRCT टेस्ट करवाया है, जिसका स्कोर 10 आया है, परंतु उन्हें इस पर विश्वास नहीं। उन्होंने और एक दूसरे सी०टी० स्कैन सेंटर से फिर उन्होंने क्रॉस चेक करवाया, जहाँ स्कोर 5 बताया गया। अब भाई नरेंद्र को यह स्कैन प्रक्रिया एक स्कैम प्रतीत हुई। वे तो मुझे यह कहने लगे कि वे इसकी शिकायत करेंगे। उन्हें मेडिकल साइंस पर भरोसा नहीं रहा। वे कालोनी में नित्य योगा के क्लासेस लेते थे और कालोनी के सभी निवासियों को अपने स्वास्थ्य के प्रति चौकन्ना रखते हुए योगा का महत्व भी बताते थे।

मैं भाई नरेंद्र की मृत्यु के लिए सोशल मीडिया को भी जिम्मेदार मानता हूँ। सोशल मीडिया में विशेषकर व्हाट्सएप पर जो लोग घर पर ही इलाज करने की जिन विविध घरेलू उपचार विधियों से अवगत कराते रहते हैं, उन विधियों की कितनी विश्वसनीयता है? गरारे करो, भाप लो, अनेक प्रकार के काढ़े लो, गरम पानी पियो, गिलोय, तुलसी, हल्दी, दालचीनी, काली मिर्च, लौंग आदि की पाउडर

से इलाज करो। क्यों कहते हैं यह सब लोग? अस्पताल की उपचारप्रक्रिया एवं खर्चे से डरने वाले मासूम लोग इन विधियों को अपने लिए सुरक्षित एवं सरल मानते हैं। लेकिन क्या यह सब विधियाँ अति गंभीर मामले में ठोस विधियाँ हैं? जिनके फेफड़ों का संक्रमण 50% (स्कोर 7 से ऊपर) के आसपास पहुँच चुका हो, ऑक्सीजन लेवल 80-85 तक आ गया हो, साँस लेने में कठिनाई हो रही हो, शरीर मे असहनीय दर्द हो रहा हो, वे क्या इन तथाकथित घरेलू उपचारों से ठीक होंगे? यह तो गुमराह करने के तरीके हैं। रेमडेसीवीर दवा के बारे में भी कई भ्रम हैं। किसी ने अभी कुछ दिनों पूर्व मुझसे कहा कि इस दवा से शरीर में जलन होती है। मैंने उन्हें कहा कि ऐसा कुछ नहीं है। कोई जलन नहीं होती। भाई नरेंद्र भी इस दवा के बारे में पूर्वाग्रह से प्रभावित थे। एक तो उन्हें लग रहा था कि डॉक्टर अकारण रोगियों पर यह असुरी इलाज करवाते हैं, जिसकी कोई जरूरत नहीं है और यह सब पैसे कमाने का धंधा है। यहाँ पर डॉक्टरों एवं कोविड अस्पतालों की भूमिका एवं कार्यप्रणाली भी संदेहजनक है। सरकार, कोविड अस्पताल एवं डॉक्टरों में कोई समन्वय नहीं है। कोविड की लाइन ऑफ ट्रीटमेंट के बारे में सरकारी अस्पताल एवं निजी अस्पतालों में विरोधाभास है। परिणाम स्वरूप अविश्वसनीयता का गंभीर वातावरण पैदा हो गया है। इसके लिए हममें से अति उतावले एवं गैर जिम्मेदारी से प्रचार करने वालों लोगों, विवादास्पद घरेलू उपचार विधियों के जनकों की भूमिका को भी मैं जिम्मेदार मानता हूँ। कोरोना से बचने के उपायों में अति सतर्कता भी एक है। कोरोना से अकाल मृत्यु को प्राप्त होने वाले दुर्भागी लोगों में उनकी संख्या अधिक है, जिन्होंने समय रहते कोई पहल नहीं की और अस्पताल में शीघ्र भर्ती नहीं हुए। कुछ लोग तो अब भी कोरोना को मानते ही नहीं है कि ऐसी कुछ बीमारी है। इस संबंध में मुझे कई सुशिक्षित समझे जाने वाले लोगों के ऐसे कुतर्कपूर्ण संदेश पढ़ने को मिले। इन लोगों का यदि यह मानना है कि कोविड कोई बीमारी नहीं है, वे कोविड अस्पतालों में जाकर अपनी सेवाएँ क्यों नहीं देते? कम से कम झाड़ू लगाना एवं टॉयलेट की साफ-सफाई भी कर दें तो बहुत है।

भाई नरेंद्र, तुम्हारे इस तरह अचानक इस अनंत में विलीन होने का मुझे अतीव दुःख है। मैं यह समझ सकता हूँ कि तुम्हारे शोक संतप्त परिवार पर क्या बीत रही होगी। तुम तो चिरनिद्रा में सो गए पर हमारा क्या? तुम्हें तो अब दुख एवं सुख की अनुभूति होने से रही। अपनी केवल 45 वर्ष की जीवनलीला को समाप्त करके तुम मृत्यु के मुख में समा गए। अब इस धरती पर तुम्हारा कोई अस्तित्व नहीं रहा मित्र। क्या तुम यह अब समझ सकते हो कि तुमने कितना बड़ा जोखिम लिया? तुम केवल अकेले नहीं मरे मित्र। एक पुत्र, एक पिता, एक पति, एक भाई, एक मित्र एवं एक सर्वोत्तम अध्यापक की आज मौत हुई है। तुम्हारा इस तरह हमारे जीवित लोगों की दुनिया से कट जाना एक अपूरणीय क्षति है। तुम्हारा जाना शैक्षिक जगत भी अपूरणीय क्षति है। तुम्हारे संकल्पों एवं सपनों से मैं जो थोड़ा बहुत अवगत हूँ, उनका तुम्हारे जीवनकाल में पूरा न हो पाने का मुझे आत्यंतिक खेद है। यह जीवन कितना क्षणभंगुर है मित्र, इसका मुझे पहली बार केवल तुम्हारे जाने से अनुभव हुआ है। तुम मेरे कोई सगे-संबंधी नहीं थे, फिर भी कुछ ऐसे थे, जिसका मेरे लिए जीवन में कोई महत्व था। अब तुम केवल स्मृतियों में जीवित हो मित्र। मैंने कभी अपनी मित्रता में ढोंग या दिखावा नहीं किया। तुम भी लगभग मेरे जैसे ही थे। तुम्हारे और मेरे विचारों में कई तरह की समानताएँ थीं। शैक्षणिक जगत में भ्रष्टाचार को देखकर तुम व्यथित होते थे। परमेश्वर ने तुम्हें इस जगत में अपने विचारों को कार्यान्वित करने एक अवसर देना चाहिए था। परमेश्वर को कुछ तो दया दिखानी चाहिये थी। मित्र, अब तुम परलोक में हो। परमेश्वर तुम्हारी आत्मा को अपने चरणों मे स्थान दे। तुम्हारी आत्मा को सद्गति मिले यही मेरी तुम्हें भावभीनी श्रद्धांजलि!

❐❐❐

20.04.2021

विपत्ति-विष : हमारी सामाजिक विद्रूपताएँ एवं संवेदनहीनता

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' के अंतिम पृष्ठ परमेश्वर से विनय करते हुए लिखा है -

''माँ शंकरी! संतान तेरी हाय! यों निरुपाय हो,
श्रीकंठ से कह दे कि हे हर, अब न और सताइए।
शून्य श्मशान-समान भारत हाय! कब से हो चुका,
आकर कराल विपत्ति-विष से व्योमकेश, बचाइए।।''

आज प्रातः फिर मेरे घर के पीछे वाली कालोनी में एक अड़तालीस वर्षीय व्यक्ति की कोरोना से मृत्यु हो गयी। पिछले एक महीने के भीतर मेरे घर के सौ मीटर के दायरे में चार हट्टे-कट्टे लोग कोरोना के कारण अकाल मृत्यु की भेंट चढ़ चुके हैं। दस में से आठ घरों में कोरोना अपनी दस्तक दे चुका है। जिनकी आज मौत हुई, कहा जाता है कि वे तीन दिनों से अस्पताल में भर्ती थे, परंतु उन्हें रेमडेसीवीर नाम का इंजेक्शन उपलब्ध नहीं हुआ और संक्रमण बढ़ता ही गया, परिणामस्वरूप वे बच नहीं सके। देश में रेमडेसीवीर एक बड़ा मुद्दा बन चुका है। इस विषय में गंदी राजनीति का खेल भी खेला गया। मुझे तो कुछ मित्रों ने बताया कि एक राज्य में सत्ताधारी राजनीतिक पार्टी के कुछ पदाधिकारी केवल अपनी ही पार्टी के कार्यकर्ताओं एवं उनके परिजनों को यह दवा मुफ्त में बाँट रहे हैं। कुछ लोगों ने इसका पहले से स्टॉक कर रखा है और काला बाजार कर रहे हैं। कल एक व्यक्ति ने मुझे बताया कि उसे अपने भाई के लिए यह इंजेक्शन चालीस हजार रुपये में खरीदना पड़ा, फिर भी वे अपने भाई को बचा नहीं सके। आज मुझे मेरे एक दवाई विक्रेता मित्र ने कहा कि कुछ अस्पतालों में वहाँ के कर्मचारी एवं नर्सेस रोगी की अचेतन अवस्था का लाभ उठाकर इस दवा को चुरा रहे हैं और फिर बाहर ऊँची कीमत में बेच भी रहे हैं। रोगी को तो यह पता ही नहीं चलता कि उसे वह इंजेक्शन दिया भी है या नहीं जो वह खरीदकर लाया है। मैं जब स्वयं अस्पताल में भर्ती था, तब कुछ ठीक होने पर मुझे भी संदेह हुआ था। मैं इसके बाद दवाइयाँ पास के ट्रे में न रखते हुए गिनकर अपने सिरहाने रखने लगा। मैंने तीन-चार बार यह अनुभव किया कि जब मैं गहरी नींद में जा रहा हूँ, तब कोई न कोई नर्स मेरे ट्रे में कुछ खोजती हुई प्रतीत हुई। पर मैं शिकायत नहीं कर सकता था। कोई भी नहीं कर सकता। आप उपचार की अनिवार्यता को लेकर विवश हैं। अब यह अस्पताल के डॉक्टर एवं स्टाफ के चरित्र पर शंका या शिकायत करने का समय नहीं हैं। क्योंकि एक बड़ी हद तक हमारा चारित्रिक पतन हो चुका है। यह चारित्रिक पतन इस संकट के कारण दिखाई देने लगा है। मृतक महिला के गहने चुरा लेना तो अस्पतालों के आम किस्से हो चुके हैं। हमारे समाज का चरित्र इतना क्यों गिर चुका है? हम इतने स्वार्थी, लोभी एवं दुष्टतापूर्ण व्यवहार के आदि क्यों हो चुके हैं? इसके उत्तर संभवतः हम तत्काल न दे पाएँ पर इसकी कीमत हर किसी को निःसंदेह तत्काल चुकानी पड़ेगी।

अभी तीन दिनों पूर्व मेरी अंर्तरात्मा को झकझोरने वाला एक प्रसंग मैं आपसे साझा करता हूँ। इस प्रसंग ने जहाँ मुझे अत्यंत विचलित किया वहीं इन मित्रों के प्रति मेरी सहृदयता को भी ठेस पहुँचाई। अब मेरा लगभग उनके प्रति मोहभंग हो चुका है। हमारा स्कूली मित्रों का एक व्हाट्सएप ग्रुप है। हम सभी महिला एवं पुरुष मित्र अब लगभग पचास की उम्र के आसपास है और सभी अपने-अपने पारिवारिक एवं निजी जीवन में लगभग संतुष्ट एवं प्रसन्न हैं। कई आज भी आर्थिक दृष्टि से संघर्ष कर रहे हैं। इनमें कुछ ऐसे भी हैं, जो प्रायः यह बताने की चेष्टा करते रहते हैं कि वे अपने जीवन में कितने सफल हैं। प्रायः समय-समय पर अपने निजी पारिवारिक प्रसंगों के फोटो भेजकर अपने ऊँचे जीवनमान या जीवनशैली का प्रदर्शन वे करते हैं। कुछ दिनों पूर्व एक महिला मित्र ने एक फोटो भेजकर हमें इस बात से अवगत कराया था कि उसका भाई एक दवा कंपनी में उच्चस्तरीय अधिकारी है, जिसकी सिप्ला कंपनी से हिस्सेदारी है, जो कि देश की सबसे बड़ी रेमडेसीवीर की उत्पादनकर्ता है। वह यह बताना चाहती थी कि हमें अपने भाई पर गर्व है कि वह आज एक ऐसा काम कर रहा है, जो देश एवं समाज के लिए गौरव की बात है। अब यह मेरी मित्र भारत के एक धनाढ्य समुदाय से संबंधित है। अपने इसी भाई की और एक उपलब्धि से हमें परिचित कराने हेतु उसने तीन दिनों पूर्व और एक ऐसी पोस्ट साझा की और हमें यह बताया कि अब उसका यह भाई कंपनी के सहयोग से केवल उसके ही समुदाय के लोगों को रेमडेसीवीर, यह इंजेक्शन निःशुल्क उपलब्ध कराने जा रहा है। दुर्भाग्य से महाराष्ट्र सरकार ने ऐसे निजी स्तरों पर इस दवा के वितरण पर रोक लगा देने के कारण वे अब निःशुल्क वितरण करने में असहाय हैं। जैसे ही

मैंने इस पोस्ट को पढ़ा तो मुझे इसमें कुछ आपत्तिजनक एवं अमानवीय दृष्टिकोण का आभास हुआ। तब तक हमारे कई मित्र इस पोस्ट के सूक्ष्म अर्थ को न समझे और इसे लाइक या इसकी प्रशंसा कर चुके थे। मुझसे रहा नहीं गया और मैंने तुरंत आनन-फानन में लिखा कि मैं इस तरह की प्रवृत्ति का निषेध करता हूँ। मेरे द्वारा निषेध की प्रतिक्रिया का दो मित्रों ने समर्थन किया, तो उस महिला मित्र ने तुरंत पोस्ट डिलीट कर दी। मेरे द्वारा आपत्ति दर्ज करने पर उसे निश्चित ही बुरा लगा होगा। लेकिन बुरा लगना नहीं चाहिए था और उसे अपने समुदाय की संकीर्ण विचारधारा के प्रति पश्चाताप या अन्य कुछ भाव जो आवश्यक हो, व्यक्त करना चाहिये था। इसके बाद मैं तुरंत समूह से स्वेच्छा से बाहर हो गया और समूह में अब दोबारा मिलने की मेरी कोई इच्छा नहीं रही और न रहेगी। परंतु मेरे अंतर्मन को जो पीड़ा पहुँची, वह मेरे अन्य मित्रों को क्यों अनुभव नहीं हुई, इसका मुझे बहुत आश्चर्य है।

मुझे कहना यह है कि हम अपने-अपने स्तरों पर ऐसी प्रवृत्तियों एवं कृत्यों का क्यों न निषेध करें? ऐसे लोग प्रायः अपने चरित्र पर धार्मिकता का मुलम्मा लगाकर भोले-भाले लोगों को ठगते हैं और अपनी एक ऐसी छवि निर्मित करते हैं, जो श्रेष्ठ, ऊँची एवं लुभावनी प्रतीत हो। भारत में ऐसे कई धनाढ्य समुदाय हैं, जिनकी वास्तविक रुचि या धर्म अत्यधिक धन इकट्ठा करना है एवं केवल अपने निजी स्वार्थ की पूर्ति करना होता है। मैं ऐसे वर्ग से अपने बचपन से ही अलिप्त रहा हूँ। मैंने अपने संपर्क में आये ऐसे कई धनिक वर्ग के लोगों को देखा है, जिन्हें अध्यापकों के वेतन से आपत्ति है, परंतु वे स्वयं यह अपने अंतःकरण में झाँककर नहीं देखते कि वे कितनी प्रामाणिकता से धन कमा रहे हैं? शिक्षा संस्थानों के कार्यकारी मंडल के सदस्य रहे यह धनिक वर्ग के कुछ लोग ऐसे लोगों को नियुक्ति में प्राथमिकता देते हैं, जो उन्हें नियुक्ति के बदले में मोटी रकम दे। ढोंग, पाखंड, स्वार्थ, लोभ एवं स्वेच्छाचरण ही हममें से अधिकांश का वास्तविक चरित्र है। धनिक वर्ग के अधिकांश लोग कमीशन, प्रॉपर्टी डीलिंग, थोक एजेंसियों के लाइसेंस, व्यापार एवं लेन-देन के व्यवहार में धन कमा रहे हैं। पुस्तकें पढ़ना, लिखना उन्हें व्यर्थ प्रतीत होता है। हम मानवीय असंवेदनशीलता के स्तर पर कितने पतनोन्मुख हैं, इसका कोई अंदाजा नहीं है। मैं आज अध्यापकों की एक को-ऑपरेटिव बैंक में गया था। मुझे बैंक के कर्मचारी ने बताया कि अपने बैंक के 8 अध्यापक सदस्यों की मौत कोरोना से पिछले कुछ महीनों में हो चुकी है। उनके परिवारों पर आज क्या बीत रही होगी? घर आवास ऋण लेकर बनाये गए हैं। बच्चों की शिक्षा अधूरी है। कइयों की बेटियों के विवाह नहीं हुए हैं। घर में वृद्ध माता-पिता घोर विषाद में हैं कि आगे क्या होगा? हमें दूसरों की विवशता का लाभ उठाने में थोड़ी-सी भी शर्म नहीं आती? मुझे लगा कि यदि कल किसी विशेष समुदाय का डॉक्टर यह कहे कि वह केवल उसी के समुदाय के लोगों का उपचार करेगा। कोई किराना दुकानदार, दूध बेचने वाला, सब्जी वाला, सुतार, कुंभार, गवंडी यदि यह कहे कि वे केवल उनके ही समुदाय के लोगों के लिए काम करेंगे तो क्या चित्र होगा समाज एवं देश का? फूले, अंबेडकर, गांधी के देश का वास्तविक चरित्र देखकर आपको केवल हैरानी ही नहीं, चिंता भी होनी चाहिए। समाज को गलत दिशा देने वाले लोग कहीं बाहर नहीं, हमारे बीच ही हैं। हम यदि ऐसे वर्ग की चापलूसी करेंगे एवं ऐन मौकों पर गूँगे बने रहेंगे तो इसकी बड़ी कीमत हमारे बच्चों को चुकानी पड़ेगी। धन जोड़ना ही जिसका वास्तविक धर्म है, वे सारी मानव जाति के दुश्मन हैं, कलंक हैं। निजी अस्पतालों में उपचार के लिए अमानवीय स्तर पर बिल निकाले जाने की खबरें कितनी सारी हैं। बिलों के डर से ही कुछ लोग घर पर रहकर इलाज करवा रहे हैं। दवाइयों एवं बेड की कमियों ने विकराल रूप धारण कर लिया है। ऐसी भयंकर त्रासदी में अर्थपिशाच श्रेणी के लोग क्या-क्या पाप नहीं कर रहे हैं? हे कोराना, क्या वास्तविक पापी और दुष्ट केवल तुम ही हो या हम भी हैं? गुप्त जी ने आज से सौ वर्ष पूर्व जो लिखा वह आज भी कितना प्रासंगिक है नहीं? प्रभु के सिवा विष को पीने का साहस किसमें है? इस विपत्ति-विष को पीकर हे व्योमकेश, हम सभी को बचाइए।

❐❐❐

30.04.2021

मौत : जब तुम केवल एक भेड़िया होती हो

भेड़िए के बारे में कहा जाता है कि वह एक ऐसा जंगली जानवर है, जो अपने भक्ष्य को जिंदा ही नोचना और खाना शुरू कर देता है। जब तक उसके भक्ष्य के प्राण नहीं निकलते, तब तक भेड़िया उसको लगभग आधा खा चुका होता है। आप ठीक तरह से समझ रहे होंगे कि मैं यह किसके बारे में लिख रहा हूँ। यदि आप पर्याप्त समझ और मानवीय दृष्टि से संपन्न होंगे। आजकल आप देख रहे होंगे कि हमारे बीच में से कई लोग ऐसे ही चुन-चुनकर कोरोना रूपी इस भेड़िए के मुख में समाते जा रहे हैं। कई लोगों को तो यह पता ही नहीं चल रहा है कि कोरोना नामक भेड़िया उनको आधा खा चुका है। मौत से एक दिन पहले तक भी लोगों को ऐसे लगता नहीं है कि वे मरेंगे। मेरे एक मित्र जिनका 18 अप्रैल को देहांत हुआ, वे 16 अप्रैल को स्वस्थ ही थे, बातें कर रहे थे और घर लौटने की जिद भी कर रहे थे। फिर बाद में वे अचेतन अवस्था में चले गए और संभवतः उन्हें यह पता भी नहीं चला होगा कि वे मर चुके हैं। पहले मौत इतनी क्रूर और पाशविक नहीं हुआ करती थी। अब मौत एक भेड़िया बन चुकी है, आप इसे अजगर भी कह सकते हैं, जो अपने भक्ष्य को जीवित ही निगल लेता है और फिर दम घुटकर उसकी मौत हो जाती है। बड़ा असहनीय है अपने मित्रों, परिजनों एवं परिचितों-अपरिचितों का इस तरह भेड़िये का शिकार बन जाना। यह भेड़िया अदृश्य है और थोड़ा-सा असावधान होते ही झपट्टा मार रहा है। अब बड़े-बड़े नगर जंगल में तब्दील होते जा रहे हैं। इस भेड़िये से निपटने की शक्ति क्या हम सभी में से खत्म हो चुकी है? क्या हम वास्तव में असहाय एवं लाचार हो चुके हैं? क्या हमने अपनी पराजय स्वीकार कर ली है? हमारे पास अपनी जीवित रहने की इच्छाशक्ति यानी जिजीविषा को बनाये रखने का कोई उपाय नहीं है? क्या हम वास्तव में यह मानते हैं कि सतयुग, त्रेता या द्वापर की तरह प्रभु कोई अवतार लेंगे और इस दानव का नाश करेंगे? यह आदमखोर बनता जा रहा भेड़िया केवल दवा या टीके से खत्म नहीं होगा और न ही भगवान का कोई अवतार इसे खत्म करने के लिए हमारी सहायता करेगा। यह मेरी कोई कल्पना नहीं है, बल्कि एक खतरनाक संकेत या पूर्वानुमान इसे कहें। इसका उत्तर यह है कि हम आज भी एक-दूसरे के जीवन की सुरक्षा के प्रति उतने संवेदनशील और जिम्मेदार नहीं बन पाए हैं, जितनी कि जरूरत है। कोरोना जिस तरह से हमारा संहार करता जा रहा है, हम असहाय, दुर्बल पशुओं अर्थात् भेड़-बकरियों की तरह उसे अपनी नियति मान अपनी मृत्यु को चुपचाप स्वीकार करते जा रहे हैं। हममें अभी तक सामूहिक आक्रोश का दर्शन नहीं दिखाई रहा है। जो आक्रोश हमें दिखाई दे रहा है, वह केवल एक माता, पत्नी, बहन, बेटी, बेटा, पिता और भाई का आक्रोश है, और सीमित है। यह संकट अब भी हमें अपना निजी महसूस नहीं हो रहा है। हिंदी के प्रसिद्ध कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता 'कभी मत करो माफ' की यह कुछ प्रारंभिक पंक्तियाँ प्रस्तुत है,

यदि तुम्हारे घर के
एक कमरे में आग लगी हो
तो क्या तुम,
दूसरे कमरे में सो सकते हो?
यदि तुम्हारे घर के
एक कमरे में लाश पड़ी हो
तो क्या तुम,
दूसरे कमरे में गा सकते हो?
यदि तुम्हारे घर के
एक कमरे में
लाशें सड़ रही हों
तो क्या तुम
दूसरे कमरे में प्रार्थना कर सकते हो?

ठीक इसके विपरीत हम गा रहे हैं, सो रहे हैं, उत्सव मना रहे हैं, शादियाँ कर रहे हैं, नाच रहे हैं, झूम रहे हैं। मैं इस कविता में प्रस्तुत मुख्य भाव की तरह अपने देश के उन तमाम लोगों से पूछ रहा हूँ कि क्या यह समय नाचने, गाने, पैसे कमाने, मुनाफाखोरी, काला बाजारी करने, लोगों की विवशता का फायदा उठाने, उन्हें लूटने का सुअवसर हैं? क्या यह राजनीति करने का उचित समय है? क्या यह एक-दूसरे को दोष देने या सफलता-असफलता को प्रमाणित करने का समय है? जबकि तुम्हारे घर के आसपास के हर तीसरे-चौथे घर में लाश पड़ी है। हमारा नैतिक स्तर कितना गिरता जा रहा है, इसकी कोई सीमा नहीं

रही है। औपचारिक संवेदनशीलता एवं सहायता करने के फूहड़ प्रदर्शन से तो घिन आती जा रही है। मैं जब अपने आसपास के समाज में से कुछ लोगों के चरित्र एवं व्यवहार का निरीक्षण करता हूँ तो पाता हूँ कि वे संवेदनहीन होने के साथ-साथ अस्तित्वहीन भी है। उन्हें अपने निजी जीवन से अतिरिक्त किसी से कुछ लेना-देना ही नहीं है। समाज में बड़ी संख्या में एक ऐसा वर्ग भी है, जो परस्पर ईर्ष्या, जलन, असूया, घृणा, पूर्वाग्रह, द्वेष, भेदभाव, तुलना एवं वैचारिक असमानता के कारण दूसरे व्यक्ति की हानि एवं मृत्यु की कामना भी करता है। यह कितना विद्रूप चित्र है, हमारे समाज का। ऐसे समाज के भीतर जीना, जीवित रहना एक शाप और चुनौती भी है। ऐसा समाज किसी भेड़िये के चरित्र से कम नहीं है। कोरोना यह जो बीमारी है, कभी न कभी तो खत्म होगी ही। पर यह जो हमारा आनुवांशिक रूप से बीमार चरित्र बन चुका है, वह किसी भी अस्पताल में या किसी भी दवा, टीका या ऑक्सीजन से खत्म होने से रहा। वस्तुतः कोरोना ने हमारी सामाजिक संरचना को वेंटिलेटर पर पहुँचा दिया है।

जब मैं अस्पताल में भर्ती था, तो मेरे आसपास के अधिकांश रोगी इस विषय में भी मुझे अधिक चिंतित प्रतीत होते थे कि पता नहीं डॉक्टर का बिल कितना होगा? मेरे से पूर्व डिस्चार्ज होने वाले एक रोगी के परिजन ने मुझे बताया कि जब उन्होंने बिल का भुगतान करते समय बिल की रकम को कुछ कम करने की प्रार्थना की तो उन्हें अस्पताल प्रशासन द्वारा यह कहकर निपटाया गया कि हमने आपको गंभीर अवस्था में जो बेड उपलब्ध कराया है, वैसा कोई अस्पताल नहीं करता। वे विवश थे कि भला इसका उत्तर क्या दें? अस्पतालों में बेड की कमी ने भी अपना एक महत्व प्रतिपादित कर दिया है। ठीक इसी तरह स्कूलों में प्रवेश की स्थिति को लेकर भी यही उत्तर अभिभावकों को मिलता है। सरकार असहाय है। समाज असहाय है। लोग असहाय हैं। कानून असहाय है। देवता असहाय हैं। हमारे समाज की कोई इकाई जब समाज के हित में कोई आचरण कर अपनी मर्जी से चलने लगे या रोगग्रस्त या लकवाग्रस्त होने लगे तो क्या किया जा सकता है, इसका उत्तर भलीभाँति आप भी जानते हैं। कुछ दिनों पूर्व एक डॉक्टर ने मेरे जैसे सरकारी वेतन भोगी वर्ग को निशाने पर लेते हुए मेरे समक्ष एक टिप्पणी करते हुए कहा कि आपको सातवाँ वेतन आयोग चाहिए पर डॉक्टर का एक-दो लाख रुपए का बिल भुगतान करने में आपको आपत्ति है, जबकि वह डॉक्टर बड़ा जोखिम लेकर आपका इलाज कर रहा है। तो मैंने उन्हें कहा कि हमें कोई आपत्ति नहीं पर आप अपने अस्पताल के स्टाफ यानी नर्सेस एवं अन्य कर्मचारियों को प्रतिमाह 40 से 50 हजार वेतन क्यों नहीं देते? 8 से 10 हजार रुपये में उनसे 10-12 घंटे काम करवाना क्या योग्य एवं न्यायोचित है? जबकि सबसे अधिक जोखिम तो वही ले रहे हैं। डॉक्टर तो 24 घंटों में केवल एक बार देखने आता है। मैंने जब एक परिचारिका से पूछा तो उसने बताया कि 5 से 6 हजार रुपये ही मिलते हैं। जब हम वेतन बढ़ाने का अनुरोध करते हैं तो हमें काम छोड़ देने के लिए कहा जाता है। प्राइवेट चिकित्सा क्षेत्र में निम्न कर्मचारियों के आर्थिक शोषण का यह दारुण वास्तव है। क्या डॉक्टर को दिया यह मेरा प्रति उत्तर गलत है? हमने जो अपने-अपने निजी हित के अनुसार जो तर्क, सोच और दृष्टिकोण बना लिए हैं, जिससे दूसरों का आर्थिक शोषण एवं विवशता का फायदा बड़ी क्रूरता एवं उद्दामता से उठा ले रहे हैं हम, तो क्या यह पाप नहीं है?

मौत केवल एक तरफ से नहीं आती। भेड़िए समूह में शिकार करते हैं। अपने शिकार को वे खाते नहीं हैं, बल्कि टूट पड़ते हैं और नोचते जाते हैं। कोरोना अकेला भेड़िया नहीं है। वह तो अदृश्य है ही, उसके साथी भी छुप-छुपकर नोचते हैं। वे मानवीय रूप धारण किए हुए भेड़िए हैं। वे अपनी कार्यनीति के समर्थन में अपना व्यवहारिक तर्क भी प्रस्तुत करते हैं कि स्वाभाविक रूप से वे मांसाहारी हैं अर्थात् मांस खाना उनका स्वभाव है। पहले अस्पतालों में लोगों को जाने की जरूरत महसूस नहीं होती थी। कई लोग घर में ही शांति से मृत्यु का वरण करते थे। मेरे दादा एवं दादी की मौत घर पर ही हुई। हम सब के बीच। लगभग पूरा जीवन जीने के बाद। उनको मृत्य पश्चात् स्नान एवं चार कंधों का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। आजकल यह कैसी मृत्यु इन अभागे एवं निर्दोष लोगों को मिल रही है प्रभु? ऐसा प्रतीत होता है कि मौत, अब तुम केवल एक भेड़िया हो।

❐❐❐

2 मई, 2021

राजनीतिक पार्टियों की हार-जीत : उत्तेजना में बिखरा हुआ हाशिए का समाज

मेरे जीवन में राजनीतिक पार्टी एवं उसकी विचारधाराओं का दखल अब तक न के बराबर रहा है। न ही मैं राजनीतिक मामलों का विशेषज्ञ हूँ और न ही विश्लेषक। परंतु मैं राजनीतिक घटनाओं, प्रसंगों का यथाशक्ति अवलोकन एवं निरीक्षण कर अपने मतों को जाहिर करने में संकोच नहीं करता। कभी-कभी मुझे किसी राजनीतिक नेता या दल का कोई एक विचार या कृति अच्छी लगती तो कोई दूसरी गलत। ऐसी स्थिति में मैं उनके किसी विचार, आचरण या कृति में जो अंतर्विरोध या दोगलापन अनुभव करता हूँ तो काफी क्लेश होता है। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि भारत में कोई भी ऐसा राजनीतिक दल नहीं है, जो संपूर्ण 135 करोड़ जनता का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता हो। इस देश की संपूर्ण जनता धर्म, संप्रदाय, जातियाँ, वर्ग एवं विचारधाराओं में विभाजित है और सभी अपने-अपने अनुकूल, अपने हितों की रक्षा, लाभ, स्वार्थपूर्ति एवं अवसरवादी नीतियों पर चलते हैं और इन्ही आधारों पर राजनीतिक पार्टियों का समर्थन भी करते हैं। मैं नहीं मानता कि कोई एक राजनीतिक पार्टी ही किसी देश में सत्ता का एकमात्र विकल्प हो। देश में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक उन्नति, समानता, भाईचारा, न्याय, सुरक्षा एवं शांति को स्थापित करने की सर्वोत्तम क्षमताएँ एवं योग्यताएँ जिस राजनीतिक पार्टी में दृष्टिंगत हो, वह सत्ता की अधिकारी होनी चाहिए। कोई एक पार्टी इस मामले में किसी दूसरी पार्टी से बेहतर प्रतीत हो तो उसे अवसर देने का काम लोकतंत्र में लोकशक्ति को करना चाहिए। निरंकुश या अक्षम सत्ता को बाहर का रास्ता दिखाने की क्षमता भी लोकशक्ति में होनी चाहिए। इस नए विषय पर लिखने का मन इसलिए बना कि आज देश के चार राज्यों एवं एक केन्द्र शासित प्रदेश के चुनाव परिणाम सामने आये। जिसमें केवल आसाम एवं पुडुचेरी में भारतीय जनता पार्टी को बहुमत मिला। इन चुनावों में पश्चिम बंगाल के चुनाव विशेष चर्चा में रहा। यहाँ चुनाव न होकर ऐसा लगा कि कोई लड़ाई या हिंसक संघर्ष हुआ हो। इस राज्य की जनता का वास्तविक चेहरा सामने आया, जो प्रमुख रूप से हिंदू और मुस्लिम इन दो वर्गों में स्पष्ट रूप से विभाजित है। भाजपा को इस नजर से देखा गया कि वह केवल हिंदुओं की और सवर्ण हिंदुओं की पार्टी है। इस चुनाव में राजनीतिक पार्टियों, चुनाव आयोग, जनता एवं अन्य कई इकाईयों की भूमिका एवं कार्यप्रणाली पहले से विवादास्पद रही। कई प्रकार की उलटी-सीधी बातें कही गयी। अपप्रचार, गाली-गलौज हुआ। इस गरमागरम माहौल में ऐसा कोई प्रसंग दूर-दूर तक देखने को नहीं मिला, जो संविधानिक गरिमा के अनुकूल हो। ऐसा क्यों हुआ? इस विषय में आज कोई चर्चा नहीं कर रहा है।

मैं इस देश के उच्चशिक्षा जगत या अकादमिक जगत का एक भाग होने के कारण, जिसे आप बौद्धिक जगत भी कह सकते हैं, की भूमिका को इस विषय में प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूँ। मुझे आश्चर्य होता कि यह वर्ग शिक्षाजगत की बुराइयों एवं शिक्षा में सुधारों को लेकर कोई बात नहीं करता, परंतु राजनीति एवं खेल जगत की घटनाओं को लेकर खासा उत्साहित एवं उत्तेजित हो जाता है। हिंदी का प्राध्यापक होने के कारण सर्वप्रथम मैं अपने ही इस वर्ग की भूमिका एवं प्रतिक्रयाओं की पड़ताल करूँगा, जिसमें मुख्य रूप से देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों के प्राध्यापक, विभागाध्यक्ष, सेवानिवृत्त प्राध्यापक, साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादक, शोधसंस्थाओं के निदेशक, लेखक, कवि, शोधकर्ता एवं छात्र सम्मिलित हैं। सर्वप्रथम मैं यह स्पष्ट करना चाहूँगा कि शिक्षाजगत से संबंधित सभी को अपने-अपने स्तर पर राजनीतिक घटनाओं एवं परिणामों के प्रति तटस्थ एवं निष्पक्ष रहना चाहिए। उन्हें व्यक्तिगत नहीं लेना चाहिए। देश के शिक्षाजगत की इसे विडंबना ही कहें कि यह तमाम लोग इसलिए तटस्थ नहीं रह पाते, क्योंकि इन्हें जो यह नौकरी या पद मिला हुआ है, वह इनकी राजनीतिक पक्षधरता को ध्यान में रखकर ही प्राप्त हुआ है। मैंने अपने आसपास और अपने 20 वर्ष के अकादमिक अनुभव से यह जाना है कि इस तरह के लोग अपनी राजनीतिक पार्टी के प्रति निष्ठा (इसे आप चापलूसी या गुलामी भी कह सकते हैं) पारिवारिक एवं जातीय हितसंबंधों तथा धनबल का प्रयोग कर बड़ी से बड़ी नौकरियाँ एवं पदों को प्राप्त करने में सफल होते हैं। उनकी यह कृतज्ञभावना उन्हें धीरे-धीरे एकनिष्ठ गुलाम, कर्मठ समर्थक, अंधानुयायी बना डालती है। उनमें फिर कोई स्वाभिमान नहीं बचा रहता। वे बड़े-बड़े वक्तव्य जारी करते हैं, भाषण देते हैं, समर्थन करते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं, मार-पीट करते हैं, तब ऐसा लगता है कि वे किसी एक पक्ष की ओर झुके हुए हैं। निष्पक्ष नहीं हैं। मेरे सामने ऐसे कई उदाहरण हैं कि

चापलूसी की बदौलत ऐसे अयोग्य लोग कई साहित्यिक एवं अकादमिक संस्थाओं की समितियों में अध्यक्ष, निदेशक, सदस्य आदि नामित हो चुके हैं।

लोकतंत्र में निष्पक्ष होकर बोलना, अपना मत रखना एक अत्यंत दुर्लभ बात हो गयी है। हिंदी के अकादमिक एवं साहित्यिक वर्ग को जब मैं वामपंथी एवं दक्षिणपंथी इन दो खेमों में विभाजित देखता हूँ, तो बड़ा दुःख होता है। मैंने आज से 20 वर्ष पूर्व जब हिंदी साहित्य का विधिवत अध्यापन प्रारंभ किया तो मैं इन दोनों वर्गों की मूल विचार धाराओं से अपरिचित था। मैं इन्हें केवल कवि, लेखक या आचार्य की दृष्टि से देखता था। मुझे अभी-अभी कुछ पाँच-छह वर्ष पूर्व यह ज्ञान हुआ है कि मैं अभी तक अत्यंत भोला ही रहा हूँ। इस तरह के संबंधों को जोड़ने और विकसित करने में मैं यदि यत्किंचित सफल भी हुआ हूँ तो मुझे इसका आश्चर्य होता है। मेरे निष्पक्ष रहने पर अधिकांश को आपत्ति होती है। वे मुझे नित्य अपने पक्ष में देखना चाहते हैं और मैं अपने घर, समाज और महाविद्यालय में निष्पक्ष बने रहने का प्रयास करते रहता हूँ। अनायास या घोर आग्रह के परिणामस्वरूप यदि किसी समूह एवं संगठन का सदस्य मैं बना भी जो जल्दी ही संबंध टूट गया। साहित्यिक या अकादमिक क्षेत्र के इन दोनों वर्गों में से किसी एक का भी मैं यदि कट्टर समर्थक नहीं बनता हूँ तो मेरा अकादमिक एवं रचनात्मक जीवन का अस्तित्व खड़ा करने में बाधाएँ उत्पन होंगी या विलंब होगा। मुझे इनके 'हाँ में हाँ' और 'नहीं में नहीं' मिलाना ही होगा। इनकी वैचारिक स्तर पर चापलूसी करनी ही होगी। जैसे ही मैं इस परीक्षा में सफल हो जाऊँगा तो तुरंत ही बड़ा लेखक, कवि या आलोचक घोषित कर दिया जाऊँगा। फिर एक विशेष उपलब्धि, स्थान या पुरस्कार अर्जित करने के बाद यदि मैं अपने मूल रूप में आ भी जाऊँ, तो कोई मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। क्योंकि तब तक मैं एक शक्तिशाली लेखक, आलोचक, संपादक या कवि के रूप में स्थापित हो चुका हूँगा। लेकिन मैं यह सब कभी नहीं करूँगा।

मैं अपने मूल विषय पर आते हुए यह कहना चाहता हूँ कि लोकतंत्र में आजकल राजनीतिक विचारधारा की दृष्टि से निष्पक्ष व्यक्तित्वों का अभाव देखने को मिलता है। किसी भी चुनाव में कोई पार्टी हारे या जीते, इसमें किसी प्राध्यापक, संपादक, विभागाध्यक्ष को 'बेगाने की शादी में अब्दुल्ला दीवाना' की तरह बिना सुर-ताल के नाचने की क्या जरूरत है? उसे तटस्थ या निष्पक्ष रहना चाहिए और हर सरकार को उसके नैतिक दायित्वों से परिचित कराने का काम करना चाहिए

जैसा चाणक्य ने किया। लेकिन वर्तमान अध्यापकजगत तो राजनीतिज्ञों का दास या सेवक बन चुका है। ममता बैनर्जी के चुनाव जीतने एवं बीजेपी को बहुमत न मिलने पर यह वर्ग कुछ इस तरह उत्तेजित है, जैसे पश्चिम बंगाल में रामराज्य आ गया है और मोदी सरकार के आने पर रावनराज आ जाता। यदि बीजेपी जीत जाती तो इसे क्या आप हिंदू संस्कृति की जीत कहते? ऐसे वर्ग को किसी राजनीतिक पार्टी या नेता के पक्ष में नहीं, बल्कि न्याय, सुरक्षा, समता, शिक्षा, रोजगार, शांति, विकास, सामाजिक कल्याण के पक्ष में खड़ा होना चाहिए। अब आप कुछ लोगों की प्रतिक्रिया देखें, जो इस प्रकार हैं,

'आ गयी दीदी, मत भाग मोदी'

'ममता बैनर्जी की जीत वामपंथी संस्कृति की जीत है'

'इससे ज्यादा उचित एवं झन्नाटेदार थापड़ क्या होगा हिंदुओं के लिए'

'200 की चप्पल, 400 की साड़ी, 10 लाख के सूट पर भारी'

'हार गए अंग्रेजों के दलाल'

'टीएमसी की जीत की खुशी में गुलाम नाच रहे हैं।'

'हिंदुओं, थू है तुम पर, देख लो।'

इससे भी कई अभद्र एवं आपत्तिजनक टिप्पणियाँ पढ़ने में आ रही हैं। केवल एक प्रतिक्रिया ऐसी है, जो स्वस्थ एवं आश्वस्त करने वाली है। जिसमें कहा गया है, ''हिंदी भाषा एवं साहित्य के विकास में योगदान देने वाली सरकारों का समर्थन करें। इस प्रकार किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय, वर्ग या विचार धाराओं में लोगों का विभाजित होकर सरकारों एवं राजनीतिक पार्टियों का समर्थन करना एक भयंकर त्रासदी को जन्म देना है। वामपंथी विचारधारा के लोग स्वयं हिंदू होकर हिंदू धर्म, संस्कृति, परंपरा, देवी-देवताओं के प्रति क्यों द्वेष करते हैं? अब तो ये खुलेआम अमृत पी रहे हैं। राहु-केतु की तरह छुप-छुपकर नहीं। और देवताओं के प्रतिनिधि भी रंगरेलियों एवं अय्याशी में कहीं कुछ कम नहीं है। मध्यम विचारधारा वाला वर्ग बड़ी दयनीय अवस्था में है, जो नीर-क्षीर विवेक से जोखिम लेता हुआ आगे बढ़ रहा है। इस मध्यम विचारधारा वाले वर्ग में यदि कोई दोष या कमी है तो खुलकर कहें। यह वर्ग असुरक्षित तो है ही पर इसे थोड़ा सा साहस तो करना ही होगा। चाहे अमृत न मिले और न अप्सरा।

❐❐❐

14.05.2021

मनुष्य : छोटा शून्य और बड़ा शून्य

परमेश्वर ने एक अद्‌भुत शस्त्र या शक्ति को अभी तक अपने निजी हाथों में सुरक्षित रखा है और वह शक्ति है मृत्यु की। अपने इस शस्त्र या शक्ति के लौकिक जगत पर प्रयोग के मामले में वह कोई अंतर या भेद नहीं करता, क्योंकि ईश्वर तटस्थ है। यदि वह केवल किसी एक विशेष वर्ग का हितैषी होता, तो उन्हें अमर क्यों नहीं करता? लेकिन उसने कभी आजतक ऐसा नहीं किया। मृत्यु के मामले में तो वह न किसी के सामने झुकता है, न अपना निर्णय बदलता है। न उसे दया आती है और न उसका हृदय द्रवित होता है। वह यह नहीं देखता कि कौन राजा है या रंक, कौन विद्वान है या मूर्ख, कौन वृद्ध है या बालक, कौन धनी है या निर्धन, कौन सज्जन है या दुर्जन, कौन सुंदर है या कुरूप, कौन साधु है या विलासी। केवल इस मामले में ईश्वर ने मनुष्य की कुटिलता एवं धूर्तता से अपने को बचाए रखा है। अन्य मामलों में तो मनुष्य ने ईश्वर को जोड़-तोड़कर अपनी वृत्ति, धारणा, विश्वास एवं विचारों के अनुरूप बना लिया है या गढ़ लिया है, जिसे कृत्रिम ईश्वर भी कहा जा सकता है। अर्थात् वह जो मनुष्य द्वारा निर्मित है, वह काल्पनिक ईश्वर है, वास्तविक नहीं। मृत्यु की नीति के मामले में ईश्वर का न्याय काफी पारदर्शक रहा है और निष्पक्ष भी। इसका कारण यह है कि ईश्वर सभी मनुष्यों को एक ही दृष्टि से देखता है, जैसे माता-पिता को प्रायः अपनी संतानों को एक ही दृष्टि से देखना चाहिए। यदि ईश्वर निष्पक्ष नहीं होता तो अभी तक प्रकृति में अराजकता का साम्राज्य फैल चुका होता। निष्पक्ष होना प्रकृति या परमेश्वर का सबसे बड़ा गुण है। एक महान कानून है। मुझे यह कहना है कि मृत्यु के मामले में ईश्वर संसार के सभी स्थानों के मनुष्य प्राणियों एवं पशुओं को एक समान दृष्टि से देखता है। उसे सभी प्रिय है। असमानताएँ, दृष्टिभेद और पक्षपात यह मनुष्य द्वारा निर्मित है। प्रसंग यह है कि आज प्रातः मेरी काफी दिनों बाद मेरे एक आत्मीय वरिष्ठ मित्र जो नासिक में रहते हैं, से बात हुई। कोरोना के वर्तमान भीषण नरसंहार को लेकर उन्होंने मुझे अपने छात्र जीवन में पढ़े हुए एक पाठ से परिचित कराया, जिसमें मनुष्य को दो वर्गों में वर्गीकृत किया गया था - छोटा शून्य और बड़ा शून्य। उन्होंने इस पाठ की रचना से मुझे संक्षिप्त में अवगत कराते हुए कहा कि इसमें छोटा शून्य से तात्पर्य मामूली लोग अर्थात् सामान्य किसान, मजदूर, अध्यापक या निर्धन लोग आदि से हैं एवं बड़ा शून्य से तात्पर्य है, विशेष लोग अर्थात् नेता, अभिनेता, मंत्री, कलाकार, साहित्यकार या धनी लोग आदि। उन्हें यह कहना था कि वास्तव में हम सभी शून्य ही हैं और मृत्यु देवता की दृष्टि में इस संसार का कोई भी मनुष्य विशिष्ट-अविशिष्ट तथा प्रिय-अप्रिय नहीं है। यदि अधिक स्पष्ट किया जाए तो कह सकते हैं कि शून्य आकार में कितना भी बड़ा या छोटा हो उसका मूल्य समान ही रहता है।

किसी भी मनुष्य का मृत्युदेवता के समक्ष विशिष्ट न होना, एक बहुत बड़ा एवं महान दर्शन हैं। मृत्यु के पश्चात् सभी स्मृतिशेष है। यही कारण होगा कि 'ऐसा क्यों?' यह जानने के लिए ऋषि उद्दालक का पुत्र नचिकेता यम से उलझ गया। उसे तो पिता ने क्रोध में केवल इतना ही कहा था कि, 'जा, मृत्यु को प्राप्त हो जा।' पिता के कहने मात्र से वह मर थोड़े ही गया था? वह तो अपनी इच्छा से मृत्यु का रहस्य या ज्ञान प्राप्त करने हेतु निकल पड़ा। हममें से कितने ही लोग द्वेष भावना एवं क्रोध भावना से यह चाहते हैं कि दूसरे लोग मर जायें। पर हम यह कभी नहीं सोचते कि हम कौन-सा अमरपट्टा कमर में बाँधकर घूम रहे हैं? मैंने एक वर्ष पूर्व दूरदर्शन पर एक विशेष समुदाय के लोगों को जब अपने देश के प्रधानमंत्री के विषय में यह कहते देखा कि, ''...मर जा तू।'' तो बड़ा दुःख हुआ। मुझे लगता है कि हमारे आसपास ऐसे बहुत-से लोग होंगे जो केवल घृणा से यह कामना करते होंगे कि हम मर जाएँ। पर क्या ऐसा संभव है? जब कोई मर जाता होगा तो क्या वास्तव में लोग खुशियाँ मनाते होंगे? मुझे कुछ दिनों पूर्व किसी ने यह बताया था कि नगर के एक व्यक्ति के मरने पर तुरंत प्रातः 11 बजे तक सभी मिठाई की दुकानों से पेड़े खत्म हो चुके थे। यह ठीक है, पर जिससे लोग प्यार करते हैं, ऐसे प्रिय मनुष्य के मरने पर वे लोग क्या करते होंगे? रोना, छाती पीटना, संताप करना आदि? कुछ लोग अस्पतालों को तोड़ते हैं। डॉक्टरों को पीटते हैं। हत्या हुई हो तो हत्यारों को दंडित करने के लिए लंबी अदालती लड़ाइयाँ लड़ी जाती हैं। कुछ स्वकीय मुआवजे को लेकर शांत बैठ जाते हैं। पर सावित्री की तरह अपने प्रिय के प्राण वापस लौटाने के लिए कोई यम का पीछा नहीं करता। जो अधिक प्यार नहीं करते, वे श्रद्धांजलि देते हैं। श्रद्धांजलि के चौराहों पर पोस्टर लगाते हैं। कुछ लोग तो आदरांजलि देते हुए क्या-क्या नहीं कहते हैं और तुरंत रात में सपरिवार होटलों में भोजन करने पहुँचते हैं।

वस्तुतः हम अपने परिवार के लिए बड़ा शून्य होते हैं और संसार के लिए छोटा शून्य। हमारे जाने से संसार की कोई अपूरणीय क्षति नहीं होती। होती है तो केवल हमारे परिवार की। फिर भी आज संसार में कोई किसी से इतना प्यार नहीं करता कि यम का पीछा कर सके। संसार राम के बाद भी चला है और आगे भी चलेगा। जो आपसे प्यार करते हैं, वह आपके अस्तित्व को कभी अस्वीकार नहीं करते। यदि संसार हमारा कितना भी गुणगान करे, हमें याद करे। चाहे प्रेम से हो या घृणा से पर हम केवल स्मृतियों में ही जीवित होते हैं। आत्मा, स्वर्ग, नरक, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म आदि मिथ्या कल्पनाएँ मात्र हैं या हो सकती हैं, क्योंकि यह केवल भारतीय चिंतन परंपरा का अंग है। पश्चिम में भी यह मान्यताएँ हैं, परंतु इनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। यह दृश्य नश्वर संसार ही वास्तविक है। मृत्यु काल्पनिक नहीं है। मृत्यु का वैज्ञानिक आधार है। हम दो ही स्थितियों में मृत घोषित किए जाते हैं, जब हमारा हृदय और मस्तिष्क काम करना बंद कर दे। परंतु रूप, स्पर्श, रस गंध एवं स्वाद के दैहिक एवं आत्मीय अनुभव से युक्त सुख की प्रतीति कराने वाला यह संसार तुच्छ नहीं है। 'कामायनी' में श्रद्धा से मनु क्यों ऐसा कहते हैं कि,

'तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
श्रद्धेय! वह भी कुछ है,
दो दिन के इस जीवन का तो
वही चरम सबकुछ है।'

प्रसाद की धारणा चाहे जो कुछ भी रही हो, पर वे यह तो मानते ही थे कि जीवन 'कुछ' तो है ही। कई प्रकार के औपचारिक संबंधों एवं दिखावेपन के बावजूद जीवन निजी स्तर पर एक अमूल्य निधि है। मैं सामान्य हूँ, आप सामान्य हैं, वह इसलिये कि हमारे जीवन में फुल स्टॉप है। आप संसार के लिए यदि कितने भी अपरिचित या अति परिचित हों, तो भी हैं तो आप शून्य ही। छोटा ही सही। परंतु दो दिन का आपका यह जीवन आपकी चरम उपलब्धि है।

❐❐❐

19.05.2021

दूसरों की आग में क्या रखा है?

ऊपर जो मैंने शीर्षक लिखा है उसमें 'आग' शब्द अधिक महत्वपूर्ण है। यह शब्द यद्यपि एक व्यंग्य ध्वनि है, जिससे एक विशेष अर्थ का बोध होता है, जो सूचित है। जिसे अंग्रेजी में 'Suggestive Meaning' कहा जाता है। यहाँ 'आग' से तात्पर्य है - संकट, दुःख, विपत्ति आदि। अर्थात् दूसरों के जीवन में जो संकट, दुःख, विपत्तियाँ आती हैं, तो उनके निकटस्थ लोगों का उनके प्रति व्यवहार किस प्रकार का होता है या होना चाहिए? क्या वास्तव में लोग अन्य लोगों के दुःख या संकट को अपना दुःख या संकट अनुभव कर सकते हैं? वर्तमान बाजारवादी युग में जी रहे हम सभी न तो एक-दूसरे का दुःख अनुभव कर पा रहे हैं और न सुख। हमारी एक-दूसरे के जीवन में उत्पन्न सुख एवं दुःख के विषय में प्रकट या अप्रकट प्रतिक्रियाएँ प्रायः असंवेदनहीन, औपचारिक, सहानुभूतिपरक एवं भावशून्य होती हैं। और क्यों न हो? क्या वास्तव में हम एक-दूसरे के दुःख या व्यथा को किसी भावुक प्रतिक्रिया के द्वारा कम कर सकते हैं? तो उत्तर है, नहीं! हमारे जीवन में उत्पन्न सुख एवं दुख हमारे जीवन के अभिन्न अंग हैं और नितांत व्यक्तिगत या निजी हैं। सुख और दुःख वास्तव में मनुष्य जीवन की मात्र अनुभूतियाँ हैं और समय के अनुसार इनकी तीव्रता और वेदना कम होती जाती है। कुछ दिनों पूर्व मेरा कुछ ऐसे अनुभवों से साक्षात्कार हुआ कि मैं अपने को थोड़े समय के लिए व्यवस्थित नहीं कर सका। कल 18 तारीख को मेरे दिवंगत मित्र को इस संसार को छोड़े हुए एक माह हुआ। कल उनकी पत्नी का मेरी पत्नी को फोन था। वह तो अभी तक यह स्वीकार नहीं कर पा रही थी कि मेरे मित्र और उनके पति अब इस दुनिया में नहीं है। अब उन्हें हम कैसे और किस तरह समझाएँ? अपने किसी प्रिय व्यक्ति के अचानक मृत्यु को प्राप्त होने से जीवन में जो असुरक्षा एवं रिक्तता उत्पन्न होती है, उसकी क्षतिपूर्ति किसी भी चीज से होना संभव नहीं है। पिछले दिनों एक प्रसंग मेरे पढ़ने में आया कि एक माँ अभी तक अपने युवा पुत्र की मृत्यु के दुःख से उबर नहीं पायी थी। वह अपने प्रिय एवं इकलौते पुत्र के वियोग का दुःख सहन न कर पाने की स्थिति में परिजनों की नजर बचाकर श्मशान में उस स्थान पर जाकर लेट जाती थी, जिस स्थान पर

उसके पुत्र का शव जलाया गया था। परिजन उसे प्रायः उस स्थान से किसी तरह घर उठाकर लाते थे और यह अब उनका नित्य का क्रम बन चुका था। रामायण में कथा मिलती है कि अपने पुत्र की मृत्यु की अनुभूति होते ही श्रवण बाल के वृद्ध माता-पिता ने तुरंत प्राण त्याग दिए।

अपने पति के वियोग में दुःखी एवं शोक संतप्त मेरी मित्र की पत्नी को समझाना अब हमारे बस की बात नहीं थी। हमारी सौभाग्यवती को यह समझ में नहीं आती थी कि उसके इस अनावर शोक को कैसे मिटाएँ? उसकी कैसे सहायता करें? क्या वास्तव में हम इस स्थिति में असहाय थे? तो हाँ! थे। अब देखिए न, हम दूसरों को कष्ट तो दे सकते हैं, पर कष्ट को ले नहीं सकते। हम ऐसी स्थिति में व्यावहारिक स्तर पर सहायता तो कर सकते हैं, पर आत्मीय स्तर पर नहीं। हम पैसे दे सकते हैं, भोजन और वस्त्र दे सकते हैं, समय भी दे सकते हैं, साहचर्य प्रदान कर सकते हैं, पर उनके अंतःकरण में उत्पन्न शोक एवं दुःख का हरण नहीं कर सकते। अपना जीवन नहीं दे सकते। यह हमारी विवशताएँ भी हो सकती हैं और असमर्थता एवं अक्षमता भी। उनका दुःख यह उनका दुःख है, हमारा नहीं और इस तरह हम नितांत व्यक्तिगत जीवन जीने के आदि हो चुके हैं। हमारी सामाजिकता अब केवल दिखावे की चीज रही है। हम केवल एक-दूसरे का उपयोग एवं उपभोग करते हैं, उपकार नहीं। पारिवारिक जीवन में परस्पर वियोग से उत्पन दुःख की तीव्रता से मुक्त होने की सीमा भी निश्चित नहीं की जा सकती। इस तरह के दुःख एवं पीड़ा से निपटने के मार्ग भी स्वाभाविक मार्ग ही है, कृत्रिम नहीं। हिंदी के प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' में इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला गया है। इसमें एक स्थान पर कहा गया है, ''दुःख स्वयं ही समय के साथ दूर हो जाता है। भिन्न प्रकृति के पुरुषों के साथ दुःख के दूर होने की अवधि भर ही भिन्न होती है। उसको कृत्रिम उपायों द्वारा उस अवधि के पहले ही दूर करना अवश्य अप्राकृतिक है।'' यह एक विलक्षण बात कही गयी है, जो सत्य भी है। प्रत्येक मनुष्य का मनोवैज्ञानिक स्तर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। कुछ लोग तो केवल बहते रक्त को देखकर ही भयभीत या बेहोश हो जाते हैं।

इस विषय में यह कहना यद्यपि थोड़ा आपत्तिजनक एवं अस्वाभाविक हो सकता है कि हम एक-दूसरे से इतना प्रेम न करें या परस्पर इतने निर्भर न हो जाएँ कि किसी एक की अनुपस्थिति में दूसरा जीवन ही न जी सकें। हमारी स्थिति तो कभी-कभी इतनी भी नाजुक हो जाती है कि केवल दुःख या बिछोह की कल्पना से ही हम मर जाते हैं। प्रेमियों के बारे में तो यह दुःख अकल्पनीय एवं असहनीय ही होता है। कुछ प्रेमियों के बारे में वियोग का दुःख इतना तीव्र एवं असह्य होता है कि दूसरे के जीवित होने की स्थिति में भी वे इसलिए दुःखी होते हैं या आत्महत्या तक कर जाते हैं कि प्रेमी के बिना उनके जीवन में कुछ शेष बचा ही न हो। वास्तव में दुःख, असफलता आदि से साहस के साथ से टकराने एवं जूझने का नाम ही जीवन है। दुःख जीवन को दिशा देता है। हिंदी में एक कवि ने कहा है कि दुःख जीवन को माँजता है। इसमें आपकी कोई सहायता नहीं कर सकता। यह बुद्ध ने क्यों कहा है कि दुःख है, दुःख का कारण है और दुःख को दूर करने का उपाय भी है। चित्रलेखा का जीवनदर्शन इस दुःख को दूर करने के उपाय के संदर्भ में संकेत करता है कि मनुष्य सुख और दुःख सहने के लिए बनाया गया है। किसी एक से मुख मोड़ लेना कायरता है। इसलिए उपन्यास का नायक यह निश्चय करता है कि चित्रलेखा के वियोग से उत्पन्न दुःख को वह साहसपूर्वक सहन करेगा।

देखा जाए तो मनुष्य जीवन में किसी प्रियजन के वियोग से उत्पन दुःख मानसिक दुःख का एक प्रकार है। शारीरिक व्याधि या चोट से उत्पन्न दुःख या वेदना से यद्यपि किसी एनेस्थेसिया के प्रयोग से मुक्ति पायी जा सकती है, पर मानसिक दुःख को कम करने के लिए समय का बीतना ही एक उपाय है। किसी कार्य में असफलता, धोखेबाजी, चोरी, विश्वासघात आदि से उत्पन्न दुःख यद्यपि कम तीव्रता के होते हैं और ऐसे मामलों में लोग एक-दूसरे की सहायता भी कर सकते हैं। पर मानसिक दुःख के मामले में पर्याप्त सहायता करना असंभव ही होता है। इसलिए अपनी विपत्ति या संकट के समय दूसरों के सुखों को देखकर अधिक दुःखी होना अनुचित है। कई बार तो दुःखी एवं शोकमग्न लोग यह सोचते पाये जाते हैं कि यह विपत्ति उनके जीवन में ही क्यों आयी? दूसरों के क्यों नहीं? तो क्या विपत्तियाँ लोगों को अपने मन से चुनती हैं? अगले क्षण अपने जीवन में क्या होगा, यह कोई नहीं कह सकता। मृत्यु का भी कारण होता है। मृत्यु जीवन की अंतिम परिणति है। यदि कोई किसी के मृत्यु का कारण बना हो या किसी की लापरवाही से किसी की मृत्यु हुई हो, तो इसे अस्वाभाविक माना जा सकता है। अपना जीवन जीना सभी का प्राकृतिक एवं मौलिक अधिकार है। कुछ दिनों पूर्व एक दक्षिण भारतीय फिल्म मेरे देखने में आयी थी। यह फिल्म एक ऐसे युवक की कहानी थी, जो अपनी अकाल एवं अस्वाभाविक मृत्यु के कारण को जानना

चाहता है। उसकी आत्मा इसलिए बेचैन होकर यह पता लगाने का प्रयास करती है कि वह कौन हत्यारा है? जिसने उसकी हत्या की। जीवन से बड़ा कोई उपहार नहीं है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपनी अस्वाभाविक एवं अकाल मृत्यु के कारण को जानना चाहेगा। और क्यों नहीं? असहाय अवस्था में हुई उसकी मृत्यु के लिए कोई तो जिम्मेदार है। पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े भी अपने जीवन को आनंद से जीना चाहते हैं। मनुष्य को अपने जीवन के साथ-साथ दूसरों के जीवन के प्रति भी जागरुक और संवेदनशील होना चाहिए। वह उसका दुःख है या संकट है, मेरा नहीं है, ऐसा कहकर हम सभी सुखी नहीं हो सकते। परंतु व्यक्ति को अपने दुःख को सहने की निजी क्षमता को भी विकसित करना चाहिए। मुझे भी अपने अब तक के व्यतीत जीवन में 2-3 बार कुछ संकटों का सामना करना पड़ा पर मैं लोगों की सहायता या सहानुभूति पर निर्भर नहीं रहा। पता नहीं क्यों यह शक्ति मुझे कैसे और क्यों प्राप्त हुई। वह कहते हैं ना कि यदि किसी आदमी को पानी में ढकेल दिया जाए तो तैरना सीख ही जाता है। परंतु ऐसा सभी के लिए संभव तो नहीं है। परस्पर सुख-दुःख का साथी बनना अत्यंत आवश्यक है। इसलिए ही 'कामायनी' में श्रद्धा मनु से कहती है, ''औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पावो। अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।'' इस बाजारवादी युग में हम अपने सुख को विस्तृत करने में असफल हुए हैं। हमने वास्तव में अपने-अपने सुखों का केन्द्रीयकरण कर लिया है। हम दूसरे के संकट या विपत्ति में अपना लाभ खोजने लगे हैं या फिर उससे उदासीन रहने लगे हैं। कोरोना जैसी भीषण विपत्ति के समय भारत की जनता को विश्व के सामने एक महान उदाहरण पेश करना चाहिए था, जो उसकी संस्कृति 'सर्वे सुखिनः भन्तु, सर्वे संतु निरामयः' का परिचायक है। पर समाचार-पत्रों में छपी खबरों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि हम यह उदाहरण पेश करने में पर्याप्त सफल नहीं हो पाये हैं। पता नही 'दूसरों की आग में क्या रखा है' इस प्रवृत्ति एवं संस्कृति ने भारत में किस छुपे द्वार से प्रवेश किया।

❐❐❐

30 मई, 2021

मैं भी कहीं कुछ गलत था

प्रायः किसी दुःखद प्रसंग या विपत्ति के समाप्त होने या बीत जाने पर हम उसकी अनावश्यक चिकित्सा करते रहते हैं और हर संभव इस प्रयास में रहते हैं कि इसका दोष केवल स्व-पक्ष को छोड़कर पर-पक्ष पर कैसे डाला जा सकता है। कोई यह स्वीकार नहीं करता कि वह भी कुछ जिम्मेदार है। भारत में जब से लोकतंत्र की स्थापना हुई है, तब से जनता को सरलता से भ्रमित करने का रास्ता हर राजनीतिक पार्टी या शासनव्यवस्था के प्रत्येक अंग ने अपनाया है। इसे जनता को मूर्ख बनाने के नुस्खों में रखा जा सकता है। जो इन नुस्खों के इस्तेमाल में अधिक प्रवीण होगा, वह उतना ही सफल राजनेता या अधिकारी माना जा सकता है। स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् कई ऐसे संकट इस देश पर आये और गये। इन संकटों के परिणामों को यहाँ की जनता के सबसे छोटे वर्ग ने सबसे पहले झेला या भोगा। पर यह संकट क्यों उत्पन्न हुए? इनके उत्पन्न होने में क्या राजनीतिक असजगता या अदूरदर्शिता जिम्मेदार थी? क्या व्यवस्था जिम्मेदार थी? क्या हमारे कामकाज में कहीं कुछ ढिलाई हुई? या त्रुटियाँ रहीं? क्या कहीं कुछ उदासीनता या असंवेदनशीलता भी इसके लिए जिम्मेदार रही? इसकी जाँच में आजतक किसी जाँच-आयोग की नियुक्ति नहीं हुई। कई मामलों में वास्तविकताएँ जनता से छुपाई गयी। मैं उन संकटों की बात कर रहा हूँ जिसके लिए मनुष्य जिम्मेदार है। यानी भारत के विभाजन से लेकर युद्ध, सामाजिक-धार्मिक असंतोष, दंगे-फसाद, सामूहिक हत्याएँ, बलात्कार, माफिया, डाकू, नक्सलवाद, आतंकवाद, औद्योगिक दुर्घटनाएँ, सड़क हादसे, सामूहिक अत्याचार एवं शोषण, जातीय हिंसा आदि। प्रायः जिस व्यक्ति के हाथ में शासन या सत्ता की बागडोर होती है, वह क्यों यह स्वीकार करेगा कि वह जिम्मेदार है? भोपाल दुर्घटना के लिए अभी तक किसे जिम्मेदार माना गया है? पंजाब और कश्मीर की बर्बर हिंसा के लिए कौन जिम्मेदार है? कोई व्यक्ति है? या कोई प्रवृत्ति है? प्राकृतिक आपदाओं के लिए आप ईश्वर को तुरंत जिम्मेदार मानते हैं। परंतु मानवीय त्रुटि या असावधानी से उत्पन्न संकटों की जिम्मेदारी लेने को हम तैयार नहीं है और न होंगे। संकटों से प्रभावित लोगों की क्षतिपूर्ति की व्यवस्था करके हम मानवीयता का भले ही प्रदर्शन

करने में सफल हो जायें पर हमारा भविष्य असुरक्षित ही है। मैं अपने जीवन में अपनी अब तक की गलतियों की जिम्मेदारी लेने में संकोच नहीं करूँगा।

मुझे यह कहना है कि मैं अपने परिवार के लिए इसलिए अधिक महत्वपूर्ण हूँ कि मेरे पास एक बेहतरीन नौकरी है। यह नौकरी मेरे परिवार की आर्थिक सुरक्षा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। यह नौकरी मैंने अपनी काबिलियत से प्राप्त की है और इसलिए मुझे अपने स्वयं पर गर्व भी है। मेरे परिवार के लिए उत्तम घर, भोजन, शिक्षा, स्वास्थ्य, शांति एवं सुरक्षा की व्यवस्था करने की मेरी जिम्मेदारी है। किसी पड़ोसी या मित्र या रिश्तेदार की यह जिम्मेदारी नहीं है। इसलिए मुझे अपने परिवार की बेहतरी के लिए सदा चौकन्ना रहना पड़ता है। मैं मेरे परिवार के लिए एक रथ की तरह हूँ। उदाहरण के लिए इस रथ को आप कुछ क्षणों के लिए यात्री ट्रेन समझ ले तो इसका मैं इंजन हूँ। अब इस ट्रेन में मेरा परिवार यात्रा कर रहा है और स्टेशन आने से 8 से 10 मील पूर्व ही किसी सुनसान जंगल में या कहीं घने अँधेरे में ट्रेन ठहर जाए या स्टेशन पर पहुँचने में असमर्थ हो तो मेरे परिवार पर क्या गुजरेगी? उन्हें किसी-न-किसी तरह अंधेरे में पैदल चलते और धक्के खाते हुए घर लौटना होगा। जिसकी कल्पना करना भी एक भीषण अनुभव से गुजरना है। वे तो इसलिए निश्चिन्तता से यात्रा कर रहे थे कि मैं हूँ। अब मैं अचानक से असमर्थ या फेल हो गया हूँ यानी मर गया हूँ तो उनकी जिंदगी बदल गयी है। वे एकदम से मेरे अस्तित्व या उपस्थिति के अभाव में भय, असुरक्षा और भविष्य के प्रति चिंता से प्रभावित हो गए हैं। पिछले सप्ताह जब मैं अपने घर की पीछे वाली कालोनी में किसी कारणवश गया तो मुझे बताया गया कि इन तीन घरों में पिछले माह कोविड की चपेट में आकर तीन मुखिया लोगों की मृत्यु हो चुकी है। एक घर की दीवार पर तो मैंने यह बोर्ड लिखा देखा कि यह घर किराए से देना है। सबकुछ समाप्त? क्या हमारी महिलाएँ इतनी दुर्बल हो गयी हैं कि हमारे बिना जी नहीं सकती? बच्चों को सँभालना, उन्हें प्रेम और सुरक्षा प्रदान करना क्या अब उन विधवा पत्नियों एवं माताओं की जिम्मेदारी नहीं है? क्या सिर्फ उन्होंने इसलिए नौकरी पेशा व्यक्ति से विवाह किया कि वे एक सुखमय एवं विलासी जीवन जीना चाहती थी? क्या वे नहीं जानती थी कि दुःख भी जीवन का अंग है। दुःख तो है। दुःख का कारण भी है और उसका उपाय भी। तो अब उन्हें इस दुःख का उपाय बुद्ध से पूछना चाहिए। किसी धर्मग्रंथ या दर्शनग्रंथ में इसका उपाय है, क्या यह देखना चाहिए। यदि है तो वह कैसा है? कठिन है या सरल है? उस पर चलने की अपनी क्षमता है भी या नहीं इसकी भी परीक्षा करनी चाहिए। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की भाषा में कहें तो देश केवल कागज पर बना नक्शा नहीं होता। देश केवल जमीन, नदियों, झरनों, वनों, पहाड़ों, गाँवों, कस्बों, शहरों और सड़कों से नहीं बनता। वह हम सबसे मिलकर बनता है। वह हमारे परस्पर आचरण एवं व्यवहार से बनता है। हमारी परस्पर संवेदनशीलता एवं विपरीत परिस्थितियों में एक-दूसरे को सहारा देने एवं मनोबल बढ़ाने से बनता है। किसी भी देश की सरकार या राजनीतिक पार्टी आपको संकट से उबरने की क्षमता प्रदान नहीं कर सकती। वह केवल मुआवजा दे सकती है। कई बार हम अपने जीवन की दुःखमय परिस्थितियों के लिए स्वयं जिम्मेदार होते हैं। मैंने अपने जीवन के 49 वर्ष के अनुभव से यह जाना है कि मुझे अब तक उसी व्यक्ति से दुःख या व्यथा का अनुभव हुआ है, जो मेरा निकटस्थ है या परिचित है। अपरिचितों से मुझे कोई विशेष कष्ट नहीं हुआ। और मैंने यह भी देखा कि ऐसे व्यक्तियों को निकटता प्रदान करने में मैंने जो पहल की थी, वह मेरी अक्षम्य गलती थी। मैं अब लोगों को निकटता प्रदान करने में एक शर्त रखना चाहता हूँ कि भाई, मेरे व्यक्तिगत जीवन पर किसी भी तरह की अच्छी या बुरी टिप्पणी मत करना। वह मेरा निजी क्षेत्र है। मुझे तुम अच्छा भी नहीं कहना और बुरा भी मत कहना। इच्छा हो मेरे जीवन में आपका स्वागत है।

❐❐❐

5 जुलाई, 2021
शिक्षा के मूल अन्वयार्थों की पड़ताल

इसे एक विलक्षण स्थिति और अनुभव ही कहा जा सकता है कि मैं उत्तम एवं दायित्वपूर्ण शिक्षा के भाव को समझने में कब सफल हुआ? मैंने अपने आयु के लगभग 21 वर्ष शिक्षा ग्रहण करने एवं लगभग 23 वर्ष शिक्षा प्रदान करने अर्थात् अध्यापकीय जीवन में व्यतीत किए और कर रहा हूँ। इस प्रकार उत्तम एवं सार्थक शिक्षा की खोज की दिशा में मेरी अपनी निजी स्थापनाओं की भी अपनी एक भूमिका बनने लगी है। साहित्य की शिक्षा प्राप्त करने एवं साहित्य का ही अध्यापक होने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ। इसे वास्तव में एक जोखिम लेना ही कहेंगे। इस तरह प्राध्यापकी के सर्वोत्कृष्ट स्तर पर पहुँचने पर मैं कुछ-कुछ ठीक ढंग से इस परिवेश को समझने लगा हूँ और अपना दायित्व समझता हूँ कि मैं इस विषय में कोई मौलिक एवं सार्थक टिप्पणी करूँ। इस संबंध में मैं सर्वप्रथम पश्चिमी विचारक एवं दार्शनिक प्लेटो के शिक्षा विषयक विचारों को रखना चाहूँगा। प्लेटो ने आज से लगभग 2400 वर्ष पूर्व यह विचार रखे। उत्तम शिक्षा के विषय में प्लेटो की स्थापनाएँ एवं विचार अत्यंत तार्किक एवं दूरदृष्टिपूर्ण थे। शिक्षा व्यवस्था एवं शासन व्यवस्था उनके विचारों के केन्द्र में थे। उन्होंने कहा - ''सभी मनुष्य आदर्श राज्य अर्थात् अच्छा शासन चाहते हैं, शासन अच्छा तभी हो सकता है, जब उसके नागरिक अच्छे हों, नागरिक तभी अच्छे होंगे, जब उनकी शिक्षा अच्छी होगी, अच्छी शिक्षा तभी संभव है, जब विषय अच्छे हों और विषय अच्छे वे ही हैं, जो तन और मन को अधिक से अधिक अच्छा बनाएँ। तन अच्छा हो अर्थात् स्वस्थ और सबल हो, मन अच्छा अर्थात् सुसंस्कृत और निर्भीक हो। इस प्रकार तन और मन के समुचित विकास के बाद ही अन्य विषय पढ़ाए जाएँ।''

प्लेटो के शिक्षा विषयक इन विचारों का सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशों ने स्वीकार किया। अपने राष्ट्र की शिक्षा को इसी मूल उद्देश्य के अनुरूप तैयार किया। शिक्षा का व्यापक राष्ट्रीयकरण किया और मूल रूप से और केवल शिक्षा से जुड़े लोगों को ही ऐसी व्यवस्था के संचालन में सहभागी किया। इस प्रकार अंतर्बाह्य रूप से पूर्ण अकादमिक लोगों को इसका नियंत्रक बनाया। हमारे देश की स्थिति बड़ी विचित्र है। यहाँ शिक्षा विषयक नीतियों का निर्माण एवं संचालन करने वाले लोगों में अशैक्षिक एवं अनाकदमिक लोगों का वर्चस्व है। प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च व्यवसायिक शिक्षा तक इन लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए शिक्षा का निजीकरण कर लिया है और विशुद्ध अध्यापक एवं अकादमिक लोग इनके सेवक या कर्मचारी के रूप में काम कर रहे हैं, जो यद्यपि संख्या में कम है। अच्छा, दूसरी बात यह है कि संख्या में अधिक एवं इनके साथ सहयोग से काम करने वाले अध्यापक या लिपिक लोग सरल एवं सुविधाजनक रोजगार की प्राप्ति में काफी चतुराई से इस क्षेत्र में प्रवेश कर चुके हैं। मैंने तो एक ऐसे प्रोफेसर को निकट से देखा जो यूजीसी से अनुदान प्राप्त करने को अपनी बड़ी उपलब्धि मानते थे। आवश्यक यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में श्रेष्ठ अकादमिक योग्यता धारण करने वाले लोगों का स्वागत एवं सम्मान हो जबकि छद्म अकादमिक योग्यता रखने वाले दबंग किस्म के लोग इसमें बहु संख्या में प्रवेश कर चुके हैं। दूसरी ओर शिक्षा प्रदान करने को एक बिजनेस के रूप में देखा जा रहा है। फैक्टरियों की तरह कच्चे माल को पक्के माल में बनाने और बेचने का मॉड्यूल बन गयी है, यह वर्तमान शिक्षाव्यवस्था। यहाँ शिक्षक एक यांत्रिकी की तरह काम कर रहे हैं, जिनमें चिंतन करने की क्षमता का अभाव है। समाज में भी उत्तम शिक्षा की व्यवस्थित वैचारिकी या भूमिका का अभाव है। राजनेता एवं धनिक वर्ग ने भारत में शिक्षाव्यवस्था को अपने नियंत्रण में कर लिया है, जो नितांत व्यवसायिक लक्ष्य प्राप्ति के हेतु से प्रेरित है। इस तरह अनेक प्रकार के अंतर्विरोध एवं दोष इसमें उत्पन्न हो चुके हैं। यह देश काफी बड़ा है, फिर भी शिक्षा की उत्तमोत्तम संभावनाओं की खोज में कुछ तो करना ही होगा।

❐❐❐

16 जुलाई, 2021
दूसरों की चीजें

मुझे दूसरों की चीजें प्रिय नहीं हैं और न ही वे मुझे शोभा देती हैं। मैंने कभी आजतक दूसरों की चीजों का इस्तेमाल नहीं किया। इसे कृपया आप मेरा घमंड न समझें और न ही उपलब्धि। यह मेरा भाग्य ही है कि कभी मुझे दूसरों की चीजों के लिए विवश नहीं होना पड़ा। आजतक मुझे अपने ईश्वर ने विवशता के कारण अपने स्तर से गिरने नहीं दिया। मुझे अपने द्वारा अर्जित या पैदा की हुई चीजों पर ही गर्व की अनुभूति होती है, चाहे वे मेरी सामान्य उपलब्धियाँ क्यों न हों। जैसे- शिक्षा, नौकरी, पत्नी, बच्चे, घर आदि। मेरा व्यक्तित्व और चरित्र यह मेरा निजी अर्जित किया हुआ है। एकदम असल और जैविक। मेरे इस व्यक्तित्व के प्रति कुछ लोग आपत्तियाँ दर्ज करते हैं, पर मेरा उनके बारे में मानना यह है कि वे नकल या दिखावा करके ही जीवन में आगे बढ़े हैं। वैसे जीवन में न कोई कभी आगे बढ़ता है और न पीछे रह जाता है। सभी लोग प्राप्त जीवन का प्राप्त संभावनाओं एवं अवसरों के अनुसार लाभ उठाते हैं और मजे करते हैं।

जो चीजें मैंने अपने जीवन में अर्जित नहीं की, वे एक तो मेरे लिए नहीं बनी थी या मेरे योग्य नहीं थी या फिर मैं उनके योग्य नहीं था। जिन चीजों को मैं प्राप्त कर सकता था यदि चाहता तो, मैंने उन्हें भी अपने लिए तुच्छ समझा। मुझे नहीं लगता कि मैंने किसी इंसान का अपने स्वार्थ के लिए लाभ उठाया हो। जब से कोरोना संक्रमण से स्वस्थ होकर मैं बाहर आया हूँ, मेरे जीवन की दिशा बदल गयी है। पिछले कुछ वर्षों में मैंने अपने बहुत ही करीबी और जाने-पहचाने लोगों को मरते हुए देखा। तब मैंने अनुभव किया कि जीवित लोगों में उनके प्रति केवल एक कोरी सहानुभूति मात्र है। मुझे लगा कि जीवन मृत्यु से कई गुना बेहतर है। आपका यह जीवन सम्मानजनक हो या अवहेलनीय, तिरस्कृत या असफल, जीवन का होना बहुत जरूरी है। मेरे एक फेसबुक मित्र ने लिखा भी है कि आपका जीवित रहना ही सबसे बड़ी उपलब्धि है। अब देश को आत्मबलिदान करने वाले लोगों की आवश्यकता नहीं है। अब आत्मोद्धार से संपन्न व्यक्तित्वों की इस देश को आवश्यकता है। ऐसे लोग जो पराई नार और पराए धन पर नजर न डालें। वर्तमान में देश में अयोग्य लोगों का उदात्तीकरण हो रहा है। ऐसे में यदि मैं कहता हूँ कि मैंने आजतक अपनी किसी उपलब्धि के लिए किसी और का उपयोग नहीं किया या शोषण नहीं किया, तो यह मेरे और मेरे परिवार के लिए गौरव की बात ही है। कल कुछ लोग यदि मुझे सम्मानित करने लगे तो मुझे आशंकित हो जाना चाहिए और यदि अपमानित करने लगे तो मुझे अपना आत्मविश्लेषण करना चाहिए।

बचपन में मुझे और मेरे छोटे भाई को कभी-कभी एक ही सूत के कपड़े से कमीज और पैंट सिलवाई जाती थी। तब भी कभी हममें कमीज के बारे में इंटरनल ट्रांसफर नहीं हुआ। विवाह के लिए हम दोनों को दो सगी बहनों का प्रस्ताव आया था। लड़की वालों को मुझमें अधिक रुचि थी, अतः वे उनकी बड़ी बेटी से मेरी शादी होने पर छोटी लड़की को छोटे भाई के साथ ब्याहने को तैयार थे। पर मुझे यह सौदा लगा तो मैंने क्षण के सौंवे हिस्से में इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। क्यों? उसमें कुछ बदबू आ रही थी। मुझे इस तरह की बदबू मित्रताओं में भी आयी पर मैंने मित्रों से विशेष अपेक्षाएँ ही नहीं रखी। मुझे अब तक के जीवन में यह अनुभूति हुई कि किसी से क्यों कोई संबंध दीर्घकाल के लिए आत्मीय नहीं बनाया जा सकता? फिर मैंने यह पाया कि मैं अपना लाभ नहीं लेने दे रहा हूँ। मेरे पास लेने की विवशता नहीं है, तो लौटाने की गनीमत भी नहीं है। मेरे दर पर बहुत आये पर हृदय में कितने? एक उसूल पसंद जीवन जीना बहुत कठिन होता है। मैंने यदि कहा कि यह सही है, तो है। आप लड़ना चाहते हैं, तो लड़ें। पर मेरी आपकी किसी भी चीज में कोई दिलचस्पी नहीं है। मेरी प्रोन्नति करने वाला मैं ही हूँ। कुछ लोग इस समझ से कोसों दूर होते हैं। जितनी गहराई में जाएँगे उतनी तड़फड़ाहट तेज होगी। जीने के लिए सिर्फ ऑक्सीजन की जरूरत नहीं होती। जिंदादिल, ईमानदार लोग और स्पष्ट परिवेश की भी होती है। आप एक अच्छा और उत्तम जीवन अच्छे और उत्तम लोगों के बीच ही पा सकते हैं।

❐❐❐

19 जुलाई, 2021
महामारी की सृजनकथा

यह चीन और उसका कोरोना कहाँ पर है? क्या दुनिया में इस रहस्य की कोई खोज कर रहा है? क्या कोरोना जैसी चमत्कारिक और रहस्यमय कोई भी महामारी दुनिया में इससे पूर्व कभी उत्पन्न हुई थी? हम सभी इस विषय का उत्तर चाहते हैं। हमें यह सब जानना है। क्या कोरोना विषाणु कोई राक्षस है या देवता? या कोई तिलस्मी जादूगर? दुनिया में इससे पूर्व प्लेग, डायरिया, डेंगू, स्वाइन फ्लू, मलेरिया, पीलिया, एड्स, कैंसर, हृदयरोग, ब्रेन ट्यूमर, उच्च रक्तचाप जैसी अनेक महा भयंकर बीमारियाँ अस्तित्व में थीं। अब वे कहाँ लुप्त हो गयी हैं? क्या किसी के पास इसका उत्तर है? कौन और कितने चरित्र हो सकते हैं, इस कोरोना प्रबंधकथा के? इन चरित्रों और खलचरित्रों के सृजनकर्ता कौन हैं? इस प्रबंधकथा का वास्तविक रचनाकार कौन है? जिसने इस कथा का सृजन किया है और जिन्होंने इस कथा को स्वीकार और मान लिया है, वे कितने हैं। जो इस सृजनकथा को अभी तक समझ नहीं पाए, वे बेचारे कितने हैं? असमंजस में पड़े इस सृजनकथा के सजग पाठकों की मौन बने रहने की वास्तविक समस्या क्या है? अब तो यह भी प्रमाणित हो चुका है कि भारत में चमगादड़ तो कोई नहीं खाता है और न कोई मेंढक खाता है और न वीभत्स इल्लियों को कोई खाता है। कुछ प्राणियों को तो मनुष्य ने इसी संदेह में मार दिया कि वे ही जिम्मेदार हैं। फिर इस सृजनकथा का वास्तविक नायक कौन है? एक कई मुकुटधारी विषाणु? जिसका चित्र हम सभी देख रहे हैं। यह एक ऐसा मनगढ़ंत चित्र हो सकता है, जैसे कुछ हिंदू या यूरोपीय देवी-देवताओं के चित्र होते हैं। जिनके वास्तविक स्वरूप को आजतक किसी ने नहीं देखा। यदि कोरोना खलनायक है, तो कोरोना से मुक्त होकर नाच-गाने के साथ जिनका स्वागत हो रहा है, उनका नायक कौन है? जो मर चुके हैं, उनका ही वास्तविक खलनायक कोरोना है क्या? हम क्या सबसे बड़ी ऐतिहासिक मूर्खता की ओर बढ़ रहे हैं? मैं इसे भूल तो कह ही नहीं सकता। क्या आप इसकी कुछ परिभाषा को गढ़ सकते हैं? सही या गलत? नहीं? तो इसका उत्तर समय ही देगा। मैं एक विवश जीव हूँ। आप सब समझदार हैं और एक अच्छा समझदार व्यक्ति साबित होने के लिए आज्ञाकारी और कायर होना सबसे बड़ी शर्त है। कुछ खास वर्ग के लोगों को तो कोरोना छू भी नहीं रहा है और गलती से छू भी लिया तो पछता रहा है। आप इस सृजनकथा के नायक बिलकुल न बनें।

यह प्रविष्टि मैंने पिछले वर्ष 19 जुलाई, 2020 को लिखी थी। कितना कुछ बदल गया है, इन दिनों। कोरोना विषाणु ने पिछले कुछ माहों में अत्यंत क्रूरता से झपट्टा मारकर कई स्वस्थ एवं जिंदादिल लोगों को निगल लिया है। उनके परिजन तो यह समझ ही नहीं पा रहे हैं कि उनके साथ यह त्रासदी क्यों हुई? किसके पास इस प्रश्न का उत्तर है। मेडिकल साइंस तो उन्ही लोगों को बचा पाया, जो बचने की स्थिति में थे। ऐसे कितने लोगों को चिकित्सकों ने बचाया जो मरने की हालात में थे? जो जिंदा रह सकते थे, ऐसे कितने ही लोग मारे गए। पिछले सप्ताह मैं अपनी कई सारी मेडिकल टेस्ट के लिए शहर के सबसे बड़े अस्पताल में गया था। वहाँ के एक कर्मचारी ने बताया कि हम जिन लोगों को कुछ ही घंटों में डिस्चार्ज देने जा रहे थे, वे अचानक खत्म हो गए। क्यों? कैसे? इसका उत्तर कोई नहीं खोज रहा है। यह कोरोना तो रहेगा। यह पहले भी था। अदृश्य था और रहेगा। रूप बदलेगा। संरचना बदलेगा। वैज्ञानिक कह रहे हैं कि इसका वेरिएंट बदल रहा है। भाई, कोई आजतक मनुष्य के अदृश्य दुष्ट रूप को पहचान सका है। हर बीस साल बाद लोगों का भी वेरिएंट बदल रहा है। 20वीं सदी के मनुष्य का वेरिएंट क्या है? पता है? विवश करो। छलो। लाभ उठाओ। चवन्नी दो और रुपया पाओ। भाई, न्याय तो होना चाहिए।

इस दुनिया में कोई भी व्यक्ति या वस्तु अतिविशिष्ट या सर्वश्रेष्ठ नहीं है। न कोई धर्म, जाति, वर्ग या समुदाय। इस दुनिया को प्रतिक्षण सर्वोत्तम बनाने में सहायक सभी चीजें श्रेष्ठ हैं। कीट-पतंगे भी। आप स्वयं यह देखें कि सूर्य, चंद्र, अन्य ग्रह, तारे, वायु, जल, अग्नि, आकाश और धरती में परस्पर कोई संघर्ष नहीं है। वास्तव में श्रेष्ठता का अहं एवं वर्चस्व की उद्दंड कामना ही इस संसार की वास्तविक समस्या है और मनुष्य इसके केन्द्र में है। शेर जंगल का राजा है, यह भी मनुष्य की ही कल्पना है, शेर की नहीं। शेर तो केवल अपनी आवश्यकताओं तक ही एवं स्वभाववश ही क्रूर एवं हिंसक है। उसमें मांस के संग्रह की अभिलाषा नहीं है। मांस शेर की संपत्ति नहीं है और न ही जंगल उसका राज्य। परंतु मानव समूह में संपत्ति की एक सुव्यवस्थित परिभाषा निश्चित की गयी है। मानव समुदाय में मूल्यों एवं नैतिकताओं की भी एक प्राचीन व्यवस्था एवं

कल्पना की गयी है, जो जंगल में नहीं है। फिर भी जंगल उतना क्रूर या अनैतिक नहीं है, जितनी कि हमारी बस्तियाँ, गाँव, शहर, महानगर आदि। हमारी बनायी हुई संस्थाएँ भी दोगली हैं, जबकि जंगल में दोगलापन नहीं है। क्या ऐसा हो सकता है कि नैतिक-अनैतिक, न्याय-अन्याय, हिंसा-अहिंसा के द्वंद्व से परे भी दुनिया की वर्चस्वहीन, प्रतियोगिताहीन, शांतिपूर्ण एवं परस्पर सहयोग से युक्त छवि को साकार करना संभव हो?

❐❐❐

20 जुलाई, 2021

हिंदी में पढ़ाई करना क्या जोखिम लेना है?

सच देखा जाए तो पारंपरिक पढ़ाई-लिखाई करने से कुछ नहीं होता। उसमें भी ऐसी पढ़ाई जो आपको नैतिक बल मात्र प्रदान करे और लिखने-पढ़ने तक सीमित कर दे। आपके भूखे मरने एवं घुटनभरी जिंदगी का कारण बन जाती है। इस तरह के शिक्षाप्राप्त लोगों के लिए सम्मानजनक आजीविका प्राप्त करने का साधन केवल अध्यापकी है। अध्यापकी में वस्तुतः एक ऐसी ठोस व्यवस्था होनी चाहिए, जो केवल शिक्षानुरागी, उत्तम चरित्र, नैतिक बल एवं साहस से युक्त लोगों को खोजकर अपने में समाविष्ट कर सकें और उन्हें सुरक्षा भी दे सकें। जिन्हें रोजी-रोटी की चिंता न सता सके। अध्यापक को नेता या शासक के चुनाव की शक्ति उपलब्ध होनी चाहिए, जैसे चाणक्य को थी। वर्तमान युग में इस तरह की शिक्षा का अभाव एवं अध्यापकों की दुर्दशा एक बड़ी समस्या है। समाज की परंपरागत शिक्षा की ओर देखने की दृष्टि अत्यंत क्षोभजनक है। इसके कारण इस तरह की शिक्षा ग्रहण करने वालों में हीनताबोध उत्पन्न होता है। मेरे महाविद्यालय में एक विज्ञान के प्राध्यापक कुछ दिनों पूर्व इसी तरह हिंदी के विषय में कह रहे थे कि हिंदी में पढ़ाई कर आदमी क्या बनता है? क्या कुछ उत्तर है, आपके पास? यही प्राध्यापक तीन-चार वर्ष पूर्व अपनी बेटी के विवाह की निमंत्रण पत्रिका का हिंदी में एक उम्दा ड्राफ्ट बनाने हेतु मेरी सहायता ले रहे थे। वे स्वयं किसी तरह जुगाड़ कर प्राध्यापक बने। नहीं तो ट्यूशन ले रहे होते।

मैंने भी जब विज्ञान की पढ़ाई छोड़ दी और हिंदी में पढ़ने का निर्णय लिया तो कितनों ने मेरा मजाक उड़ाया। तब मैंने किस उम्मीद और निष्ठा से पढ़ाई की, इसे मैं ही जानता और समझता हूँ। उस समय मुझे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला, जिसने मुझे हिंदी में पढ़ने के प्रति प्रोत्साहित एवं आश्वस्त किया हो और यह कहा हो कि हिंदी में मैं अपना एक आकर्षक भविष्य बना सकता हूँ। मैं तब आगे विज्ञान में पढ़ाई जारी रखकर डॉक्टर या इंजीनियर बन सकता था। आज समाज में डॉक्टर या इंजीनियर अध्यापक से ज्यादा सम्मानित दृष्टि से देखे जाते हैं। वे इसलिए भी कि लोगों को लगता है कि पता नहीं यह व्यक्ति जीवन में कहाँ और कब काम में आ जाये। पर मैं यह पूछता हूँ कि क्या केवल डॉक्टर,

इंजीनियर, वकील, सी०ए० बनाना ही वर्तमान शिक्षा का उद्देश्य है? लोगों के लिए अध्यापक क्यों अनावश्यक प्रतीत होता है? केवल अध्यापकों का वेतन बढ़ा देने से शिक्षा के स्तर में सुधार नहीं हुआ, बल्कि ऐसा वर्ग इस पेशे में चालाकी से आ चुका है, जो केवल सरलता से धन कमाने का इसे एक उत्तम क्षेत्र मानता है। खैर, यद्यपि आजतक मेरे मन में हिंदी के कारण कोई हीनताबोध उपजा नहीं है और न उपजेगा। मैंने कई विज्ञान के प्राध्यापकों से बातचीत में यह अनुभव किया है कि मुझमें उनकी अपेक्षा अधिक आई क्यू हैं और नैतिक-तार्किक दृष्टि भी। कइयों को तो मैंने निपट अंधविश्वासी एवं अति धार्मिक देखा है। उनमें वैज्ञानिक भावबोध केवल नाममात्र का और अहं हिमालय की चोटी से ऊँचा है। अच्छा, मुझे यह नहीं कहना है कि मैं विज्ञान के प्राध्यापकों से श्रेष्ठ हूँ।

कुछ इसी तरह अंग्रेजी पढ़ने या बोलने वाले लोगों में भी अपने उत्कृष्टता की बीमारी फैली हुई है। इसमें एक निजी प्रसंग मुझे कहना है, जो मैं कभी नहीं भूला। मुझे बड़ौदा से अपनी ही जाति से एक विवाह का रिश्ता आया था। वह लड़की जे०एन०यू० से अंग्रेजी में एम०ए० थी। मैं माँ और अपने एक परिचित के साथ रिश्ता देखने गया था। तब लड़की ने मेरे साथ अंग्रेजी में बातचीत शुरू की। मुझे भी कुछ सामान्य काम चलाऊ अंग्रेजी बोलना आता था। परंतु मैं यह नहीं समझ पा रहा था कि जब मैंने इन्हें बताया है कि मैं हिंदी का प्राध्यापक हूँ, तब यह बीच में अंग्रेजी कहाँ से ला रहे हैं? अच्छा, लड़की के पिता का अब तक का मुझसे पत्राचार केवल अंग्रेजी में हो रहा था। लेकिन मुझे यह नहीं पता था कि इन्हें अंग्रेजी का इतना नशा होगा। मुझे पहले ही समझ जाना चाहिए था। गलती तो मेरी ही थी। अंततः जब उन्होंने मेरे सामने यह प्रस्ताव रखा कि क्या मैं विवाह होने पर जलगाँव नहीं रह सकता, तो मैंने केवल एक शर्त के साथ हाँ कहने पर उन्होंने जयपुर के एक वरिष्ठ समाज-सेवी से मेरे प्रति नाराजगी व्यक्ति की। अंग्रेजी ने मेरी यहाँ पर सहायता की। दूसरा प्रसंग इस प्रसंग से पूर्व का है, जब मैं धोखे से एक विजातीय विवाह बंधन में अड़कने जा रहा था। वह लड़की एक दिन एक मराठी भाषा का प्रारूप मेरे पास लेकर आयी और कहने लगी कि पिताजी ने कहा है कि कुबेर से इसका अंग्रेजी अनुवाद करने को कहना। मैं तब कुछ समझा नहीं। उन्हें तो मुझसे हिंदी में अनुवाद की बात करनी चाहिए थी अंग्रेजी क्यों? संभवतः तब मैंने बेमन से और निकृष्ट अनुवाद किया था। इस परीक्षा में मैं जाहिर है, फेल हुआ। यहाँ पर भी अंग्रेजी ने मेरी सहायता ही की।

लेकिन मुझे कुछ तो समझना चाहिए था। विश्वविद्यालय में भी कुछ अधिकारी जानबूझकर स्टीरियोटाइप अंग्रेजी बोलते हैं और मैंने इतनी कार्यसाधक अंग्रेजी तो सीख ली है। पर मैं यह समझ नहीं पा रहा हूँ कि विज्ञान या केवल अंग्रेजी में ही शिक्षा पाकर सफल बना जा सकता है, यह धारणा किसने बनायी? मेरे दिवंगत ससुर जी ने ऐसी मेरी कोई अंग्रेजी में परीक्षा नहीं ली। वे तो सीधे-साधे व्यक्ति थे और बहुत कम बोलते थे। नहीं तो पता नहीं मेरा वैवाहिक भविष्य क्या होता? यह सच है कि मेरे हिंदी प्राध्यापक होने से कुछ लोगों को अपनी विज्ञान या अंग्रेजी में पढ़ी-लिखी बेटियों का विवाह मुझसे करना थोड़ा-सा प्रतिष्ठा में बाधक प्रतीत हुआ था।

हिंदी भाषा और साहित्य में पढ़ाई का जोखिम लेना यद्यपि मेरी बड़ी भूल ही थी। मैं लेक्चरर के रूप में जब 2001 में नियुक्त हुआ, तब मुझे केवल सरकारी नियमों के कारण इसका लाभ हुआ। किसी भी तरह की सरकारी नौकरी का अदद सपना भी मैंने नहीं देखा था। यदि मेरे पढ़ाई के सरकारी नियमों द्वारा रक्षण नहीं होता तो मुझे कहीं मजदूरी ही करनी थी या अदद-सी जी-तोड़ मेहनत से भरी किसी मील की नौकरी। मेरे पिता भी मजदूर थे। वे अध्यापकीय पेशे में घुसने के हुनरों से अपरिचित थे और अब भी हैं। उन्हें लगता है कि मैंने केवल अच्छी शैक्षिक योग्यता के कारण प्राध्यापकी पायी पर ऐसा नहीं है। कुछ बदमाश किस्म के व्यक्तियों ने तो मेरी प्रोन्नतियाँ भी रोकने की कोशिश की, पर हुआ कुछ नहीं। धूर्तता से उपलब्धियों को हासिल करने में मैं तो अब भी अपने आपको एक पिछड़ा हुआ आदमी मानता हूँ। मुझे यह कहना था कि निष्ठा से पारंपरिक शिक्षा प्राप्त युवकों के लिए जो निपट दरिद्रता से संघर्ष कर पढ़-लिखकर अध्यापकी के सामान्य रोजगार तक पहुँचे हैं, उन्हें कैसी सहायता की जा सके कि वे उतनी ही सरलता एवं नैतिकता से इस क्षेत्र में प्रवेश कर सके? भारतीय भाषाएँ एवं साहित्य के प्रति तो केवल सरकारें ही कुछ कर सकती हैं। कई बार हिंदी में प्रवेश ले चुके छात्र-छात्रा इस भय से प्रवेश निरस्त कर देते हैं कि हिंदी में कोई भविष्य नहीं। मैं कई बार उन्हें इस विषय में पर्याप्त मार्गदर्शन करता हूँ पर देखता हूँ कि यह सोच उनके माता-पिता से हावी हैं। जहाँ तक अध्यापकी में जाने की बात है, मैंने आजतक नहीं देखा कि कोई योग्य युवक जो घर से नितांत गरीब हो और फिर भी अध्यापक बन गया हो। इन हालातों को कैसे सुधारा जा सकता है? केवल 1 या 2 प्रतिशत युवा ही इस पेशे में नैतिक राह से अत्यंत कठिनता से प्रवेश

करने में सफल होते हैं। एक छुपी हुई समांतर व्यवस्था प्राचीन काल से है, जो इस देश में प्रतिभावों के साथ खिलवाड़ कर रही है। यह व्यवस्था धन और सत्ता से पूरी तरह सशक्त है। लोग इस व्यवस्था के साथ तालमेल बिठाकर ही जीवन जीना हितकर समझते हैं। क्यों? इसका उत्तर किसी को तो देना चाहिए या नहीं?

❐❐❐

21 जुलाई, 2021

सर्वोत्तम कार्यसंस्कृति और लोग

मनुष्य एक कार्यशील प्राणी माना जाता है। पशुओं में और मनुष्य में अंतर करने वाला यह सर्वश्रेष्ठ आधार माना जाना चाहिए। पशु किसी भी तरह का कार्य नहीं करते। केवल कुछ कीटक एवं पक्षियों में यह गुण पाया जाता है, जैसे- गौरैया, बया, चींटी, मधुमक्खी आदि। बंदरों द्वारा घर बनाने की एक बाल कहानी मैंने बचपन में कहीं पढ़ी थी, पर मैंने आजतक नहीं देखा कि बंदरों ने अपना कोई घर बनाया हो। बंदर आज भी पेड़ों पर जाड़े में ठिठुरते और वर्षा में भीगते पाए जाते हैं। केवल इसी अवलोकन के कारण मुझे डार्विन की वह थ्योरी असंगत लगती है कि बंदर से मनुष्य का विकास हुआ। अच्छा तो मुझे यह कहना था कि मनुष्य आदिम काल से नित्य कार्य संलिप्त प्राणी माना गया है। उसके इसी गुण या क्षमता के कारण मनुष्य ने अद्‌भुत प्रगति एवं उन्नति की है। मनुष्य की कार्य संस्कृति का जैसे-जैसे विकास हुआ, वैसे-वैसे उसमें एक व्यवस्था स्थापित करने के प्रयास भी हुए। मनुष्य ने अपनी रुचि, ज्ञान, कुशलता, क्षमता आदि के अनुसार अपने-अपने कार्यों का चयन कर लिया। जब इन कार्यों का चयन किया गया, तब संभवतः कोई कार्य छोटा या बड़ा, अच्छा या बुरा, हल्का या ऊँचा नहीं माना जाता होगा। मैंने जब अपने घर का काम कर रहे कारीगर एवं मजदूरों का अवलोकन किया तो पाया कि वे अपने इस कार्य में अत्यंत रुचि ले रहे थे और प्रसन्न थे। बल्कि उस काम को और अधिक उत्तम कैसे किया जा सकता है, इसके बारे में सोचते थे और मुझे सुझाव भी देते थे। यद्यपि मेरी दृष्टि में उनका यह ईंट, सीमेंट, पानी, धूल, कीचड़ से भरा काम कोई सुंदर काम तो नहीं था। ठीक उसी तरह बकरे या मुर्गियों को काटकर उनका मांस बेचने वाले खटिक। मैंने इस तरह से कई लोगों को जैसे- सीमेंट की बोरियाँ ढोने वाले, साग-सब्जियाँ बेचने वाले, घर-घर जाकर बर्तन, साड़ियाँ, दालमोठ बेचने वाले, रद्दी-भंगार आदि खरीदने वाले लोगों का निरीक्षण किया तो पाया कि वे अपने इस काम से बेहद खुश थे। मैंने यह भी अनुभव किया कि वे इसलिए प्रसन्न नहीं थे कि कुछ ज्यादा ही पैसा कमा रहे थे, बल्कि इसलिए प्रसन्न थे कि कार्य में व्यस्त थे और धन कमाने का स्वाभाविक अनुभव प्राप्त कर रहे थे। मनुष्य को धन कमाने का

स्वाभाविक अनुभव मिलना चाहिए। चतुराई से, सरलता से, धोखे से, ठगी से धन प्राप्त करने वाले लोग सदा भयभीत, चिंतित और दुखी पाए जाते हैं। उनका यह काला धन अशुभ, अनावश्यक एवं अशोभनीय कृत्यों में नष्ट हो जाता है।

मुझे यह कहना था कि जब से मनुष्य जाति में कार्यसंस्कृति एवं व्यवस्था का उदय हुआ तो जीवन की दिशा बदल गयी और मुद्रा अर्थात् चलन की खोज की गई। संपत्ति के मूल कारकों को खोजा गया। सोना, चाँदी, अन्न, पशु, जमीन तथा अन्य धातु आदि के लेन-देन से कार्यसंस्कृति में गति आयी। अब मनुष्य के लिए स्वयं कार्य करने की अनिवार्यता नहीं रही और यहीं से मनुष्यजाति में जिसे आप पाप कहें, नरक कहें, बुराई कहें का प्रवेश हुआ। यहीं से सबकुछ बिगड़ता चला गया। शक्ति संपन्न, धनिक, अय्याश एवं कामचोर लोगों ने काम करने वाले गरीब श्रमिक, प्रामाणिक, प्रतिभाशाली एवं सरल लोगों का शोषण करना आरंभ कर दिया। आज इस शोषक एवं अभिजात वर्ग के रहन-सहन एवं उपलब्धियों को देखकर हर कोई उसके जैसा बनाना चाहता है। क्या इस तरह हर व्यक्ति के लिए इस वर्ग का रोल मॉडल बन जाना क्या सही है? हमारे पास इतना धन हो गया है कि बस हमें खाए हुए अन्न को पचाने में भी कष्ट होता है। हमें लगता है कि अन्न पाचन कराना भी एक काम है और इसे हम क्यों करें? क्या हमारा यह काम भी कोई दूसरा करके नहीं दे सकता? हम उसे इस काम के पैसे देंगे।

काम करना जरूरी है भाई! किसी को पूछा कि यह काम क्यों नहीं किया? तो वह हमें डाँटता है कि तुझे क्या करना है? काम करने के क्या तू मुझे अपने जेब से पैसे दे रहा है? वह सरकार जाने और मैं जानू। तू कौन है भाई? जानता है मैं किस जाति और वर्ग का हूँ? इस कार्यक्षेत्र के सभी लोग मेरे परिचित एवं रिश्तेदार हैं। इन सभी के उल्टे-सीधे काम करवाने में मेरी भूमिका रहती है। मेरे ऊपर तक संबंध हैं। अब ऐसे कामचोर आदमी का मैं क्या कर सकता हूँ? जिसे करना चाहिए और जिसे इसी काम की देख-रेख एवं प्रबंधन के लिए नियुक्त किया है, वह चुप और मौन बैठा है तो किया क्या जा सकता है? ऐसा यदि किसी कार्यक्षेत्र में हो रहा है, तो वह एक मृत कार्यक्षेत्र है। वहाँ कोई भी कार्य नहीं होगा, परंतु ऐसा दिखता रहेगा कि कार्य चल रहा है - वर्क इन प्रोग्रेस। इस तरह के कार्यक्षेत्र में प्रामाणिक, प्रतिभाशाली, कार्यतत्पर एवं कुशल लोगों की विशेष कदर नहीं होती है। वे यदि ऐसे क्षेत्र में आ भी जायेंगे तो उनका दम घुटेगा या उनकी उपेक्षा की जाएगी। वे यदि कुछ अच्छा सुझाव भी दें तो उसे नकार दिया जाएगा। यदि वे किसी कार्य पर कोई टिप्पणी करें तो उसे आपत्तिजनक माना जायेगा। टिप्पणीकार को प्रताड़ित एवं अपमानित किया जाएगा। टिप्पणीकार यह समझ ही नहीं पायेगा कि उसने गलत क्या कहा है? परंतु अरे बुद्धू ईमानदार आदमी! तू यह क्यों नहीं समझ रहा है कि इन लोगों के अहम के आगे तू अदना-सा है। उच्चशिक्षा और अधिक धन गधे को भी घोड़े के रूप में स्वीकार किये जाने की कलयुगी शर्त है। गोस्वामी जी ने ऐसे ही 15वीं सदी में नहीं कहा कि 'हंस चुगेगा धुन का दाना कौआ मोती खायेगा' आपको सौ में से सौ लोग यह सलाह देंगे कि भाई, अब जब आपको कौओं के बीच में रहना ही है तो कौओं की बाते मानो, उनकी हाँ में हाँ मिलाओ। पर क्या हनुमान जी आधुनिक युग की लंका जलाएँगे?

यदि आपने अपने घर में उत्तम कार्यसंस्कृति का निर्माण कर रखा है, तो आप अपने बेटे, बेटी और पत्नी द्वारा कही गयी कोई अच्छी बात या सुझाव को स्वीकार करेंगे कि नहीं? या उन्हें डांटेंगे? स्वीकार करने पर या अपने में कोई दुर्बलता या कमी दिखाने पर यदि आपने उनका यथोचित स्वागत ही किया तो वे आपकी इस उदारता से प्रभावित होंगे। इस तरह उनके कहने पर यदि आपने अपने में कोई परिवर्तन या सुधार कर भी डाला तो वह एक आदर्श कहलायेगा। 15 दिन के बाद मायके से लौटी पत्नी यदि आपको यह कहे कि तुमने तो मेरे जाने के बाद घर को एकदम कूड़ा बना दिया है। कितना गंदा कर दिया है घर तो क्या आप पत्नी को तलाक दे देंगे? उसको कोर्ट-नोटिस देंगे कि उसने आपके मान-सम्मान को धक्का पहुँचाया है। वह भी इसलिए कि आप उसके स्वामी हैं और आपकी खामियाँ दिखाने का पत्नी को कोई अधिकार नहीं है। बेचारी पत्नी को यह समझ जाना चाहिए कि इस जाहिल में अपना पति बनने की कोई योग्यता नहीं है। मुझे तो आजतक ऐसा कोई मित्र नहीं मिला, जिसने मुझे यह बताया हो कि तेरे में यह एक ऐसी दुर्बलता है। यदि इस पर विजय पा लो तो तुम्हारे चरित्र में और भी निखार आएगा। मैं लगभग डेढ़-दो सालों से फेसबुक पर कुछ-न-कुछ कच्चा-पक्का लिखता आ रहा हूँ। केवल एक बार एक वरिष्ठ सज्जन महोदय ने टिप्पणी की कि यह ठीक नहीं लिखा। पर आजतक उन्होंने मेरी किसी अच्छी फेसबुक पोस्ट के बारे में कभी कोई प्रेरक टिप्पणी नहीं की। क्यों? जब उन्हें मेरे भीतर कुछ बुरा दिखाई दिया तो कुछ अच्छा क्यों नहीं दिखाई दिया? उन्होंने तो कभी लाइक का अँगूठा भी नहीं दबाया। प्रशंसा और आलोचना स्वस्थ और अस्वस्थ दोनों प्रकार की होती है। यह वास्तव में उस स्थान पर काम कर रहे लोगों

के कार्य चरित्र एवं कार्यसंस्कृति पर निर्भर करता है कि वे अपने जूनियरों को प्रोत्साहित करेंगे या निरुत्साहित। आपको इसकी कतई चिंता नहीं करनी चाहिए कि किसने क्या कहा और क्यों कहा? इस तरह के लोग आपकी प्रतिमा को भी बिगाड़कर पेश करेंगे। पर आपको अपनी चारित्रिक दृढ़ता, सजगता एवं निडरता पर डटे रहना चाहिए। एक पेड़ पर चमगादड़ों की भारी बस्ती थी। जब मैं उस पेड़ के नीचे किसी से बातें कर रहा था, तो चमगादड़ों की आवाजों में मेरी बात ठीक से पहुँच नहीं रही थी या ठीक से सुनी नहीं जा रही थी।

❐❐❐

28 जुलाई, 2021

बस यह मुलाकात एकतरफा न हो

जीवन में ऐसे बहुत सारे क्षण होते हैं, जो आते हैं और चले जाते हैं। एक क्षण दूसरे ही क्षण स्मृति या अतीत का हिस्सा बन जाता है। मैं प्रायः इन क्षणों को बड़ी बेबसी से देखता रह जाता हूँ और खिन्न हो जाता हूँ कि यह अगले क्षण ही सबकुछ पीछे पड़ जाने वाला है। एक अजीब-सी बेचैनी होने लगती है। सभी चीजें क्षणजीवी अनुभव होने लगती हैं और मन चाहता है कि इन सभी से अभी जी भरकर प्यार कर ले। कैसे कर ले? बहुत कुछ खाली-खाली, अधूरा-अधूरा-सा रह जाता है। बीते 49 वर्षों में अच्छे-बुरे सभी क्षण आज मुझे प्यारे-प्यारे से लगने लगते जा रहे हैं? अत्यंत कष्ट, व्यथा, पीड़ा, संघर्ष, अवहेलना, उद्विग्नता, निराशा, असफलता, अभाव के साथ-साथ सुख, प्रसन्नता, सफलता, प्रेम, संपन्नता और शांति के अनगिनत क्षण एकांत में आसपास मंडराने लगते हैं। इस तरह जीवन कुछ-कुछ अपना-अपना-सा लगने लगता है। मैं केवल अकेला ही अपने जीवन का आनंद नहीं उठा सकता। कितने ही लोग मेरे निकट, कुछ दूरियों और कुछ लंबी दूरियों पर अपने-अपने स्तर पर जीवन का आस्वाद ले रहे हैं। मैं अपने जीवन के निकटस्थ लोगों के जीवन में किसी भी प्रकार का कोई हस्तक्षेप किए बिना ही और कई सारी अपेक्षाओं और शिकायतों के बावजूद कैसे नित्य प्रसन्न रह सकता हूँ? इसके लिए क्या मुझे कुछ कृत्रिम या बनावटी आनंद के क्षण निर्मित करने पड़ेंगे? जैसे- पार्टियाँ, बर्थ-डे, वीक-एंड यात्राएँ, मिठाइयाँ लाना, बाजार में खरीदारी के लिए जाना आदि। मुझसे यह नहीं हो सकता। केवल बिना पैसे खर्च किए यदि आधे-एक घंटे की आत्मीय मुलाकात और बातचीत में मैं किसी के भी साथ खुश हो सकता हूँ तो हो सकता हूँ। बस यह मुलाकात एकतरफा ना हो और इसका स्तर परस्पर भाव, विचार, अनुभूति एवं आवश्यकता के अनुरूप हो। पत्नी और मैं, विवाह के बाद मुश्किल से ऐसे क्षण आये हों, जब हम लगातार 1-2 घंटे एक-दूसरे से बातचीत करते बैठे हों। पर अब कुछ दिनों से हम ऐसी बातें करने लगे हैं। मैंने कई बार कहा भी कि ऐसा कोई दिन नहीं जाता, जब हमसे न्यूनतम सौ-दो-सौ रुपये खर्च न हुए हों। क्या हम बिना पैसे खर्च किए चार-छह दिन एक निपट स्वाभाविक जीवन नहीं जी सकते? हम धन पर कितने आश्रित

हो गए हैं। ऐसी जीवनशैली बन गयी है कि बिना पैसे खर्च किए हम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। एक अजीब-सा दबाव महसूस होने लगता है, पैसे की प्राप्ति का।

नहीं, पैसा नहीं है, ऐसी बात नहीं है। पर्याप्त है। पर मैं यह अनुभव करता हूँ कि मैं ऐसी शानदार जिंदगी खो चुका हूँ, जो मुझे बचपन में मिली थी और तब मैं कई सारे अभावों के बावजूद मस्ती करता था। बिना जेब में पैसे रखे आज हिम्मत नहीं होती कि 40 मील दूर किसी गाँव या नगर का आनंद उठाकर मैं वापस लौट सकूँ। जेब से बिना एक पैसा खर्च किए मैं और मेरा परिवार जीवन का आनंद उठा सकें। सुबहें, शामें, रातें, हवाएँ, वर्षा, पेड़, पौधे, फुरसतें सबकुछ नगण्य-सा हो गया है। पैसा सबके केन्द्र में आ गया है। केवल पैसा ही नहीं तो कुछ विवशताएँ, संकल्प, सपने, महत्वाकांक्षाएँ भी एक स्वाभाविक जीवन जीने का आनंद उठाने में असहायक अनुभव हो रही हैं। पता नहीं कौन-सी उपलब्धि या सफलता की चाहत में एक नाटकीय एवं कृत्रिम जीवन जीने के अभ्यस्त हम हो चुके हैं? बिजली गुल होते ही परेशान हो जाते हैं। मैंने देखा कि कई लोग बिजली के जाते ही बिजली कार्यालय को लगातार फोन लगाना शुरू कर देते हैं। मेरे घर पर काम कर रहा बढ़ई बिजली के जाते ही अस्वस्थ हो गया। कारण यह था कि आज जो उसने काम का लक्ष्य निर्धारित किया था, उसमें बिजली जाने से बाधा उत्पन्न हो गयी। मैंने कहा कि भाई जरा नार्मल बन जाओ। कुछ नहीं होगा। कुछ ज्यादा समय काम कर लेना। रात में बिजली जाने से पत्नी और बच्चे इसलिए अस्वस्थ हो गए कि वें जो टी०वी० पर नाटक देख रहे थे, वह नहीं देख पाएँगे। मैंने कहा कि चाँद को देखो, तारे देखो, अंधेरे को भी देखो और महसूस करो। महसूस करने की हमारी जैविक क्षमता जैसे नष्ट हो चुकी है। मैंने पत्नी और बच्चों से कहा कि हम कोई ऐसा दिन चुनते हैं, जो बिजली-मुक्त दिन होगा। केवल फैन, फ्रिज जैसे उपकरण ही चलाये जाएँ और लाइट, टी०वी०, इंटरनेट, संगणक, मिक्सर आदि बंद रखें। पर यह सब संभव नहीं हुआ। यह इसलिए नहीं करना है कि हमें बिजली बचाना है या पर्यावरण जागृति के लिए कोई संदेश देना है। बल्कि इसलिए करना था कि हम अभावों के बीच वास्तविक जीवन जीने की अनुभूति को प्राप्त कर सकें। मैं अपने निजी स्तर पर यह सब करने के लिए तो मुक्त हूँ। परंतु अभी तक उस भय से मुक्त नहीं हो सका हूँ कि बिना पैसे के या कम पैसे में मैं जीवन का वास्तविक आनंद कैसे ले सकता हूँ? हमारा सारा जीवन पूरी तरह से अर्थकेन्द्रित हो चुका है। धन के कम होते ही असुरक्षा का

भय सताने लगता है। अत्यधिक व्यवस्थानिष्ठ होने का यह दुष्परिणाम तो नहीं है न? हमने अपने जीवन में संचय को सुरक्षा की गारंटी मान लिया है। जीवन का बीमा, अच्छा-खासा बैंक-बैलेंस, अपना घर, प्रॉपर्टी, प्लॉट्स, प्रतिमाह धन की एक निश्चित प्राप्ति आदि सबकुछ हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण पर हावी है।

एक दिन कि जब न किसी तरह की हमारी कोई सालगिरह थी, बिना किसी कारण या निमित्त के मैंने पत्नी और बच्चों से कहा कि नगर के निकट ही कहीं किसी प्राकृतिक स्थान पर घूमने चलते हैं। सिर्फ बाजार में नहीं घुसेंगे। कैमरे से बहुत-सी तस्वीरें खींची गई। कमर तक ऊँची घास में टहलते और छोटे-छोटे कुछ खट्टे, कुछ फीके जंगली बेरों को कुतरते हुए वे जीवन के क्षण हमेशा के लिए अंकित रह गए। ठीक वैसे ही जैसे कोई चित्रकार फिर से अपने किसी चित्र की दोबारा वैसे ही कोई कॉपी नहीं बना सकता। हम भी फिर दोबारा वहाँ पहुँचकर इस तरह की हँसी की नकल नहीं कर सकते थे। कभी नहीं।

❐❐❐

31 जुलाई, 2021
विशुद्ध चिंतन एवं आर्थिक चिंता से मुक्ति

मैं जब अपनी विद्यार्थी दशा में था, तो कई प्रकार के आर्थिक अभावों से जूझ रहा था। ऐसी बात नहीं थी कि मुझे रहने को घर या खाने की कोई चिंता थी। परंतु मैं आर्थिक दृष्टि से संपन्न भी नहीं कहा जा सकता था। अतः फिजूलखर्ची न के बराबर थी। कई बार तो दस रुपये मैं हफ्तों तक सुरक्षित रख पाने में सफल हो जाता था। मुझे सिनेमा देखने का भी शौक नहीं था, यद्यपि मेरे कुछ स्कूली मित्र मुझे अपने साथ फिल्म देखने ले जाते थे। खाने का भी मुझे कोई विशेष शौक नहीं था। गाँव के लक्ष्मी-विलास होटल के पेड़े खाने के लिए मुझे तब मिलते थे, जब नानाजी हमसे मिलने आते और कागज की छोटी-सी पुड़िया में 50 या 100 ग्राम सफेद शक्कर के पेड़े लेकर आते। इसमें मुझे कोई शंका नहीं कि वे हमसे प्यार नहीं करते थे। मुझे कहना यह है कि वह बहुत सारी चीजें जो हमें बचपन में चाहिए थी और यदि नहीं भी मिली तो उनके अभावों ने हमें आंतरिक रूप से समृद्ध ही बनाया। मैं तब अधिक सोचा करता था और स्थितियों को समझ नहीं पाता था। किसी ने मुझे यदि कुछ कहा तो उस ओर मेरा ध्यान ही नहीं रहता था और इसके कारण मुझे कुछ लोग भुलक्कड़, मंदबुद्धि या घुन्ना भी कहते थे। मेरे विचारों की तब कोई निश्चित दिशा नहीं थी, पर मैं आज यह निष्कर्षतः कह सकता हूँ कि तत्कालीन स्थितियों से मैं अप्रसन्न था ही जबकि मेरे माता-पिता, दादा-दादी संभवतः प्रसन्न थे। बचपन से अपने वर्तमान से अप्रसन्न रहने की मेरी जो प्रवृत्ति थी, वह आज भी कायम है। मैं प्रायः अपने वर्तमान से अप्रसन्न ही रहता हूँ और यह अप्रसन्नता मुख्यतः आवश्यक बदलावों को लेकर होती है। यथास्थितिवाद से मैं प्रायः अपने को बचाने की कोशिश करता हूँ।

बचपन की अप्रसन्नता आर्थिक अभावों को लेकर नहीं थी, बल्कि कुछ आवश्यक परिवर्तनों को लेकर थी, जो हो नहीं रहे थे। और मैं इसी दशा में कुछ सोचता हुआ जो अस्पष्ट था, को लेकर प्रायः अन्यमनस्क रहा करता था। इसे आप मेरी चिंतन की तत्कालीन प्राथमिक अवस्था भी कह सकते हैं। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि मेरी आर्थिक स्थिति तब संपन्न एवं संतोषजनक होती तो क्या मैं इस तरह सोच सकता था? क्या प्रायः आर्थिक असंपन्नता चिंतनपरक अध्ययन की सहायक होती है? अधिक संपन्न परिवार के लोग ऊँची शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। विदेशों में जाकर पढ़ सकते हैं। पर क्या वे उत्तम चिंतक या समाज के दिशा-निर्देशक के रूप में विकसित हो सकते हैं? आज मैं यद्यपि आर्थिक रूप से पर्याप्त सुरक्षित हूँ, परंतु बचपन की तरह ही सोचता हूँ। कई बार मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि धन के संचयन से कहीं मेरी दिशा तो नहीं बदल रही है। यह किसी भी हालत में बदलनी नहीं चाहिए। पाश्चात्य विचारक क्रोंचे और हिंदी साहित्य के पुरोधा भारतेंदु हरिश्चन्द्र का उदाहरण यहाँ पर रखना मैं उचित समझता हूँ और प्रेमचंद का भी। बहुत-से विद्वानों ने यह खोज की है कि मृत्यु के समय प्रेमचंद के बैंक खाते में अच्छी-खासी रकम जमा थी और इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे आर्थिक रूप से एकदम दयनीय दशा में नहीं थे। प्रेमचंद के 'फटे जूतों' का पता नहीं क्या रहस्य होगा? क्रोंचे के बारे में कहा जाता है कि उनका जन्म एक संपन्न परिवार में हुआ था और इस कारण वे बचपन से ही आर्थिक चिंता से मुक्त थे। उन्हें इस बात की प्रसन्नता थी कि जो समय जीविकोपार्जन में जाता, वह साहित्यिक एवं दार्शनिक शोध में व्यतीत हुआ। भारतेंदु भी संपन्न राजपरिवार से थे। वे चाहते तो साहित्यिक कार्य में अपना जीवन न लगाते और बड़े-बड़े महलों को बनाकर एवं ऐशो-आराम की जिंदगी जीने में लगा सकते थे। ऐसे और भी कई साहित्यकारों एवं दार्शनिकों के उदाहरण दिए जा सकते हैं। लियो टॉलस्टॉय और कार्ल मार्क्स भी संपन्न परिवार से थे।

कहने का अभिप्राय यह है कि धन का पर्याप्त संचय होने पर हम अपने जीवन का उपयोग किसी अन्य उद्देश्य के संदर्भ में क्यों न करें? कुछ बेहतरीन पढ़ाइयों के लिए मनुष्य को कुछ विशेष प्रकार की ट्रंकविलिटी तो चाहिए ही। परंतु जीविकोपार्जन का दबाव एवं धन में निरंतर वृद्धि करते जाने की महत्वाकांक्षा ने हमें वैचारिक रूप से पिछड़ा बना दिया है। बड़ी-बड़ी बिल्डिंगें या मॉल खड़े करना प्रगति एवं विकास का मानक बन चुका है। आजकल माता-पिता अपने बच्चों को इसलिए ऊँची स्कूलों में पढ़ने के लिए भेजते हैं कि उनके होनहार अधिक धन कमा सकें और इस आधार पर श्रेष्ठ एवं सम्मानित व्यक्ति के रूप में ढले। मनुष्य को धन कमाने की अनियंत्रित लालसा ने दिशाहीन कर दिया है। उसके मूल्य एवं आदर्श केवल प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रमों तक सीमित हैं। मैं जब कुछ वर्षों पूर्व बीकॉम के छात्रों को हिंदी पाठ्यपुस्तक से कोई नैतिक शिक्षा से युक्त पाठ पढ़ा रहा था, तो मैंने देखा कि उनमें पर्याप्त संवेदनशीलता का अभाव था। कैसे कोई

क्रिकेट खिलाड़ी केवल अपने 25-30 वर्ष के खेल करियर में दस-बीस करोड़ का घर और 1 करोड़ की विदेशी कार खरीद सकता है? जब उसके पास यह दस करोड़ आये तो किसी अच्छी जगह में लगने से वे रह गए।

यदि मान लीजिए कि मैंने आयु की पचास वर्ष की अवस्था तक दस करोड़ रुपये अर्जित कर लिए हैं या मेरा ऐसे परिवार में जन्म हुआ, जो आर्थिक रूप से समृद्ध एवं संपन्न है, तो फिर मुझे अपना जीवन किस दिशा में लगाना चाहिए? 10 करोड़ के 20 करोड़ करना या 20 लाख करना? जीविकोपार्जन का जब कोई दबाव है ही नहीं तब अधिक धन क्यों और किसलिए अर्जित करें? केवल अय्याशी करने के लिए? क्यों मुझे आज ऐसे लगता है कि मैं अपनी प्रियतमा से समुंदर की गहराई में जाकर कांच के महल में विवाह करूँ या हवाई जहाज में। यह हमारी विकृत रुचियाँ तो नहीं हैं ना? क्या अत्यधिक धन हमारी रुचियों को विकृत बनाने में सहायक होता है? मुझे समझ में नहीं आता कि एक कटोरी भर दही की कीमत किसी स्थान पर हजार रुपये क्यों है? अभिजात्य एवं अभिरुचि की कुछ तो परिभाषा तय होनी चाहिए।

❐❐❐

1 अगस्त, 2021

आत्मा के मित्र मेरे

मित्रों, मेरे प्यारे सभी फेसबुक मित्रों, क्या मना लिया मित्रता दिवस? कैसे मनाया? आज कितने मित्रों ने अपने किसी मित्र से बात की है? कैसे की है? यदि यह प्रश्न केवल मेरे लिए है तो मैं कहूँगा कि मैंने अपने किसी भी मित्र से बात नहीं की परंतु संदेश भेजे। संदेश भी कई सारे मित्रों को भेजे और मैंने इस दिवस को एक उत्सव के रूप में मना लिया। और इससे अधिक मैं कर भी क्या सकता था? और मैं किसी से अपेक्षा भी क्या कर सकता था? मित्रता का संबंध शारीरिक संबंध की तरह नहीं होता। स्त्री से प्रेम की तरह यह वासनात्मक संबंध भी तो नहीं है। मैं आपके सामने कृष्ण-सुदामा, दुर्योधन-कर्ण और जय-वीरू के उदाहरण पेश नहीं करूँगा। आपने अज्ञेय की कविता 'आत्मा के मित्र मेरे' को तो पढ़ा ही होगा। समझा भी होगा। मित्र के विषय में वे लिखते हैं, ''कमजोरियों के एकमेव दुलार'', ''एकाकीपन के अन्यतम प्रतिरूप'', ''आत्मीयता के केन्द्र पर एकाकी सौरभ'' और पता नहीं क्या-क्या? मैं तो काफी भौंचक हो गया हूँ और सख्त प्रेशर में हूँ। कवियों और दार्शनिकों की बात ही अलग है। पता नहीं कैसी-कैसी परिभाषाएँ कर देते हैं। मित्रता को एक कलात्मक अनुभव में पेश करना कितना सरल है नहीं?

कविता के अंत में जो वे लिखते हैं, वह कुछ विशेष कहा जा सकता है। लिखते हैं, ''जिससे यह अकेला प्रांत भी निःसीम परिचय की मधुर संवेदना से, आत्मवत हो जाये। ऐसी जिन मनस्वी की मनीषा, वह हमारा मित्र है, माता-पिता-पत्नी-सहृद पीछे रहे हैं छूट, उन सबके अकेले अग्र में जो चल रहा है, ज्वलंत तारक-सा, वही तो आत्मा का मित्र है। मेरे हृदय का चित्र है।

अपने जीवन में मित्र की परिभाषा को तय करने की जरूरत जिसे महसूस हुई उसने निश्चित ही आत्मीय मित्र के अभाव को अपने जीवन में झेला है। यह हम सभी की व्यथा है। मित्र की तमाम परिभाषाएँ आधी-अधूरी हैं। जहाँ किसी संबंध में अंतिम क्षण तक परस्पर अपेक्षाओं एवं त्याग में संतुलन बना रहे, वही संबंध शाश्वत है। वर्तमान युग में दिखावा, छल, अवसरवादिता, लोभ, आकर्षण, ईर्ष्या, प्रतिद्वंद्विता, महत्वाकांक्षा आदि का प्रभाव है। व्यावहारिक मदद तो मित्र

आपको कर सकता है, पर आत्मीय नहीं। आत्मीयता की उत्कटता का काफी अभाव है। जो मित्र आपसे व्यावहारिक दृष्टि से संबंध रखता है, वह मित्र नहीं है। मैंने मित्रों की कई ऐसी जोड़ियाँ देखी हैं, जो एक मामूली प्रसंग से टूट गयी हैं। मेरे सामने तो मैंने उन्हें एक-दूसरे की कमियों को जाहिर करते देखा है। मेरा एक मित्र जो कभी मेरा रूममेट रहा था, इन बीस सालों में कभी मुझसे मिलने नहीं आया और न उसने कभी अपने गृहनगर यानी गाँव में आने पर मुझे याद किया। एक मित्र जो मुझे धन की सहायता तो कर सकता है, पर अस्पताल से केवल मुझ अशक्त को घर पहुँचाने में मन की सहायता नहीं कर सकता। जो मुझे अपने स्कूटर के साथ अकेला छोड़ देता है। मुझे तो अब सहायता लेने के लिए भी सुपात्र को खोजना पड़ रहा है। आजकल मित्रताओं में किसी-न-किसी समान सूत्र का होना बहुत ही आवश्यक है। जैसे कम्युनिस्ट का बेहतर मित्र कम्युनिस्ट है। दलित का दलित, सनातनी का सनातनी एवं सवर्ण का मित्र सवर्ण है। बाकी सब तो मित्रताओं के ढकोसले लगते हैं। वास्तव में मित्र की जीवन में आवश्यकता तब अधिक होती जब हमारे पास जीवन के सिवा कुछ भी शेष नहीं होता।

❐❐❐

4 सितंबर, 2021

यह शिक्षा वास्तव में एक नकली पदार्थ की तरह है

भारत अंग्रेजी साम्राज्य का उपनिवेश बनते ही यहाँ की शिक्षाव्यवस्था का निजीकरण से राष्ट्रीयकरण हुआ। भारत स्वतंत्र होते ही फिर से शिक्षा का निजीकरण प्रारंभ हो गया है। हम फिर से मध्ययुगीन भेदभाव तो नहीं पर एक घातक आर्थिक शोषणव्यवस्था की ओर बढ़ने लगे हैं, जो कि हमें एक चमकीली शिक्षा देने के बहाने आकर्षित करती है। यह शिक्षा वास्तव में एक नकली पदार्थ की तरह है, जो हमें उस मूल्य में मिल रही है, जिससे काफी मूल्य में हमें असली शिक्षा मिल सकती है। ऐसी चमकीली शिक्षा को हम प्राप्त तो कर लेते हैं, पर उससे हमें कुछ विशेष लाभ नहीं होता। मैंने कहीं पढ़ा था कि भारत के सरकारी स्कूलों में हर कोई पढ़ाना चाहता है, पर कोई पढ़ना नहीं चाहता। यह भारतीय शिक्षाजगत का दुर्भाग्य है। ऐसा क्यों हो रहा है? इसकी समीक्षा होनी चाहिए। वास्तविक भारतीय शिक्षकों का मान-सम्मान इसलिए भी घटता जा रहा है कि अवांछित एवं अयोग्य किस्म के लोग शिक्षकों के रूप में भर्ती किए जा रहे हैं, जिनके पास तकनीकी योग्यता तो है, पर निष्ठा नहीं है। शिक्षा तो आप तकनीकी या यांत्रिक रूप से अर्जित कर सकते हैं, पर निष्ठा नहीं। किसी अध्यापक में शिक्षा के प्रति निष्ठा है या नहीं यह केवल उसकी प्राप्त डिग्रियों से नहीं जाना जा सकता। उसके लगातार अध्यापन करने, अनुसंधान करने या पुस्तकें लिखने से भी नहीं जाना जा सकता। जाना जा सकता है, लगातार बिगड़ती जा रही स्थितियों में भी स्वयं की दृष्टि एवं आचरण को सुरक्षित बचाकर रखने की उसकी क्षमता से। अचानक ऐसी स्थितियाँ पैदा होंगी कि अधिकांश लोग उस ओर भागेंगे जिस ओर केवल आर्थिक लाभ है, तरक्की है, सम्मान है। पर क्या कोई ऐसा मिलेगा जो कहे कि नहीं, मैं उन लोगों के साथ नहीं जा सकता।

वर्तमान शिक्षाव्यवस्था में शिक्षक के रूप में किसी व्यक्ति के प्रवेश की संभावनाएँ नितांत व्यावहारिक एवं तकनीकी आधारों के अधीन हो गयी हैं। प्राथमिक शिक्षाव्यवस्था में सरकारी और निजी स्कूलों में कमाल का विरोधाभास है। भला ऐसा कैसे हो सकता है कि जहाँ अध्यापकों को अच्छा वेतन मिलता हो और शिक्षा मुफ्त हो, वहाँ अभिभावक को अपने बच्चों को पढ़ाने में गर्व की अनुभूति

न हो। अच्छा यह भी कैसे हो सकता है कि जहाँ अध्यापकों को कम वेतन मिलता हो और जहाँ शुल्क देना आवश्यक हो, उन विद्यालयों में अभिभावकों को अपने बच्चों को पढ़ाने में गर्व की अनुभूति हो। क्या हमने, हम क्या और कैसे पढ़ना चाहते हैं, इसकी अपेक्षा किस स्थान पर पढ़ना चाहते हैं, इसे अपनी प्रतिष्ठा का आधार मान लिया है? पता नहीं यह अंतरराष्ट्रीय विद्यालयों की संस्कृति हमारे देश में किसने विकसित की? मैंने कहीं कान्वेंट स्कूलों की पृष्ठभूमि के बारे में पढ़ा था कि वे उन बच्चों के लिए बने थे, जो लिव इन रिलेशनशिप की पैदाइश थे। मेरे बचपन में स्कूल का नाम एक तो मराठी विद्यालय हुआ करता था या फिर न्यू इंग्लिश स्कूल। बच्चा कैसे और किससे पैदा हुआ, इस आधार पर विद्यालयों की संरचना ही नहीं थी। संभवतः ऐसा कुछ वहाँ पर भी न हो। पर हमारे सामने विद्यालयों की यह नई-नई संरचनाएँ कौन लेकर आता है? हम भी इन संरचनाओं को अपने विवेक एवं बुद्धि को गिरवी रखकर स्वीकार कर लेते हैं। फिर यदि हमारे देश में वर्तमान में जो अनेक निजी विद्यालयों को 'अंतरराष्ट्रीय विद्यालय' कहने का चलन बढ़ने लगा है, तो 'राष्ट्रीय विद्यालय' कहने में कौन-सी आपत्ति है? क्या अंतरराष्ट्रीय विद्यालय कहने-कहलाने का शिक्षा विभाग से कोई प्रमाण-पत्र मिलता है? मैंने तो नहीं सुना। और एक आश्चर्य यह है कि ऐसा प्रमाण-पत्र सरकारी विद्यालयों को नहीं मिलता और न उन्हें इस तरह कहने-कहलाने का कोई हक है। यह कैसा अस्पष्ट, भेदभावजनक शिक्षा का मॉड्यूल विकसित होता जा रहा है?

❐❐❐

6 सितंबर, 2021
जीवन ही महत्वपूर्ण है

इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को भिन्न-भिन्न प्रकार से देखता है और स्वीकार करता है। सफल या सार्थक जीवन की कोई वास्तविक एवं सही परिभाषा नहीं की जा सकती। व्यक्ति की भी नहीं और ईश्वर की भी नहीं। भावनात्मक, नैतिक, आदर्श, व्यावहारिक एवं व्यक्तिसापेक्ष धरातल पर जीवन की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं और मिलनी भी चाहिए। कौन कैसे जी रहा है और किस चीज में सफल हो रहा है, इसके सब आधार और निष्कर्ष प्रायः दुर्बल होते हैं। हजारों वर्ष पूर्व जन्मे और जीवित रहे व्यक्तियों के बारे में यह बहस हो सकती है कि उन्होंने इस संसार को क्या दिया और क्या देना आवश्यक था? ऐसे कितने व्यक्ति हैं, जिनके जीवन की हम इस आधार पर समीक्षा कर सकते हैं और हमारे वर्तमान जीवित अवस्था को लेकर आत्मावलोकन भी? संसार की जिन-जिन जातियों में ईश्वर या ईश्वर के प्रतिनिधियों ने जन्म लिया, वे भी इस संसार को पर्याप्त, पूर्ण सुखमय और शांतिमय नहीं बना सके। इस तरह आप उनके जीवन को कैसे लेंगे? आजकल दुनिया में जो तमाम संघर्ष देखने के लिए मिलते हैं, उनमें मनुष्य जीवन को लेकर किस चीज को तरजीह दी गयी है, मेरे समझ में नहीं आता। सत्य को? न्याय को? शांति को? पुण्य को? सुख को? किस चीज को?

मैं कहता हूँ कि जीवन ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि एक बार यदि आप जीवन को खो देते हैं, तो फिर उसे किसी भी स्तर पर और प्रयास पर अर्जित नहीं कर सकते। मैं जीवित होते हुए भी कुछ क्षण के लिए यदि स्वयं को मृत मान लूँ और मृत्यु को अनुभव करूँ तो बहुत जल्दी ही जीवन की ओर लौटने का मन करता है। मनुष्य के परस्पर अस्तित्व की सुरक्षा ही मनुष्यजाति का प्रमुख दायित्व और लक्ष्य होना चाहिए। हजारों वर्ष पूर्व हुए न्याय-अन्याय और सत-असत के बीच के संघर्ष (युद्ध) ने मनुष्य को कुछ भी नहीं दिया है, केवल दुःख और यातना के। यदि मैं आज न्याय के पक्ष में खड़े होकर यदि कुछ संघर्ष करूँ भी तो उसकी सार्थकता कितनी होगी? वर्तमान और अतीत में भी? कुछ ही वर्ष बीतने के बाद मेरे इस संघर्ष का कोई महत्व नहीं होगा, यह मैं जानता हूँ। एक दीर्घ कालखंड बीतने के बाद कुछ लोग मेरे पक्ष में और कुछ लोग विपक्ष में मात्र बातें या बहस

करेंगे। वर्तमान में मैं जब कुछ ऐसी चर्चाओं को देखता हूँ, जो कि ऐतिहासिक व्यक्तियों और उनके महान कार्यों के विषय में हैं, तो पाता हूँ कि यह लोग यदि हमें कुछ विशेष देने में सफल हुए हैं और ऐसा कुछ समुदाय मानते हैं, तो फिर आज भी बड़ी संख्या में लोगों में उनके विषय में आक्रोश क्यों है? अभी तक यह दुनिया क्यों नहीं कुछ ठीक तरह से बन सकी? और यह भी एक प्रश्न है कि दुनिया का ठीक तरह से बनना आखिर होता क्या है? युद्ध, लूटपाट, हिंसा, शोषण, उत्पीड़न, अपहरण, भय, धोखा, कपट, दुराचार, झूठ, छल, घृणा, भेदभाव आदि कई दुर्गुणों से भरी इस दुनिया में उस पवित्र दुनिया की खोज अब भी अधूरी ही प्रतीत होती है। इन दुर्गुणों से भरी दुनिया में सद्गुणी लोगों को एक विशेष प्रकार की शक्ति का संचय करना होगा। क्या इस तरह की कुछ शक्ति होती भी है? या नहीं होती है? वस्तुतः एक पवित्र शांतिमय जीवन ही सफल जीवन कहलाया जा सकता है। दुनिया में अब तक जो भिन्न-भिन्न तरह की क्रांतियाँ हुई हैं, सामाजिक, राजनीतिक, औद्योगिक आदि और दिन-रात जो अगणित लोग श्रम कर रहे हैं, नए-नए रहस्यों को खोज रहे हैं, बलिदान दे रहे हैं, तो फिर भी कितना कुछ अपूर्ण-सा क्यों प्रतीत होता है? दुनिया की लगातार बिगड़ती जा रही इस छवि को देखकर मुझे लगता है कि कई पवित्र आत्माओं ने निराश होकर ही इस दुनिया को त्यागा होगा। इस दुनिया में कोई भी अच्छा व्यक्ति आजतक प्रसन्नता से नहीं मरा। आप कुछ भी कहें। इस व्यापक संसार के एक छोटे-से कोने में एक अदना-सा जीवन आप यदि शांति एवं प्रसन्नता से जीने में सफल हो जाते हैं, तो यह बहुत बड़ी बात है। ऐसा जीवन जो बिना किसी संकट, व्याधि, आपत्ति या अभाव के आपको मिला तो आप एक भाग्यशाली व्यक्ति हैं। यह आपकी निजी उपलब्धि है। मैंने कुछ अत्यंत जर्जर लोगों को भी जीवित पाया और एकदम से स्वस्थ लोगों को अचानक इस संसार से विदा लेते हुए देखा। जीवन लाभ को लेकर अजीब-सी असमानता देखने में आयी। मुझे अभी तक यह जीवन-मृत्यु का चक्र ही समझ में नहीं आया है। ठीक वैसे ही जैसे महान जीवन और तुच्छ जीवन का भेद। कोई कुछ भी कहे इस संसार में हर स्थिति में आपकी सक्रिय उपस्थिति का नाम ही जीवन है। चाहे फिर वह उपस्थिति मौन ही क्यों न हो। अनुपस्थिति का नाम ही मृत्यु है, चाहे फिर वह अनुपस्थिति कितनी भी मुखर क्यों न हो।

❐❐❐

9 सितंबर, 2021
पुस्तक की सृजनप्रक्रिया और विक्रयप्रक्रिया

पुस्तक क्यों लिखनी चाहिए? पुस्तक का विषय, पुस्तक का प्रयोजन, पुस्तक का महत्व और उपादेयता आदि अनेक प्रश्न इस संदर्भ में उपस्थित होते हैं। हमारे या सम्पूर्ण विश्व में लेखक प्रायः एक सम्मानित व्यक्ति माना जाता रहा है। भारत में लेखन को कभी भी धंधा नहीं माना गया। उसे साधना या एक सामाजिक दायित्व के रूप में ही देखा गया है। वर्तमान में पुस्तक-लेखन एवं प्रकाशन एक उद्योग बन गया है, जिसकी वास्तविक स्थिति काफी शोचनीय है। पाठ्यपुस्तकों के विक्रय को लेकर ही इस उद्योग को कुछ संतोषजनक कहा जा सकता है, जहाँ मौलिक कुछ भी नहीं है। आज मुझे इस विषय में लिखने के लिए एक पूर्व प्रसंग ने प्रभावित किया, जो अब भी मेरी स्मृति में अंकित है। कुछ दिन पूर्व एक विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष ने मुझे फोन किया और कहा कि वे मेरे नगर में आ रहे हैं। जब उन्होंने मुझे फोन किया, तब लगभग 12:45 हो रहे थे। तत्समय मैं महाविद्यालय में ही उपस्थित था। उन्होंने मुझे बताया कि वे नगर से कुछ 25 किमी० की दूरी पर हैं और जल्दी पहुँचेंगे। उन्होंने मुझे यह भी कहा कि उन्हें कुछ पुस्तकें देनी हैं। मुझे लगा कि वे शीघ्र पहुँचेंगे, अतः मैं कॉलेज में ही उनकी प्रतीक्षा एक घंटे तक करता रहा। जब उनका मुझे कोई फोन नहीं आया तो मैं भोजन के लिए घर लौट आया। लगभग डेढ़ घंटे बाद उनका फोन आया कि वे कचहरी के निकट पहुँचे हैं। अब मेरी कहीं बाहर जाने की तो इच्छा नहीं हो रही थी और हल्की-सी वर्षा भी शुरू हो चुकी थी। यद्यपि वे वरिष्ठ होने के नाते मैं उनकी किसी तरह की उपेक्षा नहीं करना चाहता था। अतः मैं उन्हें मिलने पहुँचा। मैंने उन्हें कहा कि घर चलते हैं, परंतु उनकी इच्छा कॉलेज में प्राचार्य जी से मिलने और अपनी कुछ पुस्तकें महाविद्यालय को बेचने से थी। मैंने जब उनसे यह कहा कि संभवतः आप पुस्तकें उपहार में देने आए हों। तब उन्होंने कहा कि वे किसी को पुस्तकें उपहार में नहीं देते। स्कूटर के पीछे बैठे हुए वे मुझे बार-बार यह बताते जा रहे थे कि किस महाविद्यालय ने उनसे कितने रुपये की पुस्तकें खरीदी। पर मुझे इस उद्देश्य से उन्हें प्राचार्य जी से मिलवाने में काफी संकोच हो रहा था। उनके पास कपड़े की दो थैलियाँ थीं,

जिनमें कुछ 15-20 पुस्तकें थी। वे सभी मराठी भाषा में थी और उनका किसी तरह का कोई साहित्यिक मूल्य नहीं था। अब इससे अधिक कोई टिप्पणी मैं उनके पुस्तकों पर नहीं करना चाहता। वे स्वयं अपनी गरिमा को नष्ट कर रहे थे। मुझे इस बार उनसे मिलने में किंचित भी प्रसन्नता नहीं हुई। मुझे याद है इससे पूर्व वे केवल 3-4 बार महाविद्यालय में आये थे। तब भी उनकी रुचि अपनी पुस्तकें बेचने में थी। लेकिन तब मैंने उनका यह रूप कभी नहीं देखा था। वे मुझे कई बार फोन करते रहते थे और संभवतः मुझसे फोन करते रहने का मतलब भी अत्यंत संकीर्ण था। उन्हें मुझमें कोई रुचि नहीं थी। वे तो कार्यालय में यहाँ तक कह चुके कि कम से कम एक-दो पुस्तकें खरीद लीजिये, मेरा यात्रा व्यय निकल जायेगा। अब इससे अधिक पतन क्या हो सकता है? किसी को भी पुस्तकें खरीदने-खरीदवाने के लिए अपना साधन बनाना, इस हेतु से उससे मेल-जोल बढ़ाना, कमीशन का लालच देना आदि मेरे निजी विचारों के विपरीत है।

यह भले ही एक मामूली प्रसंग प्रतीत होता हो पर मुझे झकझोरकर चला गया। वे पुस्तक बेचने की अपनी इस पद्धति की तुलना ज्योतिबा फूले से करते थे। जब महाविद्यालय ने उनसे पुस्तकें लेने में असमर्थता दिखाई, तब उन्होंने मुझे यह भी कहा कि उन्हें ऐसी स्थितियों में अपमानित अनुभव नहीं होता। वे और कहीं प्रयास करेंगे। उन्होंने यह भी बताया कि उनकी अनेक पुस्तकें देश के श्रेष्ठ पुस्तकालयों में हैं। परंतु मुझे आजतक ऐसा नहीं लगा कि उन्होंने एक भी अच्छे ढंग की या महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी हो, जिसका कोई मूल्य हो। पर यदि मूल्य न भी हो तो भी कम से कम पुस्तक का मौलिक होना आवश्यक है। मेरे सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि उन्हें ऐसा क्यों लगता है कि उनकी इतनी-इतनी पुस्तकें महाविद्यालय ने खरीदनी चाहिए? खैर मेरे यह सबकुछ लिखने का मूल तात्पर्य यह है कि किसी लेखक को ऐसा क्यों लगता है कि उसने जो कुछ लिखा है, वह अत्यंत विशिष्ट लेखन है? मूल प्रश्न यह है कि हम किसलिए लिखें और किसके लिए उसे प्रकाशित करें? जिन्हें प्रतिष्ठित या बड़े लेखक कहा जाता है, वे अपनी पुस्तक के क्रय-विक्रय को लेकर क्या और कैसा विचार रखते होंगे? टेक्स्ट पुस्तकें क्या वास्तव में मौलिक कही जा सकती हैं? इन पुस्तकों का बाजार आप देखते तो पायेंगे कि इनका अर्थतंत्र कितना विशाल है, और सृजनात्मक पुस्तकों का अर्थतंत्र? सबकुछ कितना भिन्न है नहीं? सी०बी०एस०ई० और अन्य शिक्षा बोर्ड, विज्ञान तथा तकनीकी की पुस्तकों का एक बड़ा बाजार भारत में है। मजाल है कि कोई विद्यालय उस पर छूट दे दे। इस पर तुक्का यह कि उसी विद्यालय के किसी एजेंट दुकानदार से लेनी होगी और वह भी फुल एम०आर०पी० में। मैंने आजतक नहीं देखा कि किसी टेक्स्ट बुक लेखक को कोई बड़ा पुरस्कार मिला हो या सम्मान। पर उनके पास बंगले और कारें हैं। इधर लेखकों के हाल देखें। अपनी पुस्तकों को लेकर कई ऑनलाइन विक्रय प्लेटफार्म पर भी उन्हें बेचने का एक अद्‌भत क्रम शुरू हो चुका है। जब कोई लेखक अपनी पुस्तक की समीक्षा, प्रतिक्रिया के विषय में कुछ टिप्पणी करता है, तो ऐसे प्रतीत होता है कि वह विज्ञापन कर रहा है। लेखकों को खुद अपने पुस्तकों के बारे में कम बोलना चाहिए। उसमें प्रचार की गंध आती है। आपकी पुस्तक में यदि कुछ श्रेष्ठ या उदात्त या गरिमामय होगा, तो स्वयं चमकेगा। किसी मौलिक या गरिमामयी पुस्तक की सृजनप्रक्रिया पर आप प्रकाश डालें तो प्रतीत होगा कि जिंदगी लग गयी है। किसी पुस्तक की विक्रयप्रक्रिया से सृजनप्रक्रिया को अधिक बहुमान मिलना चाहिए। पाठकों को लगना चाहिए कि रक्त की स्याही बनाई गई है। प्रायः सर्वश्रेष्ठ चीजें प्रचार या विज्ञापनों के दायरे से काफी दूर होती है। आप इस मसले पर चाहें तो अधिक चिंतन करें और अपनी भूमिका को रखें। उत्तम विचार और अनुभव द्रव्य में मैं भी भीगना चाहता हूँ।

❐❐❐

11 सितंबर, 2021
वह नहीं है दीवाना

एक हिंदी अध्यापक की मस्टर पर हस्ताक्षर को लेकर विभागीय जाँच चल रही थी। उन पर यह आरोप लगाया गया था कि उन्होंने किसी दिन के हस्ताक्षर दूसरे दिन किए। अब यह कितना गंभीर मामला था, पता नहीं? पर इसे नैतिक अधःपतन एवं गैर व्यवहार के रूप में देखा गया था। प्रतिपक्ष के वकील प्रायः कुछ इस तरह से पैरवी कर रहे थे, जैसे यह उनका निजी मामला हो। उनका बस चले तो वे अध्यापक पर बलात्कार का भी आरोप लगा सकते थे और यह माँग भी कर सकते थे कि अध्यापक को फांसी की सजा दे दी जाए। वकील का हिंदी भाषा एवं साहित्य के प्रति दृष्टिकोण भी काफी पूर्वाग्रह से युक्त था। केवल उनका ही नहीं, बल्कि बहुसंख्यक लोगों का हिंदी के प्रति यह पूर्वाग्रह है और इसे मैंने भी लगातार अपने बीस वर्ष की अध्यापकी में अनुभव किया है। इसका मुझे काफी दुःख है। अब जबकि हिंदी राजभाषा दिवस निकट आ रहा है, अतः इस विषय को स्पर्श करने की मेरी इच्छा हुई। हिंदी भाषा एवं साहित्य के प्रति अधिकतम लोग यह सोचते हैं कि यह प्रेम के विषयों से युक्त साहित्य है और इसमें स्त्री-पुरुष प्रेम से जुड़ी कथाएँ, उपन्यास, प्रेमगीत, गजल एवं शेरो-शायरी की प्रधानता होती है। हिंदी के रचनाकार प्रायः रसिक प्रवृत्ति के और रंगीले होते हैं, जो अपने ही मिजाज में रहते हैं, यह जो लेबल हिंदी साहित्य पर लगा है, इसने हिंदी को काफी क्षति पहुँचायी है। वकील प्रायः उस अध्यापक से यह प्रश्न कर रहे थे, कि आप हिंदी में प्रेम के विषयों से युक्त उपन्यास और कविताएँ छात्रों को पढ़ाते हैं? अध्यापक बार-बार यह बताते कि हिंदी में सबकुछ प्रेम के विषय नहीं होते। प्रेमचंद को पढ़ें तो वहाँ आपको अधिकांश सामाजिक विषय ही मिलेंगे। सामाजिक दुर्दशा, आर्थिक अभाव, शोषण, उत्पीड़न, भ्रष्टाचार, अस्पृश्यता आदि। वकील का यह प्रयास था कि किसी तरह अध्यापक को रंगीन मिजाज के व्यक्ति के रूप में साबित कर दिया जाए। पर अध्यापक वैसे नहीं थे। वे विज्ञान एवं इंजीनियरिंग की पढ़ाई के बाद हिंदी साहित्य की ओर आकर्षित हुए थे और प्रामाणिकता से अध्यापकी में भी सफल हुए थे। वे दुरुस्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युक्त अध्यापक थे। अहिंदी भाषी क्षेत्र में हिंदी का अध्यापन करते हुए भी उनका हिंदी बोलने का स्वर (टच) यूपी-बिहार वालों के नकल का नहीं था। वे स्टीरियो टाइप हिंदी नहीं बोलते थे। उनका हिंदी बोलना हिंदी की स्थानीय बोलियों से प्रभावित नहीं था और इस तरह वे कृत्रिम या बनावटी हिंदी नहीं बोलते थे। उन्हें तब इसका बड़ा आश्चर्य हुआ कि उन्हें वकील ऐसा क्यों पूछ रहे हैं? जब उनके कुछ समझ में आया तो उन्होंने हिंदी साहित्य का बारीकी से निरीक्षण किया। अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिंदी पढ़ने को लेकर यह एक बड़ी समस्या है। हिंदी भाषी क्षेत्रों के विषय में वे लोग कुछ बता सकते हैं। हिंदी फिल्मों के गीतों और कहानियों ने क्या वास्तव में हिंदी भाषा के विकास में सहायता की है? क्या ऐसा नहीं लगता कि हिंदी की इस तरह की एक रंगीन छवि गढ़ने में हिंदी का बहुत कुछ भला नहीं हुआ है। हिंदी आज भी अपने प्रयोजनमूलक भाषा के अस्तित्व को बनाने में पर्याप्त सफल नहीं हुई है।

अपने देश में कई पढ़े-लिखे लोगों का हिंदी साहित्य के विषय में ऐसा सोचना क्या चिंतित करने वाला मसला नहीं है? अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य में भी प्रेम के विषय होते हैं, परंतु उन भाषाओं की तो ऐसी छवि नहीं बनी है? जब कथाओं, उपन्यासों में स्त्री-पुरुष प्रेम के प्रसंग उपस्थित होते हैं, तो अध्यापकों को छात्रों के सामने संकोच तो होता ही है। कोई कुछ भी कहे पर हम हिंदी साहित्य के इस पक्ष को अनदेखा नहीं कर सकते। अच्छा, हिंदी साहित्य का और प्रेम करने का कोई अंतर्संबंध है क्या? क्या अधिकांश प्रेम करने वाले लोग हिंदी साहित्य का अध्ययन करने पर ही प्रेम करने में निपुण होते हैं? मुझे नहीं लगता ऐसा कुछ है। अनेक विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में छात्राओं एवं अध्यापिकाओं के लैंगिक शोषण एवं दुर्व्यवहार के मामलों में हिंदीतर अध्यापकों की संख्या अधिक मिलती है। अतः ऐसे मामलों में हम यह तर्क नहीं लगा सकते कि हिंदी साहित्य में चित्रित प्रेम के विषय अध्यापकों एवं छात्रों को उत्तेजित करते हैं और न ही ऐसा कुछ व्यक्तित्व हिंदी साहित्यकारों एवं अध्यापकों का होता है।

हिंदी की एक प्रसिद्ध फिल्म का गीत है, ''तू किसी की हो न जाना, कुछ भी कर जाएगा यह दीवाना।'' अब यह दीवाना, पागल आदि विशेषण प्रेम के प्रति आक्रामकता का परिचायक है। पर हम ऐसे गीत न पढ़ा सकते हैं और न खुलकर गा सकते हैं। पर यह लोगों के जबान पर बसे हुए गीत हैं। अत्यंत लोकप्रिय। अब हम दूसरी ओर कहते हैं कि ऐसे गानों से हिंदी का विकास हुआ है, तो यह अत्यंत मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष है। ऐसे गाने गाने वालों को मैंने देखा है कि उन्हें सचमुच

हिंदी नहीं आती। यह हिंदी का दीवानापन नहीं है। प्रेम के विषयों को लेकर हिंदी साहित्य कितना परिपक्वता से युक्त है, यह शोध का विषय है। पर रीतिकाल से लेकर स्त्री-पुरुष प्रेम का विषय हिंदी का प्रधान विषय रहा है। उसे आप संयोग-श्रृंगार के भीतर रखकर साहित्यिक गरिमा तो प्रदान कर सकते हैं, पर उन लोगों की दृष्टि को कैसे बदलें? हम हिंदी की इस बनी हुई छवि से कब और कैसे मुक्ति पा सकते हैं। किसी ने उस अध्यापक से पूछा कि प्रेम को लेकर आपकी धारणा क्या है? तो उन्होंने तुरंत कहा कि मुझमें प्रेम में पागल हो जाने जैसी योग्यता नहीं है। मैं किसी भी स्त्री के प्रेम में पागल नहीं हो सकता। यद्यपि स्त्री का प्रेम आकर्षित तो करता है, पर वह उतना भी महान नहीं है, जैसे हिंदी साहित्य में उसे आत्मा-परमात्मा के संबंध के रूप में चित्रित किया गया है। संभवतः यह फारसी का प्रभाव है। उन्होंने यह भी कहा कि साहित्य में स्त्री-पुरुष संबंधों के अलौकिक चित्रण की अधिकता के कारण उसके प्रति ऐसी धारणा बनना स्वाभाविक है। अध्यापक ने यह भी कहा कि यदि प्रेम किसी को किसी से भी और कभी भी हो जाये तो वह प्रेम नहीं। जल्दी उसे छोड़ने का निर्णय कर लें और पूरी ताकत के साथ कहें कि तू किसी की भी हो जा, मैं न कुछ करूँगा और न दीवाना बनूँगा। प्रेम के वास्तविक चित्रण करने के मामले में अब हिंदी साहित्य को करवट बदल लेनी चाहिए।

❐❐❐

13 सितंबर, 2021

भारत की राष्ट्रीय एकता और हिंदी

किसी भी राष्ट्र को अखंडित रखने के लिए मूलतः किस चीज को अधिक प्राथमिकता दी जा सकती है? धर्म को? भाषा को? संस्कृति को? या फिर अन्य किसी चीज को? कल 14 सितंबर अर्थात् राष्ट्रीय राजभाषा दिवस। मैं राष्ट्रीय राजभाषा दिवस इसलिए भी कह रहा हूँ कि भारत एक संघ राज्य है और प्रत्येक संघ राज्य की अपनी-अपनी राजभाषाएँ हैं। अतः समस्त संघराज्यों में परस्पर संप्रेषण एवं समन्वय हेतु एक राष्ट्रीय राजभाषा की आवश्यकता के रूप में हिंदी को अधिक उपयुक्त समझा गया है। आप यदि संविधान का अवलोकन करेंगे तो भाग-5, भाग-6 एवं भाग-17 में क्रमशः संघ की राजभाषा नीति एवं राजभाषा शीर्षक के अंतर्गत महत्वपूर्ण प्रावधान मिलते हैं। परंतु संविधान में हिंदी को प्रायः 'संघ की राजभाषा' के रूप में ही स्वीकार किया गया है। राष्ट्र की राजभाषा के रूप में नहीं। अतः यहाँ पर संघ और राष्ट्र का भेद समझना आवश्यक है। यह तो हुई संविधान में प्रस्तुत संघ की बात परंतु आश्चर्य यह है कि हम व्यावहारिक स्तर पर उसे संघभाषा न कहकर राजभाषा कहते हैं। क्यों? यूनियन ऑफ द इंडिया अर्थात् भारतीय संघ की बात करते हुए हम राष्ट्र और राज कहाँ से लेकर आये हैं? यही बात राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान पर भी लागू होती है। होना यह चाहिए कि उसे संघध्वज एवं संघगीत कहें। अंग्रेजी में क्रमशः फ्लैग ऑफ द यूनियन ऑफ इंडिया और एंथम ऑफ द यूनियन ऑफ इंडिया। खैर, हमारे इस विवेचन का लक्ष्य राष्ट्रीय एकता एवं हिंदी भाषा का है, तो हम यह देखते हैं कि संविधान के भाषाविषयक समस्त प्रावधानों में राष्ट्र नहीं बल्कि संघ की बात की गयी है। राष्ट्रीय एकता को लेकर केवल अनुच्छेद 351 में यह कहा गया है कि संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिंदी भाषा का प्रसार बढ़ाये और उसका विकास करे।

मैं भारत की राष्ट्रीय एकता को लेकर इस अनुच्छेद-351 को अत्यंत महत्वपूर्ण मानता हूँ। परंतु भारत की आजतक की जो स्वातंत्र्योत्तर यात्रा हुई है, उसमें इस अनुच्छेद को लेकर कौन-से सकारात्मक कार्य हुए हैं? भारत की आर्थिक, शैक्षिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, औद्योगिक की अब तक की विकासयात्रा

में हम हिंदी भाषा को आधार बनाकर राष्ट्र को एक एवं अखंड रखने में कितने सफल हुए हैं? भारत की शिक्षाविषयक नीतियों में इस अनुच्छेद-351 की बातों का कितना पालन हुआ है? इस अनुछेद में अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रभाषा की बड़ी सुंदर परिभाषा की गयी है - ''वह (अर्थात् हिंदी) भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना।'' संविधान निर्माताओं को कहना राष्ट्रभाषा के विषय में ही था, पर वे इस शब्द के प्रयोग को लेकर क्यों संकोच कर रहे थे, पता नहीं। यह शोध का विषय है। वे यदि स्पष्ट रूप से यह कहते कि हिंदी को कुछ इस तरह से विकसित करना है कि वह राष्ट्र की एकता का प्रतीक बन सके। इस अनुच्छेद में संघ की अन्य भाषाएँ जो आठवीं अनुसूची में समाविष्ट की गयी हैं, उनको लेकर भी हिंदी को सतर्क किया गया है कि हिंदी अपना विकास कैसे करे? कहा गया है कि हिंदी, हिंदुस्तानी में और आठवीं अनुसूची में निर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात करते हुए और जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो, वहाँ उसके शब्दभंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करें। लेकिन कैसे? इसका कोई व्यावहारिक ब्लू प्रिंट प्रस्तुत नहीं किया गया और न इस विषय में कोई सरकारी-गैरसरकारी पहल हुई।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में अन्य राज्यों की भाषाओं को लेकर हिंदी अपनी समृद्धि कैसे सुनिश्चित कर सकती है? क्या वह इस तरह अपने को समृद्ध करने में सफल हुई है? यह अधिक चिंतन का विषय है। आप देखें कि केवल इस अनुच्छेद के खंड-2 में ही भारत शब्द का प्रयोग हुआ है। अन्य किसी स्थान पर नहीं। भारत जो कि एक संघराज्य है, तब केन्द्र की भाषा और संघ की भाषा में एक विशेष प्रकार का आत्मीय संबंध होना आवश्यक है। यह आत्मीय संबंध कैसे विकसित हो सकता है? या क्या वह हो पाया है? यह देखना जरूरी है। इस तरह हम किसी भाषा को बोलने, लिखने एवं समझने के स्तर पर एक राष्ट्रीय या केन्द्रीय भाषा के रूप में अन्य भाषा-भाषी लोगों के लिए कैसे आत्मीय बना सकते हैं? आप देखें कि अनुछेद-351 में हिंदी भाषा को अपनी समृद्धि के लिए भारत की अन्य भाषाओं से कुछ-न-कुछ लेने के लिए कहा गया है, देने के लिए नहीं। उसे उदार एवं विशाल हृदयधारी भाषा बनना है। उसे राज अर्थात् शासन या वर्चस्व की भाषा नहीं बनना है। जब हिंदी को प्रशासनिक या प्रयोजनमूलक भाषा के रूप में भी विकसित करने की चुनौती थी, तब भी इसके पारिभाषिक शब्दभंडार को लेकर इस अनुच्छेद की बातों को गंभीरता से नहीं लिया गया। इसके लिए वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दों को कुछ इस तरह विकसित किया गया कि इसकी पूरी सांस्कृतिक संरचना ही बिगड़ गयी और यह कृत्रिम भाषा प्रतीत होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग अंग्रेजी को ही अधिक उपयुक्त समझने लगे।

जहाँ तक हिंदी बोलने और समझने की बात है, तो निश्चित रूप से वह एक राष्ट्रीय एवं केन्द्रीय भाषा के रूप में अधिक बेहतर विकल्प है। लेकिन उसका अनुच्छेद-351 में कही गयी बातों के अनुरूप विकास करने में हम निश्चित रूप से असफल रहे हैं। कोई हिंदी भाषी जब किसी अहिंदी भाषी के टूटी-फूटी हिंदी बोलने एवं लिखने की कटु आलोचना करता है, तो मामला अधिक गंभीर बन जाता है। हिंदी भाषी समुदाय इस प्रसंग में बहुत अधिक अनुदार है। अहिंदी भाषी प्रदेशों में हिंदी में साहित्यरचना करने वाले लेखकों, कवियों, पत्रकारों को हिंदी भाषी समुदाय के लोग कितना सम्मान प्रदान करते हैं? उन्हें कितना अपनाते हैं? इस पर अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। हिंदी भाषा को लेकर देश को जिन दो भागों (हिंदी एवं अहिंदी) में वर्गीकृत कर दिया गया है, इसके पीछे कौन-सी मनीषा या षडयंत्र कार्यरत रहा है, पता नहीं। पर भाषा के आधार पर इस भेद ने राष्ट्रीय एकता के समक्ष निश्चित ही प्रश्नचिन्ह उपस्थित किया है और उसके सामासिक संस्कृति की भाषा बनने में सबसे बड़ी बाधा उपस्थित की है। स्वतंत्रता पूर्व कालखंड में हिंदुओं एवं मुसलमानों में एकता स्थापित करने के एक महत्वपूर्ण आधार के रूप में हिंदी की ओर आशा से देखा गया। पर हिंदी इसमें सफल नहीं हुई और देश के दो टुकड़े होकर रहे। मुसलमानों ने एक नहीं सुनी और हिंदी के लिए उन्होंने अरबी-फारसी से शब्द, रूप और लिपि को लेकर अपनी भिन्न संरचना का निर्माण किया। अब वह यह सब करने में सफल भी हुए क्योंकि हिंदुओं और मुसलमानों में कोई सांस्कृतिक समानता नहीं थी। परंतु हिंदी भाषी और अहिंदी भाषी राज्य और उनमें रहने वाले अधिकांश लोग धर्म एवं संस्कृति में परस्पर समानता तो रखते हैं। फिर स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी हिंदी को लेकर इनमें परस्पर स्वीकार्यता का अभाव क्यों नजर आता है? जहाँ तक हिंदी माध्यम में शिक्षा को लेकर एक राष्ट्रीय नीति बनाने की आवश्यकता है, उसको लेकर भी हम अप्रयत्नशील एवं उदासीन हैं और रोजगार को लेकर

भी। जब हिंदी में रोजगार की बात आती है, तो हिंदी प्रदेश के लोग अहिंदी प्रदेशों में यह प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं और हिंदी प्रदेशों में उपलब्ध रोजगारों पर भी इनका पैतृक अधिकार होता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय एकता की बात कोई नहीं करता। राष्ट्रीय एकता केवल दिखाने की चीज नहीं है। उसके लिए आपको परस्पर सम्मान के भाव को विकसित करना होगा। रोटी को लेकर भाईचारा निभाना होगा। लगता तो यह है, हिंदी को लेकर राष्ट्रीय एकता की बातें करना केवल जुमलेबाजी बनकर रह गया है। अहिंदी प्रदेशों के लोगों को उनकी यथास्थिति हिंदी के प्रति स्वीकार्यता के प्रबल भाव को विकसित करने की जिम्मेदारी हिंदी वालों पर है। हिंदी को लेकर कई राज्यों के लोगों में सांस्कृतिक एवं धार्मिक समानता होते हुए भी जो द्वेषभाव मिलता है, वह किस चीज को लेकर है, इसकी समीक्षा करनी होगी।

❐❐❐

14 सितंबर, 2021

युद्ध के प्रेरक कारण और अनिवार्यताएँ

मैं अपने बचपन से लेकर आजतक ऐतिहासिक युद्ध-प्रसंगों की कई कहानियाँ पढ़ता रहा हूँ। रक्त रंजित युद्धों और संघर्षों के विषयों पर अनेक फिल्में भी देख चुका हूँ। यह सब पढ़ते और देखते हुए मेरे मन में कई बार यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या यह सभी युद्ध इतने अनिवार्य थे? किस कारण से हुए होंगे यह संघर्ष? मनुष्य जीवन इतने सारे युद्धों को झेलकर अपनी स्थिति की कौन-सी उत्तम पराकाष्ठा पर पहुँचने में सफल हुआ है? पत्थरों, लकड़ियों एवं लोहों से बने हथियारों से लेकर घातक बारूदी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करते हुए मनुष्य की युद्ध प्रवृत्ति की यह विकासयात्रा किस स्थान पर आकर पहुँची है? यदि कोई व्यक्ति या वर्ग आपसे अकारण युद्ध करना चाहता है। आपको नष्ट करना चाहता है, तो प्रश्न उपस्थित होता है कि वह ऐसा क्यों करना चाहता है? ऐसी स्थिति में क्या अपनी गर्दन उसकी छुरी के नीचे स्वयं रख देंगे या भाग जाएँगे? और यदि आप भागेंगे भी तो किस सीमा तक? जब कोई व्यक्ति, समुदाय या वर्ग किसी दूसरे व्यक्ति, समुदाय या वर्ग से स्वयं युद्ध करने एवं उसे नष्ट करने की आकांक्षा रखता है, तो दूसरे वर्ग के लिए भागना यह विकल्प कतई नहीं है। मैं जब सारागढ़ी के युद्ध पर आधारित फिल्म 'केसरी' देख रहा था, तब उसमें एक प्रसंग आता है, जब 12 हजार पठानों से लड़ने के बारे में केवल 21 सिक्ख जवानों का सरदार उनसे पूछता है कि हम इन पठानों से क्यों लड़ें? उन अंग्रेजों के लिए जो हमें गुलाम कहते हैं या इन किलों की सुरक्षा के लिए? किस चीज के लिए? और तब वह अंदर जाकर केसरी पगड़ी पहनकर आता है कि हमें सिर्फ अपनी आन, बान और शान के लिए लड़ना है। यह एक अत्यंत जरूरी प्रश्न रहा है और लगभग महाभारत काल से भारत इस चीज के लिए लड़ता आ रहा है। सत्य, न्याय, शांति, सुरक्षा ही वे चीजें हैं, जिनके लिए लड़ना ही भारत की युद्धनीति रही है। शौर्य, वीरता, बहादुरी के तमगे केवल उसी को मिलने चाहिए, जिसने सत्य और न्याय के पक्ष में युद्ध किया। भले ही उस युद्ध में वह वीरगति को प्राप्त हुआ हो या पराजित क्यों न हुआ हो। उसे वीर या बहादुर नहीं कहना चाहिए, जिसने अन्याय और असत्य के पक्ष में युद्ध किया है।

युद्ध के लिए दो पक्ष की अनिवार्यता होती है। युद्ध प्रायः द्वंद्वात्मक ही होते हैं। इन दो पक्ष में से एक पक्ष वह है, जो सर्वप्रथम युद्ध की पहल करता है। वह आक्रामक एवं क्रूर होता है। उसके लिए युद्ध के कारणों का सृजन करने की कोई आधारभूमि नहीं होती। वह किसी दूसरे पक्ष से युद्ध इसलिए करना चाहता है कि वह उसके अस्तित्व एवं समृद्धि से घृणा करता है, ईर्ष्या करता है, उसके धन को लूटना चाहता है, उसे अपना दास बनाना चाहता है और उस पर वर्चस्व स्थापित करना चाहता है। लेकिन फिर भी यह प्रश्न नित्य उपस्थित रहता है कि क्यों वह ऐसा करना चाहता है? वह अपने विपक्षी से घृणा या ईर्ष्या किए बगैर उसके साथ मिलकर सार्थक संवाद, मित्रताभाव, सौहार्द के द्वारा शांतिपूर्ण हल क्यों नहीं निकाल सकता? वह लड़ना और उसे मारना ही क्यों चाहता है? ऐसे कई ऐतिहासिक प्रसंग मिलते हैं, जहाँ किसी मध्यस्थ के द्वारा शांति के प्रयास तो काफी हुए फिर भी युद्ध होकर रहा। भगवान कृष्ण ने कौरव और पांडवों के बीच मध्यस्थता की परंतु वे युद्ध को रोक नहीं सके। मैंने ऐसे प्रसंगों की समीक्षा करते हुए यह अनुभव किया कि जो पक्ष सर्वप्रथम युद्ध की पहल करता है, उसमें विपक्ष के प्रति घृणा, द्वेष और ईर्ष्या का भाव प्रबल होता है और ऐसी स्थिति में युद्ध करना ही उसे अनिवार्य प्रतीत होता है और इसका कोई हल नहीं है। विपक्ष को यह जल्दी समझने का प्रयास करना चाहिए कि सामने वाला उससे घृणा और द्वेष करता है। उसकी समृद्धि और संपन्नता से ईर्ष्या करता है और वह हर स्थिति में युद्ध करके रहेगा। द्वेष या घृणा करने वाले को समझाया नहीं जा सकता। सामान्य जीवन में लोग आपस में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से घृणा और द्वेष करते रहते हैं। वे लड़ते हैं, मगर हथियार से नहीं। परस्पर संबंधों को तोड़ना, बोलचाल बंद करना, निंदा करना, दुष्प्रचार करना यह भी युद्ध करने के ही तरीके हैं। युद्ध के प्रसंग में दोनों पक्षों में से कोई एक ही दूसरे पक्ष का शत्रु होता है। दोनों पक्ष एक-दूसरे के शत्रु नहीं होते। युद्ध की पहल करने वाला पहला पक्ष प्रायः अन्यायी, अत्याचारी, दुराचारी और दुर्जन होता है। दूसरे पक्ष को उसके साथ विवशतावश युद्ध करना होता है।

वर्तमान में जब हम अफगानिस्तान या अन्य कुछ देशों की युद्धजन्य स्थितियों का अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि जो आततायी पक्ष है, वह घृणा, द्वेष एवं वर्चस्व की भावना से ग्रस्त है। पाकिस्तान का आतंकी वर्ग भारत से क्यों घृणा करता है? तो वह जितनी घृणा करता है, उससे कहीं अधिक वह भारत पर

शासन करने के लिए उतावला है। भारतीय शासन के साथ घृणा और द्वेष करना उसका स्थायी भाव है। यह भाव ऐतिहासिक है। यह भाव न यूरोपीय लोगों में था और न चीनी लोगों में है। उनकी भारत पर शासन करने की दूर-दूर तक कोई अभिलाषा नहीं है और न थी। वे अवसरवादी थे और आगे हो सकते हैं। वे भारत को केवल एक बाजार के रूप में देखते हैं। परंतु आतंकी इस दृष्टि से नहीं सोचते। वे भारत को इस्लाम के ध्वज के नीचे लाना चाहते हैं, जो कभी बहुसंख्य हिंदुओं की परस्पर कटुता एवं राजनीतिक उदासीनता के कारण वे लाने में सफल हुए थे। प्रत्येक समाज में कुछ मनुष्यों का एक ऐसा वर्ग होता है, जो प्रायः कोई कामधंधा नहीं करता और केवल दूसरों पर शासन करके या अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा की पूर्णता हेतु युद्धजन्य परिस्थितियों का निर्माण करता है। वह प्रायः कुटिलताओं एवं दुरभिसंधियों द्वारा अपने संसाधनों को जुटाने का प्रयत्न करता है। वह लूटता है, ठगता है और यदि आप प्रतिरोध करेंगे तो आपको कुचलने का प्रयास करता है। इतिहास साक्ष्य है कि कोई भी युद्ध आततायियों की पहल के कारण ही हुआ है। यह एक राक्षसी प्रवृत्ति है, जो थी और रहेगी। सदाचारी एवं शांतिपूर्ण जीवन जीने वाले लोगों को प्रायः इस प्रवृत्ति से सतर्क रहना होगा। यह प्रवृत्ति केवल बाहरी लोगों में ही नहीं बल्कि स्वजनों में जल्दी विकसित होती है। अतः स्वजनों से अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है। खतरा प्रायः दूर से नहीं बल्कि निकट से अधिक होता है। सत्य और न्याय को प्रायः शक्ति संचय करने की आवश्यकता है। वह केवल उत्तम विचारों एवं आचरणों से कभी युद्ध जीत नहीं सकता। युद्ध किसलिए करना है इसका निर्णय सत्य, शांति, सदाचार और न्याय के स्तंभों पर ही किया जा सकता है।

❐❐❐

16 सितंबर, 2021
हिंदी आलोचना और रचना की उपेक्षा

किसी भी भाषा की किसी साहित्यिक रचना के प्रकाशित होने के पश्चात् उसमें कौन-से गुण और दोष हैं। उसमें क्या कुछ स्वस्थ और अस्वस्थ है। क्या कुछ आवश्यक और अनावश्यक है, आदि के निष्पक्ष परीक्षण को आलोचना या समीक्षा कहा जाता है। आलोचना एक ऐसी स्वस्थ प्रक्रिया के रूप में होनी चाहिए कि यदि रचना में कुछ श्रेष्ठ हो तो उसका महिमामंडन न हो और यदि कुछ बेहतर न हो तो उसकी उपेक्षा भी न हो। हो सकता है एक कच्ची रचना किसी रचनाकार के प्रारंभिक लेखन अवस्था की देन हो। आलोचना का मूल उद्देश्य केवल किसी रचनाकृति के गुण-दोषों को परखना मात्र नहीं है, बल्कि रचनात्मकता के प्रति प्रेरित करना भी है। आलोचना रचनात्मकता को तराशने की प्रक्रिया है और ऐसी स्थिति में उसे रचना का बाई प्रोडक्ट भी कहा जा सकता है। आलोचना करते समय आलोचक का ध्यान केवल रचना के कथ्य, विषय-वस्तु और उसका सार्थक प्रस्तुतिकरण हुआ है कि नहीं इस पर होना चाहिए न कि रचनाकार के निजी व्यक्तित्व, चरित्र और पृष्ठभूमि पर। प्रायः आलोचक को रचनाकार के परिचय या निकटता से प्रेरित होकर उसकी रचना की समीक्षा नहीं करनी चाहिए और किसी रचना की समीक्षा के संदर्भ में इसलिए उपेक्षा नहीं करना चाहिए कि रचनाकार से वह परिचित नहीं है या रचनाकार युवा और नया-नया है।

जहाँ तक हिंदी साहित्य में स्वस्थ आलोचनाप्रक्रिया का प्रश्न है, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है तो बहुत कुछ हद तक कहा जा सकता है कि वह निराशाजनक है। वरिष्ठ आलोचक मधुरेश जी की फोन वार्ता को जब मैंने सुना तो मैं सन्न रह गया। 'आलोचना का संकट और संकट की आलोचना' इस विषय पर केन्द्रित इस फोनवार्ता में जब मेरे मित्र निर्भय दिव्यांश जी उनसे कुछ जरूरी प्रश्न पूछ रहे थे तो मैं अपने निजी स्तर पर उनकी स्थापनाओं और निष्कर्षों को लेकर काफी हतप्रभ और भयभीत भी हो रहा था। मैं यह समझता हूँ कि उपेक्षा एक ऐसा शस्त्र है, जो मनुष्य की आंतरिक जिजीविषा की हत्या करता है। उपेक्षा की प्रक्रिया वास्तव में नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा और सृजनात्मता की भ्रूण हत्या है। यह एक अदृश्य कपटयुक्त नीति है। आलोचकों और लेखकों में किसी रचना और रचनाकार को लेकर उपेक्षा या उदासीनता का भाव वस्तुतः साहित्यिक अस्पृश्यता या भेदभाव का एक वीभत्स अंग है। यह एक ऐसी छुपी हुई या अदृश्य मानसिकता है, जो प्रायः ऐसे नवलेखक के प्रतिभा की निघृण हत्या करती है, जो किसी गुट या वर्ग के निकट या परिचित नहीं है और न उनसे किसी तरह की कोई समानता रखता है। यह वास्तव में प्रतिद्वंद्विता को खत्म करने की सुरक्षित प्रणाली है। हिंदी के जिन बड़े-बड़े लेखकों एवं आलोचकों का वे नाम लेते हैं, तो प्रायः मेरे जैसे एक अकिंचन एवं सुदूर हिंदी अध्यापक को वर्तमान के हिंदी के बड़े लेखकों से अपनेआप भय अनुभव होने लगता है। हिंदी के एक रचनाकार मुझसे केवल इसलिए स्नेह प्रकट करने लगे कि मैं अकादमिक स्तर पर उनकी रचनाओं का महत्व बढ़ाऊँ और वे इसमें सफल भी हुए। पर जब मैंने उनकी किसी बात से असहमति व्यक्त की तो वे मेरे पेशे की बुराई करने लगे। मधुरेश जी कहते कि जब वे हिंदी के एक बड़े लेखक एवं आलोचक को उनके घर मिलने गए तो एक घंटा बैठे रहे लेकिन उन्होंने पानी के लिए पूछा तक नहीं। बाहर आने पर उन्होंने नल पर पानी पिया तो उन्हें लगा कि उन्हें कितनी जोर से प्यास लगी थी। हिंदी के अधिकांश लेखक प्रायः अपने पाठकों के साथ तुच्छता भरा अमानवीय व्यवहार करते पाए गए हैं। वे नितांत प्रतिष्ठालोभी और अवसरवादी हैं। ऐसे उदाहरण कई मिलेंगे। मैं जब 2011 में प्रयाग के एक साहित्यिक संस्थान को भेंट देने गया तो काफी निराशा हुई। मैंने संस्थान के भवन को देखा तो दीवारों पर कई जगह पान थूकने के नक्शे बने थे। जब मैं माननीय मंत्री से उनके भवन में मिला और अपना परिचय दिया तो उन्हें मुझमें किंचित भी रुचि दिखाई नहीं दी। मुझे उन्हें मिलने का काफी अफसोस हुआ और अपराधबोध भी। यदि मैं उन्हें महाराष्ट्र से कोई आधिकारिक निमंत्रण देने जाता तो संभवतः वे कुछ चाय-पानी करते। सुदूर महाराष्ट से मिलने आये हिंदी प्राध्यापक के प्रति उनमें कोई सम्मान का भाव नहीं पाया गया। एक साहित्यकार से मैं अपने राजस्थान के मित्रों के साथ मिलने गया था, पर वे हमें पानी तक नहीं पिला सके। परिजनों से वे पानी देने का आदेश 3-4 बार कर चुके पर घर में किसी ने उन्हें सुना तक नहीं। हिंदी साहित्यकारों का हाल अपने घर में और बाहर भी बहुत कुछ संतोषजनक नहीं कहा जा सकता है। हिंदी के एक बड़े कवि और जानी-मानी पत्रिका के संपादक को मैंने अपना डायरी विधा पर केन्द्रित लेख प्रकाशनार्थ भेजा। मेरे पूछने पर उन्होंने बताया कि आपने अच्छा लिखा है और शीघ्र ही हम इसे प्रकाशित करेंगे पर उन्होंने आजतक

उसे प्रकाशित नहीं किया। परंतु एक ऐसे व्यक्ति का लेख शीघ्र प्रकाशित किया, जो उनकी अपनी कविता पर केन्द्रित था। उस अध्यापक ने उनकी कविता पर पी०एच०डी० भी की थी, तो वे उसका लेख क्यों न प्रकाशित करते? हिंदी में लेखक, आलोचक, शोध-निर्देशक, शोधकर्ता और विश्वविद्यालय का एक खतरनाक गठजोड़ बन चुका है। जो इस गठजोड़ का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हिस्सा नहीं है, वह कुछ नहीं बन सकता। कॉलेजों एवं विश्वविद्यालय की नियुक्तियों में इनकी लंबी पहुँच होती है। हिंदी अकादमिक जगत के लगभग नब्बे प्रतिशत लोग मध्य एवं निम्न मध्यवर्ग से आते हैं और इस क्षेत्र में सफलता को लेकर यह लोग काफी प्रैक्टिकल हैं। यह नितांत अवसरवादी और महत्वाकांक्षा से भरा वर्ग है। कुछ वर्ष पूर्व मेरे एक शोधकर्ता ने मुझसे स्नेह जताते हुए कहा कि आप तुरंत एक फोर-व्हीलर ले लो सर। मैंने कहा कि यह तो मेरा निजी मामला है। आप केवल अपने शोधकार्य पर फोकस करो। आजतक उसने एक चैप्टर भी नहीं लिखा। कुछ माह पूर्व मैं अपने स्थानीय राज्य विश्वविद्यालय गया था। किसी कारणवश पी०एच०डी० सेक्शन में जाना हुआ तो परिचित एक अधिकारी ने मेरे हित में कहा कि तुरंत आपके दो छात्र कम से कम पी०एच०डी० हो जाने चाहिए। मैंने कहा कि आप दो की बात कर रहे हैं, मैंने कम से कम दस गलत एवं अयोग्य छात्रों को अपने निर्देशन में पी०एच०डी० होने का सरल अवसर प्रदान न कर सच्चे शिक्षाक्षेत्र के गरिमा की रक्षा की है।

अभी तक तो मैं यह समझता रहा हूँ कि साहित्य के विकास के लिए आलोचक और पाठक का निष्पक्ष होना बहुत ही आवश्यक है। परंतु उसका खुद्दार होना भी अधिक आवश्यक है। एक परिपक्व और स्वस्थ रचना की उपेक्षा से साहित्य की उतनी क्षति नहीं हो सकती जितनी कि एक अपरिपक्व और अस्वस्थ रचना के अति महिमामंडन से। अतः आलोचना को लेकर आलोचक का व्यक्तित्व उदार, निष्पक्ष और स्वाभिमानी होना बहुत ही आवश्यक है। लेखक और आलोचक को यह समझना चाहिए कि वह देवता नहीं है। एक साधारण मनुष्य है और उसमें भी दुर्बलताएँ हो सकती हैं। अपनी दुर्बलताओं के प्रति भी दोनों का सामान्य रहना आवश्यक है। वर्तमान में किसी भी वस्तु या पदार्थ की मानकता या गुणवत्ता को लेकर सबसे बड़ी समस्या यह है कि आप मानकता का निर्धारण करने वाले तत्वों को ही खरीद लें या उन पर अधिकार कर लें या फिर कुछ ऐसे लोगों से गुणवत्ता का ठप्पा लगा लें, जो अपने हैं। एक ऐसे वर्ग का निर्माण करें, जो अपने हित के लिए आपका विरोध न कर सके। जिससे आपको कोई लाभ होता हो या जिसे आप प्रसन्न कर सकते हों, वह आपकी कभी बुराई नहीं करेगा और अब ऐसे गुट बनाकर अपने-अपने निजी हितों को साधने की एक परंपरा विकसित होती जा रही है। यद्यपि ऐसी कुछ परंपरा या वर्ग का निर्माण करके आप अस्थायी रूप से सफल हो सकते हैं, स्थायी रूप से नहीं। केवल कॉलेज या विश्वविद्यालय के कुछ अध्यापकों एवं छात्रों में लेखक-आलोचक को सम्मान मिलता है, वह भी प्रसंगवश। यह उनकी एक विवशता भी है। कुछ संस्थानों एवं अकादमिक पत्रिकाओं के संपादकों के बारे में क्या कहना। सब जानते हैं कि कौन कैसा गोबर गणेश बना है। दूसरी ओर हिंदी साहित्य में तिकड़मबाज विद्वानों एवं अकादमिकों की एक बड़ी जमात पहले से उपस्थित रही है। इस चर्चा में यह भी निष्कर्ष निकाला गया कि क्या यह तिकड़मपन निम्न मध्यवर्गीय मानसिकता के लोगों का आविष्कार है? तो मुझे नहीं लगता कि ऐसा कुछ है। यह एक प्रवृत्ति है और लगभग हर क्षेत्र में है, जो पिछले दरवाजे से प्रवेश करती है। समाज में विकसित मध्यवर्गीय एवं निम्न मध्यवर्गीय यह दो वर्ग उदारीकरण एवं बाजारीकरण के पश्चात् विकसित दो वर्ग हैं। यह भी तरक्की करना चाहते हैं और अकादमिक क्षेत्र एक ऐसी दुनिया है, जिससे अब उच्च वर्ग को मोह नहीं रहा है। हिंदी के साहित्यिक वर्ग और अकादमिक वर्ग के बीच के अंतर्संबंधों को इस संदर्भ में कुछ भिन्न दृष्टि से देखा जा सकता है। यह जो लोग हैं, यह उच्च आर्थिक या संपन्न वर्ग से नहीं आते। उच्च वर्ग को साहित्य का क ख ग तक पता नहीं है। पूर्व मध्यकाल में साहित्यिकारों का संबंध अधिकांश निम्न वर्ग से था। उत्तर मध्यकाल में वे कुछ अधिक संपन्न वर्ग से आते हैं। खैर, यह तथाकथित अकादमिक वर्ग प्रायः धन से संपन्न होने की जद्दोजहद में लगा रहेगा। वह आया ही इसलिए है। इनके राजनीतिक संबंधों एवं रसूखों को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। यह वर्ग मैनेज होने और मैनेज करने की नीति के प्रति भी अत्यंत निष्ठावान रहा है। यह वर्ग हर उस प्रतिभाशाली व्यक्ति की उपेक्षा करेगा, जो असहाय है। असहाय प्रतिभा की प्रत्येक युग में अवहेलना और उपेक्षा होती आयी है। भारतीय लोकतंत्र में जो कुछ आशा का चित्र बन रहा था, वह अब अस्पष्ट हो गया है। साहित्यकार पर जिम्मेदारी तो है, पर वह स्वयं अपनी प्रतिष्ठा एवं कीर्ति के मोह में इसे अनदेखा कर रहा है। ऐसे स्थिति में दोहरा बोझ आलोचक पर आ जाता है। आलोचक को कुछ नए प्रतिमान और उदाहरण पेश करने होंगे। यहाँ आलोचना

को ऐसे गणतंत्र का निर्माण करना होगा, जो धनतंत्र के समक्ष न विवश हो और न परास्त।

❐❐❐

19 सितंबर, 2021

अहिंदी भाषियों का हिंदी प्रेम और प्रेम की हिंदी

जब मैं प्रेम की हिंदी इस विषय पर कुछ लिखने का मन बना रहा हूँ तो सर्वप्रथम मेरे मन में यह भी प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या कोई व्यक्ति किसी भाषा का इसलिए अध्ययन एवं अध्यापन करता है कि वह मात्र उस भाषा से प्रेम करता है? इधर मैंने अधिकांश लोगों को अपने आपको गर्व से हिंदी प्रेमी कहते हुए देखा है। ऐसे लोग आपको हिंदी प्रदेश की तुलना में अहिंदी प्रदेशों में अधिक मिलेंगे। यह लोग अपने आपको हिंदी सेवी भी कहते हैं और इनमें हिंदी को लेकर राष्ट्रप्रेम एवं एकता का भाव कूट-कूटकर भरा हुआ है। अच्छा, यह सब लोग हिंदी में कुछ विशेष रचनात्मक योग्यता नहीं रखते हैं। कुछ देखादेखी मामूली लगने वाली कविताएँ या कुछ साधारण-सा गद्य लिखते हैं और बहुत कुछ रहा तो लिखने के मामले में शोधकार्य तक सीमित रहते हैं। यह लोग अपने परिवेश में बड़ी जोखिम लेकर हिंदी में बोलने का प्रयास करते देखे जा सकते हैं। इनमें से कुछ लोग विद्यालयों, महाविद्यालयों में हिंदी अध्यापक का कार्य करते हुए भी हिंदी को लेकर विशेष उत्साहित देखे जा सकते हैं। इनकी इस हिंदी को लेकर हिंदी वाले यह कह सकते हैं कि अभी इन्हें अच्छी हिंदी नहीं आती। परंतु क्या केवल इस आधार पर इनके हिंदी प्रेम को झुठलाया जा सकता है? उन्हें इस तरह अपमानित किया जा सकता है? या उन्हें और अधिक अच्छा प्रशिक्षण देकर उन्नत किया जा सकता है? उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखकर प्रेरित किया जा सकता है? यह काम मुझे लगता है कि वास्तविक हिंदी वालों से नहीं होगा। क्यों नही होगा? अहिंदी प्रदेशों में हिंदी का अध्यापन एवं पत्रकारिता का कार्य करने वाले हिंदी भाषियों की इस संदर्भ में कितनी संतोषजनक सेवा कही जा सकती है? इसका जायजा लेना होगा। कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों में हिंदी की विशाल रोजगारपरकता या रोजगार की संभावनाओं के विषय में बड़े-बड़े व्याख्यान देने वाले विद्वान प्रामाणिकता से यह बतायें कि वे जिस स्थान पर रोजगार पाने में सफल हुए हैं, वह उन्हें कैसे और कौन-सी हिंदी प्रतिभा से मिला है?

अहिंदी भाषियों को हिंदी भाषा से प्रेम क्यों उत्पन हुआ या होता है, इसका उत्तर हिंदी भाषा के इतिहास में और इसकी राष्ट्रीय संपर्क की भाषा होने की

क्षमता में छिपा हुआ है। इस हिंदी प्रेम को नाटकीय प्रेम तो नहीं कहा जा सकता। अच्छा वे हिंदी से प्रेम इसलिए भी नहीं करते कि हिंदी उन्हें कोई अच्छी नौकरी देती है या दे सकती है। अहिंदी प्रदेशों के यह लोग हिंदी बोलने और लिखने के मामले में हिंदी प्रदेशों के लोगों की तुलना में उन्नत नहीं कहे जा सकते हैं, परंतु मजेदार बात यह है कि इन्हीं के कंधों पर सवार हुई हिंदी को राष्ट्रभाषा कहा जाता है। यह एक जबरदस्त अंतर्विरोध है। मुझे यह कहना है कि केवल हिंदी बोलने वालों के बल पर हिंदी को राष्ट्रभाषा का स्थान प्राप्त हो जाना, यह एक तरह से अहिंदी भाषी हिंदी बोलने वालों की बहुत बड़ी उपलब्धि है और इस तरह भाषा की राष्ट्रीय लड़ाई को लेकर उनका योगदान अतुल्य है। परंतु होना यह चाहिए था कि हिंदी बोलचाल की भाषा के रूप में विकसित होने के साथ-साथ संपूर्ण देश में शिक्षा के एकमात्र माध्यम के रूप में भी विकसित होनी चाहिए थी, जो नहीं हुई। कम से कम प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर तो उसे यह स्थान मिल जाना चाहिए था। यह राष्ट्रीय स्तर पर चिंता का विषय है। यह क्यों नहीं हो सका, इसकी पड़ताल हो।

अब केवल यदि हिंदी बोलने वालों का पक्ष लें जो अहिंदी प्रदेशों के निवासी हैं, तो कहा जा सकता है कि उनका यह हिंदी प्रेम स्वाभाविक यानी नेचुरल है। वे हिंदी बोलते हैं और अपनी निजी भाषा जिसे आप उनकी मातृभाषा कहें या प्रांतीय भाषा की प्रकृति के अनुरूप बोलते हैं। मराठी, गुजराती, कन्नड़, बांगला, मलयालम, तमिल के हिंदी बोलने वाले लोग तुरंत पहचाने जा सकते हैं कि वे हिंदी भाषी नहीं है। यह स्वाभाविक होने के साथ-साथ आवश्यक भी है। उनकी अपनी प्रांतीय भाषा की प्रकृति के अनुरूप हिंदी बोलने से यदि उनकी हिंदी बोलने की शुद्धता प्रभावित हो जाती है तो इसमें आपत्तिजनक क्या है? आप यदि संविधान के अनुच्छेद-351 का अवलोकन करेंगे तो उसमें स्पष्ट कहा गया है कि आवश्यकता पड़ने पर हिंदी को प्रांतीय भाषाओं की प्रकृति में घुलमिल जाना है। फिर हिंदी को राष्ट्र की सामासिक संस्कृति के वाहक बनने का दायित्व सौंपा गया है, उसका अर्थ क्या है? हिंदी को यह नहीं बताना और जताना है कि मैं हिंदी हूँ और प्रांतीय भाषाओं से भिन्न हूँ। यदि मूल हिंदी ऐसा सोचेगी तो उसे इसके परिणाम भी भुगतने होंगे। हिंदी भाषा बोलने और लिखने के स्तर पर कहीं भी ऐसी प्रतीत नहीं होनी चाहिए, कि वह थोपी जा रही है। प्रांतीय भाषाओं के जो लोग हिंदी से प्रेम करते हैं, अर्थात् हिंदी बोलते और सीखते हैं, उन्हें उनकी अपनी

निजी प्रकृति के रूप में हिंदी वालों को स्वीकार करना होगा। वे हिंदी को लेकर दोहरी अस्पष्ट नीति पर चल नहीं सकते जैसे कि प्रायः अनुभव होता है। यह राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में हिंदी को लेकर चिंतित करने वाली बात है। भला हिंदी के विरोध को लेकर अनेक अहिंदी भाषी राज्यों में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष क्या कारण हैं, इसकी समीक्षा कौन करेगा? और फिर उसके उपायों की और भी तो कुछ दृष्टि डालनी होगी। सिर्फ कविता, कहानियाँ, उपन्यास आदि लिखकर और साहित्य के ज्ञान के आधार पर विश्वविद्यालयों में नौकरियाँ प्राप्त कर कुछ विशेष नहीं होने वाला है। ऐसा सौ साल तक भी चलता रहा तो हिंदी वहीं के वहीं रहेगी। मैं दावे के साथ कहता हूँ कि संविधान में हिंदी के व्यावहारिक प्रयोग को लेकर चाहे जो भी निर्देश दिए गए हों, हिंदी की प्रशासनिक एवं व्यावहारिक कामकाज में स्थिति दुर्बल ही है। संविधान में हिंदी के विषय में जितने भी प्रावधान हैं, उनमें हिंदी में कामकाज अर्थात् इम्लिमेंटशन को लेकर बहुत कुछ संदिग्ध एवं अस्पष्ट है। अहिंदी भाषी राज्यों में हिंदी प्रेमियों का एक बड़ा वर्ग है। वह हिंदी के साहित्यकारों के प्रति उत्कट श्रद्धाभाव रखता है। मैंने अपने कई अहिंदी भाषी मित्रों को हिंदी की प्रचार एवं प्रकाशन संस्थाओं, साहित्यिक संगठन, परिषदों, विश्व हिंदी सम्मेलनों आदि के प्रति काफी जिज्ञासु एवं भावुक देखा है। वे काफी असामान्य (एब्नार्मल) स्थिति से प्यार करते हैं। हिंदी वाले नहीं जानते होंगे कि इन अहिंदी भाषी प्रेमियों को अपने कार्यस्थल पर अनेक मामलों में उपेक्षा एवं भेदभाव का सामना करना पड़ता है। यह हिंदी प्रेमियों की स्थिति ठीक उन मुहाजिरों की तरह है, जो पाकिस्तान में न इधर के न उधर के बने हुए हैं। हिंदी दिवस के समय केवल हिंदी प्रेमियों की अस्वाभाविक माँग बढ़ जाती है और वे बेचारे इस भुलावे में आ भी जाते हैं। मुझे कहना यह भी है कि हिंदी को लेकर अहिंदी भाषियों को अधिक भावुक बनने की बजाय कुछ व्यावहारिक बनना चाहिए। क्यों नहीं ऐसे अहिंदी भाषी हिंदी अध्यापकों के लिए हिंदी प्रांतों में कुछ संस्थानों में उचित प्रतिनिधित्व या आरक्षण निश्चित कर दिया जाए। इससे हिंदी भाषियों की अहिंदी भाषियों को मामूली संख्या में स्वीकार किए जाने की उदारता का परिचय तो मिलेगा। राष्ट्रीय एकता के भाव को लेकर हिंदी भाषियों को हिंदी की रोटी का एक छोटा-सा हिस्सा अहिंदी भाषियों के देने में क्या आपत्ति हो सकती है? हिंदी में रोजगार की राष्ट्रीय स्तर पर संभावनाएँ एवं अवसरों में वृद्धि को देखते हुए अहिंदी प्रांतों के अधिक लोग हिंदी पढ़ेंगे। इससे हिंदी के प्रति केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र आदि

प्रान्तों में एक राष्ट्रीय विश्वसनीयता का वातावरण विकसित होगा। यह कार्य परस्पर दोनों भाषाओं में रोजगार उपलब्ध कराने को लेकर भी हो सकता है।

कतिपय हिंदी साहित्यिकारों एवं विद्वानों की यह धारणा है कि हिंदी अपने विपुल साहित्यिक भांडार के बल पर देश का राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व करने में एकमात्र सक्षम भाषा है। परंतु यह तर्क बेबुनियाद है। किसी भाषा की साहित्यिक संपदा के आधार पर उसे राष्ट्रभाषा के रूप में देखना हास्यास्पद है। यदि संस्कृत साहित्य की साहित्यिक गुणवत्ता से हिंदी की बराबरी का प्रश्न है, तो वह उसकी बराबरी दूर-दूर तक नहीं कर सकती। जहाँ तक संस्कृत में मौलिक काव्यशास्त्रीय चिंतन की बात है तो हिंदी में इस प्रकार का मौलिक चिंतन कितना मिलता है? संस्कृत इन दोनों मामलों में भारत का वैश्विक प्रतिनिधित्व करती है, हिंदी नहीं। फिर भी आज संस्कृत भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में कतई उपयुक्त विकल्प नहीं है। इसलिए कि वह अनेक वर्षों पूर्व भारत में अपने संपर्क भाषा होने का स्थान खो चुकी है। इसलिए कि उसका जनसामान्य की भाषा से अधिक विद्वानों की भाषा बन जाना है। यह विद्वान एवं साहित्यकार प्रायः भाषा की पारिनिष्ठितता को लेकर उसे विशिष्ट एवं एकांगी बना देते हैं। यह खतरा हिंदी के समक्ष भी है। अतः सर्वप्रथम शिक्षा के माध्यम एवं बोलचाल की भाषा के रूप में हिंदी को देश की सामासिक संस्कृति (कंपोजिट कल्चर) की वाहक भाषा के रूप में विकसित एवं सर्वमान्य बनाने के प्रयास करने होंगे। हिंदी की इस विकासप्रक्रिया में तथाकथित अकादमिक हस्तक्षेपों से भी बचने का प्रयास करना होगा।

❐❐❐

20 सितंबर, 2021

सौंदर्य और घृणा : प्रकृति की न्यायव्यवस्था

जब हम फूलों को देखते हैं तो अनायास प्रसन्न हो जाते हैं। किसी भी वृक्ष का या किसी भी रंग, गंध और आकार का फूल क्यों न हो, हम उससे प्रसन्न हुए बगैर नहीं रहते। संसार में आजतक ऐसा कोई फूल नहीं हुआ है, जिससे मनुष्य ने घृणा की हो। ऐसा भी कोई फूल या उसकी कहानी हमें किसी भाषा के साहित्य में नहीं मिलती, जिससे मनुष्य को परेशानी हुई हो और मनुष्य ने उस फूल को साहित्य से और अपने जीवन से ही बहिष्कृत कर दिया हो। यदि ऐसा किसी साहित्यकार ने लिखा होगा तो निश्चित ही वह साहित्यकार मनोरोगी होगा। फूलों में आखिर ऐसा क्या है, जो अपने प्रति कभी घृणा को पैदा नहीं होने देते या कभी उनसे द्वेषपूर्ण भावना नहीं रखी जाती। परंतु जब से फूलों ने मनुष्य की विचारधारा या आस्था के प्रतीक के रूप में अपना एक स्थान बनाना शुरू कर दिया, फूलों से घृणा और द्वेष भी किया जाने लगा। अच्छा इसमें फूलों की न कोई अपनी भूमिका है और न ही इच्छा। कुछ फूल तो यूँ ही बदनाम हो गए। वे कभी यह समझ ही नहीं पा रहे होंगे कि उनके निकट खड़ा मनुष्य उनसे घृणा क्यों कर रहा है? वास्तव में यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि फूलों का सौंदर्य के प्रतीक के रूप में प्रयोग करना और विचार के प्रतीक के रूप में करना क्या इतना अंतर्विरोधपूर्ण और अलोकतांत्रिक हो सकता है?

प्रकृति को फूलों के निर्माण और आविष्कार की प्रेरणा कहाँ से मिली होगी? जिस प्रकार प्रकृति ने जल, फूल, वृक्ष, वायु और इनके रूप, रंग, गंध, स्पर्श के भिन्न-भिन्न आयामों और चेतनाओं को प्राप्त किया होगा तो यह प्राप्ति का प्रारंभिक क्षण कितना अद्‌भुत रहा होगा, नहीं? प्रकृति ने तो रूप मनुष्य को भी दिया है, पर मनुष्य ने अपनी विचारधारा और बौद्धिकता के कारण इस प्राकृतिक रूप को शुद्ध रूप में प्राप्त नहीं किया। परंतु कुछ भी हो, कुछ चीजों से देखते ही प्रेम हो जाना स्वाभाविक है। वस्तुतः इस प्रकार देखने में ही कुछ चीजें अपनी-सी लगने लग जाती हैं। परंतु इस प्रकार किसी भी वस्तु के बाहरी रूप से प्रभावित होने के पश्चात् तुरंत उसके प्रति तज्जन्य मोह या आकर्षण से स्वयं को अलग कर लेना बहुत जरूरी है। देखिए, फिर मैं भटक गया। मुझे कहना यह

है कि प्रकृति ने फूलों का आविष्कार क्यों किया? मैंने कई बार ऐसा निरीक्षण किया है कि फूलों की रचना वस्तुतः कुछ जीवों या कीटकों को आकर्षित करने के लिए हुई होगी। फूलों में वस्तुतः जो सौंदर्य, रूप या गंध है, वह आकर्षित करने के लिए ही है। मैंने तो इधर कुछ ऐसे वीडियो देखे जो मांसाहारी या शिकारी फूलों के थे। प्रकृति या फूलों के विशेषज्ञ इस विषय पर अधिक प्रकाश डाल सकते हैं।

कई प्रकार के कीटक, इल्लियाँ, मक्खियाँ और भंवरे आदि अनायास ही फूलों की ओर आकर्षित होकर अपनी हानि करवा लेते हैं, पर जाते वहीं हैं। जैसे यह सुंदर दिखने वाले फूल उनकी अंतिम नियति हों। कुछ फूल जो फल की प्रारंभिक संरचना या अवस्था के रूप में उत्पन्न होते हैं, वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझे जाते। यद्यपि वे फल का उपहार देते हैं। वे अधिक सुंदर या आकर्षक भी नहीं होते पर मधुर फल देते हैं। मैंने अभी कुछ दिन पूर्व हरतालिका पूजा में कदली के फूल को देखा। यह फूल अधिक रूपवान या सुगंधित तो नहीं कहा जा सकता पर मधुर केलों से हमें उपकृत ही करता है। जो फूल मधुर रसीले फल प्रदान नहीं करते, वे रूप एवं सुगंध से भरे होते हैं। प्रकृति ने फूलों को लेकर यह भेदभावपूर्ण रचना क्यों की, मैं समझ नहीं पाता। इधर कुछ महिला विमर्श के विशेषज्ञों ने प्रकृति के इस अंतर को अव्यावहारिक कहा हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। फल देने वाले फूलों को रूप और गंध न देना यह कैसी व्यवस्था है? क्या प्रकृति की भी अपनी कोई विचारधारा या न्यायव्यवस्था होती है? यह कुछ पल्ले न पड़ने वाला मामला है। क्या फूल प्रकृति की वास्तव में एक कुटिल रचना है, जो आकर्षण से भरी है? कुछ तो सोचना होगा। अब आप कोबी के फूल को लें या रुई के। यह मनुष्य जीवन में किसी-न-किसी तरह की उपयोगिता रखते हैं। कहीं मैंने यह पढ़ा था कि सुंदरता-वंदरता ऐसा कुछ नहीं होता। यह सब अपनी-अपनी दृष्टि है। मैंने फूलों में एक अंतर यह भी देखा कि जो फूल आकार में बड़े होते हैं, वे प्रायः सुगंधित नहीं होते। जो फूल आकार में छोटे होते हैं, वे एक तो सुगंधित होते हैं या फल देते हैं। किसी-न-किसी का प्रकृति की इस संरचना में मस्तिष्क का प्रयोग हुआ है। ऐसा दावे के साथ तो नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति को सोच-समझकर बनाया गया है। प्रकृति प्रायः सबकी रुचियों एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर विकसित हुई है, ऐसा मुझे लगता है। यद्यपि मनुष्य भी एक प्राकृतिक उत्पादन ही है परंतु उसने अपनी व्यवस्था को कुछ कृत्रिम सोपानों पर स्थापित किया है। यह है तो वह नहीं होगा, इस प्राकृतिक न्यायव्यवस्था को मनुष्य स्वीकार नहीं करता। एक बार द्रौपदी ने अपने भावी पति में कुछ गुणों एवं विशेषताओं की अपेक्षा व्यक्त की कि जो पति में होने ही चाहिए। परंतु प्राकृतिक संरचना के अनुसार वे सभी गुण या विशेषताएँ किसी एक व्यक्ति में मिलना असंभव थी। अतः उसे गुण तो सभी मिले परंतु पति भी पाँच स्वीकार करने पड़े। प्रकृति कुछ-न-कुछ प्रतिदान में तो लेती ही है। मुझे लगता है कि प्रकृति संभवतः समझौता नहीं कराती है।

❐❐❐

26 सितंबर, 2021
हर कोई आदमी को खरीदने की बात करता है

आज के समय में हम सभी के बीच में से पता नहीं कितने संबंध और चरित्र अविश्वसनीय हो चुके हैं। आप इस सत्य को स्वीकार करें या न करें पर हम सभी वास्तव में एक विडंबनात्मक एवं हास्यास्पद जीवन जी रहे हैं। वर्तमान में हमारे जीवन का नितांत अर्थकेन्द्रित एवं बाजारू बन जाना इसका प्रमाण है। स्त्री, पुरुष, बच्चे, वृद्ध, युवक आदि सभी एक दिशाहीन प्रवाह में बहते चले जा रहे हैं। हमारे समक्ष जीवन का कोई उद्देश्य ही नहीं है। मैं अपने वर्तमान समय, परिवेश एवं लोगों का जहाँ तक निरीक्षण कर रहा हूँ तो यह देख रहा हूँ कि सभी को एक विशेष आर्थिक उपलब्धि को किसी भी तरह प्राप्त करना है। एक व्यक्ति है, जो पेशे से व्यावसायिक है, मुझे एक बैंक में मिले और कहने लगे कि अब वे अपनी ज्वेलरी के व्यवसाय से संतुष्ट हो चुके हैं और उसमें करने जैसा कुछ नहीं है। अब उन्होंने मंत्रालय से जुगाड़ करके एक स्कूल खोल लिया है और वे अब सोचते हैं कि कब तक ग्राम और कैरेट में सोना बेचें? कुछ दो दिन पूर्व के पारिवारिक कार्यक्रम में दूर के एक व्यक्ति मिले और कहने लगे कि यदि कहीं पर कोई स्कूल बेचने को हो तो अवश्य बतायें, वे खरीदने की स्थिति में हैं। मैंने उनसे कहा कि भाई, मुझे तो यह पता ही नहीं था कि स्कूल भी खरीदे जाते हैं। उन्होंने प्ले-ग्रुप तक कोई स्कूल खोल रखा है और अब वे उसे सेकेंडरी स्कूल बनाने जा रहे हैं। राजनेताओं एवं मंत्रियों से सबकुछ सुनिश्चित हो चुका है। मैंने आजतक यह कभी सोचा ही नहीं कि स्कूल भी खरीदने और बेचने की चीज है।

वर्तमान में हमारे देश में सबकुछ बिजनेस बन चुका है। जिधर देखो उधर हर कोई आदमी खरीदने की बात करता है। प्लाट खरीदा, दुकान खरीदी, नौकरी खरीदी, पत्नी खरीदी, मित्रताएँ खरीदी यहाँ तक कि सत्य, न्याय और मूल्यों को खरीदने की बात भी की जा रही है। ईश्वर तो पहले से खरीदा जा चुका है। क्या ऐसी कोई चीज नहीं जो खरीदी ही न जा सके? जब तक पत्नी, माता-पिता, बच्चे, मित्र आदि को कुछ पैसे न दो, आर्थिक सहायता न करो, उनकी अपेक्षाएँ जो आर्थिक स्तर पर हैं, पूरी न करो तो कोई अस्सल प्यार करने को तैयार ही नहीं है। मेरे एक मित्र ने कभी मुझे आर्थिक सहायता की थी, पर तीन महीनों में जब उसने मुझे मिलना तो दूर, फोन कर भी यह नहीं पूछा कि मैं कैसा हूँ? तो मैंने तुरंत उसके पैसे ब्याज के साथ लौटा दिए। मुझे अपेक्षा यह थी कि वो भले ही मुझे आर्थिक सहायता न करें, पर कम से कम मुझसे फोन पर बात करने या मिलने का प्रयास तो कर सकता है? कुछ लोग तो जब पहली बार मिलते हैं तो कुछ इस तरह से मिलते हैं, जैसे पूर्वजन्म के संबंधी हों। मुझे झटका-सा लग जाता है कि आजतक जिसे कभी देखा तक नहीं था, वह मिलने पर मुझसे इतनी खुशी से, प्यार से बात कैसे कर सकता है? मेरे पेशे से संबंधित कुछ लोग मुझसे मिलने पर मेरे विषय में कुछ प्रशंसात्मक बातें करते थे। मुझे यह भी ज्ञात है कि कुछ सज्जन लोग मेरी निंदा भी करते हैं। जो लोग मुझसे वरिष्ठ होने पर भी मेरा आदर करते हैं और कई मामलों में मेरे विचारों की सराहना करते हैं या असहमत भी होते हैं तो इससे मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्यों? एक अध्यापक के नियमित प्रोन्नति के अवसर पर एक विषय-विशेषज्ञ ऐसे थे, जो उनसे पहले अप्रत्यक्ष और फिर बाद में खुलकर पैसे की माँग करने लगे तो अध्यापक मुश्किल में पड़ गए। इस प्रसंग में अध्यापक को अपनी व्यावहारिकता का परिचय देना था। ऐसा पुस्तक लिखने, शोधपत्र छपवाने के बारे में भी करना होता है। अधिक भावुक होकर या संवेदनशीलता से आप फसल कैसे कर सकते हैं? मैंने यह अनुभव किया है कि अध्यापक पेशे में नितांत व्यावहारिक लोगों के वर्चस्व ने इसकी गरिमा को काफी हद तक क्षति पहुँचायी है। अध्यापकों को अपने पेशे एवं दायित्व के अनुकूल केवल किंचित-सा व्यावहारिक होना चाहिए। केवल इतना ही सतर्क होना चाहिए कि अन्य कोई दूसरा ठग न सके। और इतना भी संवेदनशील नहीं होना चाहिए कि गिरी हुई मक्खी वाला दूध पी न सकें।

अब जब मैं पढ़ने-लिखने वाले पेशे से संबंधित आदमी हूँ तो काम भी वहीं करूँगा कि कॉलेज से लौटने पर बाजारों, मंडियों और दुकानों में बैठा करूँगा? अब मैं क्या देख रहा हूँ कि बहुत-से अध्यापकों ने अध्यापन को अपने जीवन में दोयम या तीसरे स्थान पर रख दिया है। क्या अध्यापन केवल आजीविका या एक रोजगार मात्र है? इस प्रश्न का क्या उत्तर होगा? उसी तरह पुस्तकें लिखना, समीक्षाएँ करना, शोध करना, पत्रिकाएँ निकालना आदि को भी आजीविका नहीं कहा जा सकता। पुस्तकें प्रकाशित करना और बेचने को आजीविका कहा जा सकता है। कुछ काम ऐसे होते हैं, जिनका पैसा नहीं, मानदेय मिलता है और इस मानदेय में मान का मूल्य बड़ा होता है, देय का नहीं। किस

काम को पैसे कमाने की दृष्टि से देखा जाना चाहिए या नहीं देखा जाना चाहिए इसकी निश्चित ही कोई दृष्टि या समझ होनी चाहिए और वह सर्वमान्य होनी चाहिए। आज हम छात्र को ऐसा तो नहीं कह सकते न कि लो भाई, मैंने तुम्हें एक घंटा पढ़ाया और अब लाओ हजार रुपये। कल के दिन पत्नी भी कहेगी कि मैंने आज तुम्हें खाना बनाकर दिया और लाओ 200 रुपये। मैं यात्रा में हूँ और रास्ता समझ न आने पर राह चलते किसी व्यक्ति से मैंने पूछा कि कौन-सा रास्ता जलगाँव जाता है? तो क्या वह रास्ता बताने के पैसे माँगेगा? एक दिन नगर के एक व्यापारी सज्जन अनायास मुझे मिले। वे मेरे फेसबुक-मित्र हैं। मैंने उनसे कहा कि आप मेरी कोई पोस्ट-ओस्ट पढ़ते हैं भी या नहीं? उन्होंने मुझे जो अप्रत्याशित उत्तर दिया, वह मैं कभी नहीं भूल सकता। उन्होंने कहा कि मैं वही काम करता हूँ जिससे मुझे कुछ पैसा-वैसा मिले। अब मुझे बतायें कि इस तरह फेसबुक पर कुछ लिखने और उसे पढ़ने, प्रतिक्रिया देने, टिप्पणी करने, प्रेरणा देने के कोई पैसे देता-लेता है क्या? फिर आप मित्र किसलिए बने हैं? कई सामाजिक एवं सार्वजनिक प्रसंगों पर मैंने लोगों को परस्पर असामान्य व्यवहार और बर्ताव करते देखा है। मुझे ऐसा लगता है कि क्या किसी भी हाल में पैसा कमाना इतना नितांत जरूरी है? सभी के लिए इस तरह से पैसा कमाना संभव नहीं है। पर जो लोग अच्छे और सरल हैं, निष्कपट और निरुपद्रवी हैं, वे क्या केवल मंदिरों में भजन करते बैठेंगे या भिक्षा माँगेंगे? तो मेरा कहना यही है कि जो जीवन में किसी भी तरह से पैसा कमाने में सक्षम हैं, उन्हें ज्ञान के क्षेत्र में नहीं आना चाहिए। उन्हें अध्यापकी के क्षेत्र में आने से रोका जाना चाहिए। यह क्षेत्र सियारों और लोमड़ियों के लिए वर्जित है, ऐसा नैतिक बोर्ड लगा देना चाहिए। यह सही है कि सच्चे, अच्छे, निष्कपट और सरल व्यक्ति के लिए वर्तमान समय में सम्मान से 100 रुपये प्रतिदिन कमाना भी मुश्किल है। इसका अर्थ यह नहीं कि वे अकर्मण्य हैं, प्रतिभाहीन हैं या कामचोर हैं।

❐❐❐

30 सितंबर, 2021

हर कोई अपने आपको मसीहा एवं महान मानता है

हमारे देश में वर्तमान में प्रायः लोगों में एक विशेष तरह की नाराजगी देखी जा रही है। यह नाराजगी पसंद लोग भी किसी विशेष प्रकार के वर्ग, समूह या विचारधारा से संबंधित देखे जा सकते हैं। उनमें यह नाराजगी राजनीति, नव निर्वाचित सरकार, कानून-व्यवस्था, प्रशासन, शिक्षा आदि विषयों के बारे में खुलकर सामने आती रहती है। भारत का लोकतंत्र भी काफी विचित्र है। यहाँ पर लोगों को आप प्रधानमंत्री से लेकर किसी को भी कुछ भी कहते देख सकते हैं। राजनेताओं-मंत्रियों के कथित भ्रष्टाचार के किस्सों और उन पर आरोपों को लेकर तो अब इतनी घिन और बोरियत होने लगी है कि क्या कहें। जैसे ही किसी पर इस तरह का आरोप होता है, वह तुरंत अपने आपको निर्दोष और दूध का धुला कहने लगता है। मैंने आजतक ऐसा नेता नहीं देखा कि जिसने तुरंत यह स्वीकार कर लिया हो कि उसने गलती की है और वह अपने ऊपर हुए आरोपों को स्वीकार करता है। जैसे ही किसी दिन ऐसा कोई कहेगा और मान लेगा तो तुरंत भारतीय राजनीति की दिशा ही बदल जाएगी। यह एक चमत्कार होगा और अद्‌भुत प्रसंग भी। दूरदर्शन पर ऐसा कोई नेता कभी आप देखना चाहेंगे, जो यह कह रहा है कि ''हाँ! मेरे ऊपर किए गए सभी आरोप सही हैं, मैं देश का अपराधी हूँ। मैंने देश के धन का अपव्यय किया है और मैं अपने अपराधों को स्वीकार करता हूँ और इसके लिए न्यायिक ट्रायल की कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें भी देश का धन बर्बाद होगा, अतः आप जो दंड मुझे देना चाहें वह दे सकते हैं?'' ...सोचिए, क्या होगा देश में? क्या प्रतिक्रिया होगी आम जनता की? क्या ऐसा कोई उदाहरण समाज के सामने पेश करने की किसी राजनेता, मंत्री, अफसर में हिम्मत है? कोई हत्यारा यदि तुरंत आत्मपश्चाताप के कारण शीघ्र यह स्वीकार कर ले कि ''हाँ! मैंने निरपराध की हत्या की है और यह जघन्य पाप मुझ नीच से हुआ है और अब मैं केवल फांसी की सजा के ही योग्य हूँ।'' ऐसा एक व्यक्ति भी हमें पूरे देश में या मीडिया में देखने के लिए क्यों नहीं मिलता? लंबी-लंबी जुडिशियल ट्रायलें चलती हैं और दस-पंद्रह साल के बाद फैसला आता है कि ऐसा कोई प्रमाण ही नहीं मिला कि उन्होंने अपराध किया हो। जितने भी आरोप-प्रत्यारोप

होते हैं और उनमें मानवीय ऊर्जा, समय और धन नष्ट होता है, उसके लिए वास्तव में कौन अपराधी हैं? सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की भाषा में कहें तो क्या देश केवल कागज पर बना एक नक्शा मात्र है या और कुछ है? क्या हमारे देश के लोग देश या राष्ट्र की वास्तविक अवधारणा को समझते हैं? कितने लोग समझते हैं?

अभी कुछ दिनों पूर्व हमने सरदार भगत सिंह को याद किया। सोशल मीडिया में तो भगत सिंह छाए रहे। उन्हें भारत का शहीदे आजम कहा गया। यह भी बताया गया कि कैसे उन्होंने अंग्रेजी साम्राज्य को चुनौती पेश की और अंग्रेजों ने उन्हें और उनके दो और साथियों राजगुरू और सुखदेव को चुपके से फांसी दे दी। मुझे आजतक यह समझ में नहीं आया कि भगत सिंह में ऐसी कौन-सी विशेषता थी कि वे सर्वश्रेष्ठ क्रांतिकारक के रूप में माने गए। केवल असेंबली में बम फेंकने के कारण? आपको हजारों ऐसे वीर मिलेंगे जिन्होंने देश के लिए अपने प्राणों का बलिदान किया। फांसी के फंदों पर झूले। उन्हें आज याद करने वाला कोई नहीं है। अंग्रेजों ने खोज-खोजकर अपने दुश्मनों को पकड़ा। गोलियों से भूना। जालियावाला जैसा जघन्य नरसंहार हुआ। देश के लिए किसी भी तरह से मर-मिटने वालों की संख्या अनगिनत है। पर भगत सिंह में ऐसी क्या खासियत है, जो वे शहीदे आजम कहलाने के हकदार हैं? क्या शहीदे आजम भारत रत्न से बड़ा सम्मान कहा जा सकता है? वह किसलिए? मैंने आजतक यह कहीं पर भी नहीं पढ़ा और न किसी ने मुझे बताया कि लाखों फांसी के फंदों पर झूलने वालों में से केवल भगत सिंह को यह गौरव क्यों प्राप्त है? अन्य के बलिदानों में और भगत सिंह के बलिदान में क्या अंतर है? यह अंतर हम आजादी के 74 वर्ष के बाद भी पता नहीं कर पाए हैं, यह हमारी त्रासदी है। कोई मुझे बताए कि क्या अंतर है? आज भी हमारे देश का हर व्यक्ति मौकापरस्त, झूठा और मतलबी क्यों हो गया है? काका हाथरसी ने एक बहुत ही बढ़िया बात कही थी, जो हमारे देश के एक बहुत बड़े वर्ग के वर्तमान चरित्र का सच्चा चित्र है, ''राम ने सीता छोड़ी थी, एक धोबी के कहने पर। आज का राम गधा न छोड़े, लाख दुलत्ती सहने पर? भगत सिंह अंग्रेजों से भागते नहीं फिरे। स्वयं को गिरफ्तार करवाया। ज्यूडिशियरी ट्रॉयल में अपना बचाव नहीं किया। झूठ नहीं बोला। अपने अपराध को स्वीकार किया और उस पर गर्व भी। मृत्यु का स्वागत किया। यह सब चीजें भगत सिंह को अन्य क्रांतिकारियों से भिन्न बनाती हैं। हमने भगत सिंह में से क्या

सीखा? केवल इतना ही कि अपराधी होने पर भी गर्व करो? अपने अपराध का समर्थन करो? हम असल में व्याख्याएँ और विश्लेषण करने में कितनी भारी ऐतिहासिक चूक करते आए हैं, इसका हमें अभी तक अंदाजा नहीं हुआ है। हर कोई अपने आपको मसीहा एवं महान मानता है।

मैंने इधर आज एक मराठी समाचार-पत्र में एक अनोखा समाचार पढ़ा। किसी विभाग में निधि की अनियमितता को लेकर मंत्री और अधिकारियों के विरुद्ध उच्च न्यायालय में दायर याचिका को पीछे लेने के लिए मुझे अंडरवर्ल्ड द्वारा धमकी दी गयी है, ऐसा एक एम०एल०ए० ने कहा और उसने अंडरवर्ल्ड डॉन के भतीजे का सीधे नाम लिया। अब खबर यह थी कि उस भतीजे ने कहा कि उसे बदनाम किया जा रहा है और वह संबंधित एम०एल०ए० के विरुद्ध मानहानि का केस दायर करने जा रहा है। मेरे लिए यह सबकुछ चौंकाने वाला मामला है। इसे अपराधजगत का नैतिकीकरण कहें या और कुछ? अंग्रेज सरकार की दृष्टि में भगत सिंह अपराधी थे, परंतु भारतीय जनता और स्वयं अपनी दृष्टि में वे सही थे। यह एक बड़ी विलक्षण और असमंजसभरी स्थिति है। पर हमने अपने हित में न्याय और सही के कुछ ऐसे मानक तैयार किए हैं, जो बड़ी हद तक अंतर्विरोधपूर्ण हैं। पर निर्णय तो निर्णय है। अंग्रेज सरकार ने अपना निर्णय लिया और भगत सिंह ने अपना। मैंने यदि कहा कि इसने चोरी की है और मैं प्रमाणित न कर सका तो? न्याय चोर के पक्ष में होगा और चोर मुझ पर अपनी बदनामी का केस भी कर सकता है। ऐसा मेरे साथ हुआ भी है कि मैंने जब एक सच कहा तो मेरे सच को झूठ माना गया और सामने वाले के झूठ के प्रति सहानुभूति। यह एक बड़ी यातनापूर्ण स्थिति थी, मेरे लिए। पर नैतिक रूप से जो अपराधी था, वो कामयाब हो चुका था। मुझे यह समझने में थोड़ा विलंब हुआ कि सत्य और असत्य अब महत्वपूर्ण नहीं रहा है, बल्कि इन दोनों के बीच में एक खास तरह की व्यावहारिकता और निजी सुरक्षा से युक्त कुटिलता आ गयी है। आप सोच भी नहीं सकते इतने व्यापक स्तर तक न्यायव्यवस्था भी एक बिजनेस बन चुकी है। भगत सिंह न्याय-अन्याय के बीच में इस बिजनेस के भी विपक्ष में थे। मैंने कहीं पढ़ा था कि खाड़ी के किसी देश में कुछ लोग तस्करी या हत्या के अपराध के मामले में भारी तगड़ी रकम देकर अपने को मुक्त कराने में सफल हुए थे। अपने बचाव की तैयारी मनुष्य को करनी ही चाहिए। हर कोई करता है और न्यायव्यवस्था उसे यह अधिकार भी प्रदान करती है। परंतु भगत सिंह ने ऐसी

कुछ बचाव-प्रक्रिया का सहारा नहीं लिया। यह बात उन्हें काफी महान बनाती है। मैंने तो यह भी सुना था कि अजमल कसाब को अपने कुकर्म का काफी पछतावा हुआ। वह रोया भी और गिड़गिड़ाया भी। अपनी मृत्यु को देखकर कहा जाता है कि वह काफी विचलित था। यह एक बहुत बड़ा अंतर होता है, क्रांतिकारक और अपराधी के बीच में। यह क्रान्तिकारिकता सत्य, न्याय और उसके प्रति स्वाभिमान से भरी थी। अंग्रेजों को भगत सिंह के स्वाभिमानी चरित्र एवं व्यवहार से भारी आपत्ति थी। वह गाँधी जी के निराश एवं शांत होने का समय था। अंग्रेज अधिक उत्साह में थे और उसमें भगत सिंह की यह अडिगता और दृढ़ता देखकर वे काफी भयभीत हो चुके थे। भगत सिंह समझौतावादी नहीं थे। स्वतंत्रता के तुरंत पश्चात् भारत की राजनीति में समझौतापरस्ती और अवसरवादिता का प्रभाव बढ़ा। हम वास्तव में भारत के स्वतंत्रतापूर्व चरित्र को काफी हद तक भुला चुके हैं। भारतीय राजनीति में चारित्रिक दृढ़ता का समय अब इतिहास की चीज हो चुकी है। देश को लूटने के लोकतांत्रिक तरीकों की बाकायदा खोज कर ली गयी है।

❐❐❐

1 अक्तूबर, 2021

गांधी : भारत कभी नास्तिक नहीं बनेगा

कल गांधी जयंती है और गांधी को लेकर मुझे क्या कहना चाहिए, इस विषय पर मैं प्रातः से सोच रहा हूँ। मुझे वस्तुतः इतना सोचने की कोई आवश्यकता नहीं है, पर मैं गांधी को लेकर पिष्टपेषण से भरी बातें नहीं करना चाहता। सत्य, अहिंसा, शांति, मानवता, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय एकता आदि कई ऐसे पक्ष हैं गांधी व्यक्तित्व के जिन पर काफी मंथन हो चुका है। हो रहा है और होता ही रहेगा। यह गांधी की विवशता या जरूरत नहीं है, बल्कि देश की है। गांधी की मृत्यु के बाद देश में गांधी के पुतले, रास्ते, चौराहे, स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, परियोजनाएँ, पुरस्कार, सम्मान, गीत, फिल्में सबकुछ बने, गांधी को जीने वाले और उनका अभिनय करने वालों की भी कमी नहीं है। हमने क्या किया कि गांधी को संत, महात्मा, देवता आदि बनाकर उन्हें उनकी पूजा, अर्चना और प्रार्थना तक सीमित कर लिया। क्या आपको नहीं लगता कि गांधी जयंती और पुण्यतिथि केवल कर्मकांड के सिवा कुछ नहीं है। मुझे आज से तीन वर्ष पूर्व जनवादी लेखक संघ की जयपुर इकाई के एक सम्मेलन में जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह मेरे लिए अनुभव के साथ-साथ जीवन को स्थिर बनाए रखने की एक औषधि के रूप में सहायक प्रसंग था। उस पर फिर कभी। उन तीन चार-दिनों में गांधी जयंती भी आ गयी। मुझे जिस आवास में ठहरने का लाभ प्राप्त हुआ, वह राजस्थान सरकार के किसी विभाग का कार्यालय एवं अतिथिगृह था। गांधी जयंती के अवसर पर प्रातः से प्रार्थना, भजन आदि का आयोजन। विशेष बैठक व्यवस्था, सफेद स्वच्छ गद्दे, तकिए, गांधी की प्रतिमा, फूल-हार, अगरबत्ती आदि सबकुछ अत्यंत करीने से, सलीके से। जिसे अत्यंत पवित्र, स्वच्छ, शांत, निरामय कहा जा सकता है, ऐसा सबकुछ। बाद में मुझे कुछ विशेष याद नहीं क्योंकि मुझे सम्मेलन स्थल पर पहुँचना था। लेकिन मुझे कहना यह है कि वह केवल एक सरकारी औपचारिक प्रक्रिया के रूप में मुझे प्रतीत हुआ। क्यों? मैं कुछ कह नहीं सकता। जहाँ भी मुझे केवल दिखावा एवं प्रदर्शन जैसा कुछ प्रतीत होता है, मुझे एक विशेष तरह की कोफ्त होती है। पता नहीं मैं अपने जीवन में आने वाली हर चीज के विषय में मौलिकता के प्रति इतना आग्रही एवं सचेत क्यों

होता जा रहा हूँ? यह मेरी भावुकता कदापि नहीं है। ऐसा क्यों लगता है कि बहुत कुछ गलत और अशोभनीय है? लेकिन आप कुछ भी कहें पर जब गांधी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे तो उनको भी भारत का तत्कालीन चित्र कुछ अशोभनीय एवं अस्वीकार्य प्रतीत हो रहा था। 4 फरवरी, 1916 के एक कार्यक्रम में अपने भाषण में जिसमें वायसरॉय और कई राजा-महाराजा सम्मिलित हुए थे, गांधी ने सबको खरी-खोटी सुनाई। सच-सच और बेबाक कहा। गरीब एवं दरिद्र भारत के राजा-महाराजा रत्नाभूषणों से इतने संपन्न कैसे हो सकते हैं? यह मूल प्रश्न उपस्थित हुआ था, गांधी के सामने। गांधी का भाषण एनी बेसेंट को रोकना पड़ा। कई राजा-महाराजा गांधी के भाषण से असंतुष्ट होकर बीच में ही चले गए। कुछ लोग कहते रहे कि आप बोलते रहो। कई लोग नारा लगाते रहे कि इसका भाषण बंद करो, लेकिन गांधी डरे नहीं। क्या गांधी पूँजीपतियों, सामंतों एवं शोषक वर्ग के प्रति घृणा करते थे?

अब जब गांधी के बारे में कुछ लिखना ही है, तो मुझे केवल उनके हिंद स्वराज की बात करनी है। प्रश्न और उत्तर शैली में लिखित गांधी की इस पुस्तक में केवल मुझे उनके शिक्षाविषयक विचारों पर ही अपनी बात रखनी है। वह इसलिए कि मैं एक अध्यापक हूँ और मैं यह बड़ी आंतरिक तीव्रता के साथ चाहता हूँ कि देश की शिक्षाव्यवस्था में शीघ्र ही मजबूत परिवर्तन की आवश्यकता है। यह परिवर्तन किस दिशा में होने चाहिए? शिक्षा लेने और देने के मामले में कैसे और क्या सुधार हो? कब और कहाँ-कहाँ पर हो, इस पर चिंतन की गहन आवश्यकता है। गांधी के व्यक्तित्व का यदि आप सूक्ष्मता से अवलोकन करेंगे तो आपको प्रतीत होगा कि वे एक राजनेता के रूप में बड़ी हद तक असफल कहे जा सकते हैं। उनका चिंतन, दर्शन, आचरण, निर्णयक्षमता और दृष्टि उन्हें न शासक के रूप स्थापित करती है और न नेता के रूप में। हिंद स्वराज में जब वे अनेक विषयों एवं समस्याओं पर अपने विचार प्रस्तुत करते हैं, तो प्रतीत होता है कि वे देश की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षिक एवं आर्थिक संरचना में बुनियादी परिवर्तनों को लेकर काफी चिंतित एवं आग्रही हैं। वे भारत की पूर्ण पारिस्थितिकी को समझते थे। उसके अंतर्विरोधों एवं विडंबनाओं से भी परिचित थे। अतः वे पूर्ण रूप से प्रयत्नशील थे कि भारत को सर्वथा एक संपूर्ण सांस्कृतिक इकाई के रूप में कैसे विकसित एवं समृद्ध किया जा सकता है? हिंद स्वराज में जहाँ तक उनके शिक्षा विषयक विचारों का प्रश्न है तो वे काफी प्रासंगिक और

महत्वपूर्ण हैं। अच्छी शिक्षा-बुरी शिक्षा, ऊँची शिक्षा-नीची शिक्षा, नैतिक शिक्षा-व्यावहारिक शिक्षा को लेकर गांधी के विचार एकदम स्पष्ट हैं। अक्षरज्ञान को मात्र शिक्षा समझ लेना एक बहुत बड़ी भूल है, ऐसा गांधी मानते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि शिक्षा का आभूषण के तौर पर उपयोग नहीं होना चाहिए। शिक्षा दंभ करने की चीज नहीं है। आज हम वर्तमान में क्या देखते हैं कि औपचारिक डिग्रियाँ प्राप्त लोगों में परस्पर श्रेष्ठता को लेकर कितना दंभ एवं असंतोष है? एक-दूसरे को शिक्षा के स्तर पर नीचा दिखाने में वे कोई कसर नहीं रखते। मैंने देखा कि मेरे महाविद्यालय में अभी-अभी जिन युवकों को पी०एच०डी० मिली है; उनके शरीर, स्वर एवं स्वभाव में एक खास तरह की अकड़ एवं श्रेष्ठताबोध उत्पन्न हो गया है। यही चीज IAS, IPS, MBBS, MPSC, CA, MBA परीक्षाएँ एवं डिग्रियाँ प्राप्त लोगों में भी देखने को मिलती हैं। यह वास्तव में सच्ची शिक्षा का परिणाम नहीं है। यह एक दुर्बल एवं निरुपयोगी शिक्षा है। ज्ञानात्मक जो शिक्षा है, जैसे- भूगोल, बीजगणित, विज्ञान, चिकित्सा, अभियांत्रिकी आदि जिसे हम उच्च शिक्षा भी कहते हैं, के विषय में गांधी के विचार द्रष्टव्य हैं। वे कहते हैं कि मैंने ऐसा ज्ञान पा लिया या पी भी लिया तो उससे क्या? किस उद्देश्य से मैंने यह ज्ञान प्राप्त किया? उससे मेरा और अन्य लोगों का कितना और कैसा भला हुआ? इस संदर्भ में वे अंग्रेज विद्वान हक्सले के विचार प्रस्तुत करते हैं। हक्सले कहता है- ''उस आदमी ने सच्ची शिक्षा पायी है, जिसके शरीर को ऐसी आदत डाली गयी है कि वह उसके बस में रहता है, जिसका शरीर चैन से और आसानी से सौंपा हुआ काम करता है। उस आदमी ने सच्ची शिक्षा पायी है, जिसकी बुद्धि शुद्ध, शांत एवं न्यायदर्शी है। उसने सच्ची शिक्षा पायी है, जिसका मन कुदरती कानूनों से भरा है और जिसकी इंद्रियाँ उसके बस में हैं, जिसके मन की भावनाएँ बिलकुल शुद्ध हैं और जिसे नीच कामों से नफरत है और जो दूसरों को अपने जैसा मानता है। ऐसा आदमी ही सच्चा शिक्षित माना जायेगा, क्योंकि वह कुदरत के कानून के मुताबिक चलता है। कुदरत उसका अच्छा उपयोग करेगी और वह कुदरत का अच्छा उपयोग करेगा।''

गांधी बाद में कहते हैं कि ऊपर जो शास्त्र मैंने गिनाये हैं, उनका एक अच्छा इंसान बनने में मुझे कोई उपयोग नहीं हुआ है। स्पष्ट है कि एक अच्छे इंसान को निर्माण करने में ऊँची शिक्षा असफल है। प्राथमिक शिक्षा को लीजिये या ऊँची शिक्षा को, उसका उपयोग मुख्य बात में नहीं हो रहा है। उससे न हम

अपना कर्तव्य समझ पा रहे हैं और न स्वाभाविक और सच्चा मनुष्य बन पा रहे हैं। गांधी के मुख से प्रस्तुत भारत की शिक्षा का यह हाल बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक का है। आज हम किस स्थिति में हैं? गांधी क्या कह रहे हैं कि यदि मैंने ऊँची या नीची शिक्षा नहीं पायी होती तो मैं यह नहीं मानता कि मैं निकम्मा आदमी हूँ। जहाँ तक अक्षरज्ञान की बात है तो गांधी की दृष्टि में अक्षरज्ञान हर हाल में बुरा नहीं है। बस उस ज्ञान की मूर्ति की तरह पूजा नहीं करनी चाहिए। आज क्या होता है कि लोग अपनी डिग्री को मूर्ति की तरह पूजने लगते हैं। उसे प्रदर्शन या दिखावे की चीज मानते हैं। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग तो इस मामले में अधिक दंभी दिखाई देते हैं। यदि आपको कोई भाषा अच्छी तरह से आती है, आप किसी वस्तु को बनाने में कुशल हैं, आप किसी रोगी का इलाज करने में प्रवीण हैं, आप उत्कृष्ट वक्ता, कवि, लेखक, पत्रकार आदि हैं, परंतु आप चरित्रवान एवं नीतिमान नहीं हैं, तो आपका जीवन निरर्थक है। गांधी कहते हैं कि हमारी स्कूलों में नीति एवं सद्चरित्र निर्माण को अधिक प्राथमिकता होनी चाहिए। पैसे कमाने के ज्ञान की नहीं। वे प्रशंसा करते हैं महाराज गायकवाड की अपने राज्य में योग्य शिक्षा देने की पहल को लेकर। जिसे लाजिमी शिक्षा कहा गया है। उनका कहना है कि लाजिमी शिक्षा अक्षर ज्ञान से श्रेष्ठ चीज है। वे एक किसान का उदाहरण देते हैं कि जो देहात में और झोपड़ी में रहता है। वह जानता है कि माँ-बाप, पत्नी, बच्चों के साथ कैसे व्यवहार करना है। चाल-ढाल, आचरण, रहन-सहन का भी उसे अच्छा ज्ञान है। वह नीति के नियम समझकर परिवार का पालन करता है, लेकिन उसे दस्तखत करना नहीं आता। उस आदमी को अक्षरज्ञान देकर आप उसके सुख में कौन-सी वृद्धि करना चाहते हैं? उसकी गरीबी या दरिद्रता के प्रति आप उसके मन में कौन-सा असंतोष पैदा करना चाहते हैं? वह तो बिना अक्षरज्ञान के भी हो सकता है। पर केवल अक्षरज्ञान देने मात्र से चारित्रिक विकास नहीं हो सकता। अक्षरज्ञान देने की बात हमने पश्चिम के प्रभाव में आकर चलायी है।

गांधी अपने समय में स्कूलों में प्रथम आने वाले छात्र नहीं थे और न बहुत कुछ मेधावी कहे जा सकते हैं। फिर वे महात्मा कैसे बने? इसकी कुछ तो समझ हमें होनी चाहिए? परीक्षाओं में ऊँचे अंकों के साथ पास होना कुछ बड़ी बात नहीं है। ऐसी उपलब्धियों को विशिष्ट तकनीक के साथ अर्जित किया जा सकता है। उत्तम मनुष्य बनने की कोई तकनीक अभी तक ईजाद नहीं हुई है। हर कोई कहता है कि मैंने बापू को जाना। कैसे जाना? बापू को जीना बहुत बड़ी बात है।

आप अपने जीवन में 10% भी बापू को जीकर दिखायें तो मानूँगा। हमें गांधी की मूर्ति की तरह पूजा नहीं करनी चाहिए। उनके उसूलों को अपनाना चाहिए। ऊँची शिक्षा या अंग्रेजी शिक्षा से अहंकार में वृद्धि होती है, यह कहना भी वे नहीं भूले। भारत को गुलाम बनाने वाले तो हम अंग्रेजी जानने वाले लोग ही हैं। वे कहते थे कि विशिष्ट उम्र में पहुँचने पर ही बालक को अंग्रेजी या किसी शास्त्र विषय की शिक्षा दी जाए। पैसे कमाने की दृष्टि से अंग्रेजी सीखने का भी गांधी ने विरोध किया। धर्म की शिक्षा देने के भी गांधी समर्थक थे। कैसे? पता नहीं। यह काम मुश्किल है, क्योंकि धर्म की कुंजी मुल्लों, दस्तूरों और ब्राह्मणों के हाथ में है। अंत में वे कहते हैं कि भारत कभी नास्तिक नहीं बनेगा। हिंदुस्तान की भूमि पर नास्तिक कभी फल-फूल ही नहीं सकते।

❐❐❐

5 अक्तूबर, 2021
मनुष्य की सबसे बड़ी योग्यता उसके श्रम करने में है

भारत में लोगों को पैसे की इतनी जरूरत है कि वे पैसे पाने के लिए कुछ भी करने को तैयार हो जाते हैं। सरलता से पैसे कमाने के अनेक रास्ते लोगों ने यहाँ खोज लिए हैं। श्रम एवं नैतिकता से पैसे कमाने को प्रायः यहाँ अब एक पुरानी और निरर्थक चीज समझा जाने लगा है। जितने पैसे की आदमी को अपनी पूरी जिंदगी में स्वाभाविक जरूरत होती है, उससे कई अधिक गुना धन कमाने एवं उसका संचय करने की प्रवृत्ति हावी होती जा रही है। आज किसी भी सामान्य व्यक्ति के जीवन में एक लाख रुपये की रकम बहुत बड़ी बात मानी जा सकती है। वह अपने आपको एक बड़ी सीमा तक अत्यंत सुरक्षित एवं मजबूत समझने लगता है और उसे ऐसा समझना भी चाहिए। लेकिन क्या आप इस चीज पर विश्वास कर सकते हैं कि एक सामान्य दिहाड़ी मजदूर के बैंक खाते में 1 करोड़ रुपये हों? ऐसा संभव ही नहीं है। मनुष्य की सबसे बड़ी योग्यता उसके श्रम करने में है। उसके किसी-न-किसी तरह के काम में मग्न होने और उससे कुछ उत्पादित करने में है। मैं क्या देख रहा हूँ कि मेरे पड़ोस में निर्माणाधीन मकान की एक लंबी और बड़ी दीवार कुछ मजदूरों ने दो दिन में खड़ी कर दी है। यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है उनकी। एक चार माह पूर्व वह स्थान खाली था, लेकिन वह कार्य केवल पैसे के बल पर नहीं, श्रम के बल पर बना है। लेकिन श्रमिक वर्ग को केवल श्रम करने की दृष्टि से सहानुभूति से नहीं देखा जाना चाहिए, बल्कि समानुभूति से देखा जाना चाहिए। भारत में गैर संगठित क्षेत्र के जितने भी श्रमिक हैं, उनके पास उतना धन नहीं है जितना कि एक अमीर व्यक्ति के पास है। आपके पास पैसे का कम हो जाना या लगभग न के बराबर होना आपके श्रमिक होने की विवशता एवं नियति को तय करता है। यह समझ में नहीं आता कि कैसे एक हिंदी फिल्म अभिनेता के तेईस वर्षीय पुत्र के नाम नौ सौ करोड़ की संपत्ति है? यह उसने कैसे अर्जित की? कैसे एक नेता अपने राजनीतिक जीवन के सक्रिय कुछ ही वर्षों में हजार-दो हजार करोड़ रुपये संपत्ति का मालिक बन जाता है? कैसे एक गेंद और बल्ले से खेलने वाला खिलाड़ी अपने खेल करियर के चार-पाँच वर्षों में 4 से 5 करोड़ का घर खरीद सकता है? आलीशान घर, कारें, ड्रग्स, मस्ती, ऐशो आराम, लोकप्रियता, वर्चस्ववादी आचरण आदि कितनी कुछ बातें हैं, जो हमारी वर्तमान मानवीय समस्याओं को अनदेखा करने वाली असंवेदनशीलता की प्रतीक हैं।

शहर के एक व्यापारी के पुत्र ने मुझसे कहा कि आपको कितना सारा वेतन मिलता है सर। कोई चिंता नहीं है आपको। सबकुछ कैसे एकदम बढ़िया। यद्यपि उसमें मेरे अध्यापकीय कार्य के प्रति कोई सम्मान का भाव नहीं है। केवल ईर्ष्या है। आजकल हर कोई व्यक्ति धन की प्राप्ति को लेकर एक-दूसरे से ईर्ष्या कर रहा है। मैं एक नितांत सामान्य परिवार से संबंधित हूँ। जब मैं इस शहर में नौकरी के निमित्त आया तो लगभग आठ महीने तक घर का किराया तक नहीं चुका पाया था। वेतन प्रारंभ होने पर मैं यह सब चुकाने में समर्थ हो सका। उस व्यापारी के पुत्र को अपने पिता की संपत्ति में से ही न्यूनतम एक-दो करोड़ की संपत्ति मिली हुई। अच्छी-खासी मंडी में दुकान है। पिता का बनाया हुआ तीन मंजिला घर है। नगर के आसपास नई कालोनियों में 8-10 प्लाट है। फिर भी उसे मेरे प्रति ईर्ष्या क्यों है? बल्कि उसे अपनी बिरादरी या वर्ग के किसी व्यक्ति द्वारा अत्यधिक धन कमाने से कोई आपत्ति नहीं है। वह उसे अपना आदर्श मानता है। केवल मुझे आकर्षक वेतन मिलने से उसे आपत्ति क्यों है, यह मैं समझ नहीं सका। भारत में हर धनिक व्यक्ति को दूसरे के पास आते धन को देखकर कमाल की जलन होती है। वह यह क्यों नहीं समझता कि भाई, मुझे जो यह धन मिल रहा है, वह मेरी शिक्षा एवं योग्यता के बल पर मिल रहा है। यह धन मुझे सरकार से मिल रहा है और प्राप्त धन पर मैं 20-30% आयकर भी दे रहा हूँ। मैं यह धन चोरी से, कपट से, कमीशन से, छल से, मुनाफेगिरी से या रिश्वत से नहीं कमा रहा हूँ। मेरे धनार्जन के विषय में मेरी यह नौकरी अत्यंत पारदर्शक है। धन प्राप्ति का मेरा यह स्रोत अत्यंत स्पष्ट है। जहाँ स्रोत अस्पष्ट है, वह वस्तुतः काला धन ही कहा जा सकता है। धन प्राप्ति के स्रोत की स्पष्टता ही वास्तविक आर्थिक चरित्र का आधार होना चाहिए।

मैंने जब समाचार-पत्रों में नेताओं की ओर से जारी अपने संपत्ति के विवरणों को देखा तो पाया कि उन्होंने अपनी संपत्ति में वृद्धि का कारण स्पष्ट करते हुए ज्यादातर यह लिखा है कि उनकी संपत्ति का मूल्य बढ़ा है। 2001 में जिसकी संपत्ति 20 लाख की थी, वह 2021 में 20 करोड़ की हो गयी है। ठीक उसी तरह से सोना और प्रतिभूतियाँ भी। श्रम के बजाय निवेश के माध्यम से

तत्काल अमीर बनने का चलन खूब फल-फूल रहा है। गरीब और दरिद्र होने की सबसे बड़ी शर्त यह मानी जानी चाहिए कि जिसके पास अपना घर ही न हो। भले ही उसके पास छोटा-सा रोजगार क्यों न हो? जिसके पास जमीन का उपजाऊ-अनुपजाऊ टुकड़ा है, वह अपने आपको क्या समझे? कुछ बेचकर उस रकम से दूसरी कोई आवश्यक एवं बहुमूल्य वस्तु को खरीदने की क्षमता का होना वास्तविक रूप में बहुत बड़ी शक्ति एवं सामर्थ्य है। परंतु आज भी हमारे देश में 70% जनता के पास यह सामर्थ्य नहीं है। इस पद्धति के द्वारा आपमें दिन-प्रतिदिन किसी उन्नत चीज को खरीदने की क्षमता आ जाती है। यद्यपि एकदम से 20 लाख की कोई प्रीमियम कार खरीदने का सामर्थ्य आपमें नहीं है। पर आपके पास यदि कोई दस लाख मूल्य की पुरानी कार है, तो आपको सिर्फ दस लाख की ही अतिरिक्त रकम का प्रबंध करना है। फिर आपके पास 20 लाख की वस्तु होगी। यह क्रयक्षमता में वृद्धि की एक नयी परिभाषा है। कई ऐसे सॉफ्ट तकनीक से युक्त तरीके आज काफी लोकप्रिय होने लगे हैं। जिसके पास पैतृक संपत्ति के रूप में सिर्फ झुनझुना हाथ लगा है, वह तो पैसे कमाने को लेकर नरक यातना का भागी है। देवी लक्ष्मी की प्रसन्नता को लेकर भारत में कई प्रकार की मान्यताएँ और अंधविश्वास हैं। यह लक्ष्मी की संकीर्ण अवधारणा से युक्त मान्यताएँ हैं। संपत्ति को कुछ विशेष टेक्नीक से ही अर्जित किया जा सकता है, यह विश्वास अब कानूनी जामा पहनकर दृढ़ होने लगा है। वस्तुओं का उत्पादन, ठेकेदारी, लेन-देन, ऋण का व्यापार, विज्ञापन, दलाली, बिचौली आदि को लेकर नए-नए रास्तों का आविष्कार किया गया है। घर बैठे ही या ग्राहकों की एक श्रृंखला बनाकर आपके लिए धन कमाने की नई-नई योजनाओं के तो क्या कहने? गोरे होने से लेकर वजन कम करने और बॉडी चेकअप तक के अनगिनत रास्ते। कहने का अभिप्राय यह है कि श्रम कर धन कमाने के रास्ते आजकल क्यों असम्मानजनक समझे जाने लगे हैं? अकूत धन अर्जित करने की क्षमता का किसी मनुष्य में विकसित होते जाना काफी भयानक है। इसमें तो मैंने मनुष्य की विवशता का लाभ उठाकर एवं भय दिखाकर धन कमाने के रास्तों पर अभी तक कटाक्ष ही नहीं किया है। पुलिस, अदालतें, अस्पताल एवं सरकारी कार्यालयों में जरूरतमंदों का कितना भीषण शोषण होता है, इसकी कल्पना करना ही मुश्किल है। यह सही है कि परस्पर शोषण के आधार पर धन अर्जित करने को लेकर हम काफी नीच अवस्था तक पहुँच चुके हैं। हम नैतिक स्तर से काफी नीचे गिर चुके हैं। क्या हमारे वर्तमान कानून अत्यंत निष्क्रिय हो चुके हैं या इस तरह धन कमाना हमारा वास्तविक चरित्र बन चुका है? कुछ कहा नहीं जा सकता। पर इस तरह से आप या मैं इससे बचकर निकल नहीं सकते। हमारा मौन हमारी निष्क्रियता तो है ही हमारी असमय मृत्यु ही है।

❐❐❐

8 अक्तूबर, 2021
सुरा, सुंदरी और सिंहासन के बावजूद जीवन अभिशप्त ही है

मनुष्य के महान बनने की प्रक्रिया प्रायः अनेक प्रकार के संघर्षों, चुनौतियों, आत्मबलिदानों, तिरस्कारों, अवहेलनाओं, असफलताओं, अनिश्चितताओं, अभिशापों एवं रिक्तताओं से भरी होती है। आप इन चीजों को उनकी जिंदगी से अलग करके देख नहीं सकते। यदि देखेंगे तो आपको उनके जीवन में यही सब आभूषण मिलेंगे। आप आश्चर्य कर रहे होंगे कि मैं इन चीजों को आभूषण क्यों कह रहा हूँ? तिरस्कार की अनुभूति से गुजरना कितना दाहक होता है, यह कितने लोग जानते हैं? आज प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि उसका जीवन संकटों से मुक्त हो पर क्या ऐसा हो पाता है? संपत्ति, ऐश्वर्य और सामर्थ्य होते हुए भी अनेक लोग अपने जीवन में रिक्तता का अनुभव करते देखे गए हैं? सुंदरतम पत्नियों के बावजूद लोग अपने जीवन में अशांत देखे जाते हैं। प्रेमिकाओं और मित्रों के होने पर भी लोग अत्यंत अप्रसन्न देखे जाते हैं। मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए कि उसका हृदय कभी भी हृदयानुकूल या मनोनुकूल वस्तु को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकता। अंतःकरण में अनंत अपेक्षाओं एवं इच्छाओं का जो असीमित भंडार हैं, उसकी तृप्ति का कोई वास्तविक साधन नहीं है। क्योंकि वह वस्तु या पदार्थ आपको मिलना ही नहीं है, जिसकी प्राप्ति की चेष्टाओं की पराकाष्ठा तक आप पहुँच चुके हैं। आप हिन्दू संस्कृति के देवताओं के जीवन का अवलोकन करें तो आप पायेंगे कि वे भी नितांत संघर्षशील रहे हैं। भगवान शिव के जीवन को देखें तो आप विष को प्रमुखता से पायेंगे। ऐसा क्यों है? इंद्र और अप्सराओं को देखें तो कितनी विडंबना देखने को मिलती है, नहीं? वस्तुतः देखें तो देवता बनने की चेष्टाएँ कितनी चुनौतियों से भरी होती हैं, इसका आप अनुमान नहीं कर सकते। सुरा, सुंदरी और सिंहासन होने के बावजूद जीवन कई मायनों में अभिशप्त ही है। दुर्गा और काली की कथाओं को जानें तो क्या मिलता है? हम देवताओं की प्रार्थना इसलिए करते हैं कि संकटों एवं दुखों से मुक्त हों। लेकिन हम यह नहीं देखते कि देवताओं को भी संकटों से मुक्ति नहीं मिली है तो हमें कैसे मिलेगी? क्या कोई देवता आज जीवित हैं? कैलाश पर्वत पर क्या भगवान शंकर आपको मिलेंगे और आप उनके साथ सेल्फी ले सकते हैं? कितनी मूर्खता से भरी व्यंजनाएँ हमने देवी-देवताओं की कर रखी हैं। हम प्रायः ऐसी कल्पना करके चलते हैं कि देवताओं का जीवन हमारे जीवन से अधिक आनंदमय है या होगा। पर ऐसा नहीं हैं। धीरोदात्त होना देवताओं के व्यक्तित्व की बहुत बड़ी विशेषता है, जो हमारी नहीं है। कई बार आप यह अनुभव करेंगे कि हमारा वर्तमान जीवन देवताओं के जीवन की अपेक्षा अधिक सुखकर है। क्या नहीं है? हम अपने बीच में से बेहतर लोगों के लिए थोड़ी-बहुत अच्छी व्यवस्था को निर्मित करने में कुछ सफल अवश्य हुए हैं। उधर इंद्र के राज्य को लेकर अशांति और अराजकता देखने को मिलती है। पता नहीं रहता है, कब सिंहासन से गिर जाए। कब ऐश्वर्य छीन लिया जाये, इसकी चिंता उन्हें सदैव उद्वेलित करती रहती है।

अशांति, अराजकता, भय और असुरक्षा के बीच देवताओं ने कैसी और कौन-सी सुव्यवस्था एवं न्यायव्यवस्था का निर्माण किया, वह उनके द्वारा लिए गए अवतारों द्वारा स्थापित आदर्श एवं मूल्यों में हमें दृष्टिगत होता है। मनुष्य ने देवताओं की कल्पना एवं रचना अपने से भिन्न की, परंतु देवताओं को यह बताना पड़ा कि उनकी रचना का प्रथम और अंतिम क्रम केवल मनुष्य ही है। उन्होंने मनुष्य बनकर अपनी ओर आने का रास्ता बताया। पर फिर हम भटक गए और देवताओं को अपने से अलग कर दिया। जैसे देवता किसी भिन्न प्रजाति के जीव हों। देवताओं ने हमें परिस्थितिजन्य कर्म करने का संदेश दिया, परंतु हमने उनकी पूजा-अर्चना को ही अपना कर्म बना डाला। हमने देवताओं के मंदिर बनाये पर अपने घर को मंदिर बनाकर स्वयं देवता की तरह संघर्षमय जीवन से विमुख होने में अपनी-अपनी भलाई समझी। हमने अपने दायित्वों का बोझ ईश्वर पर डालकर स्वयं को निष्क्रिय बना लिया। हमने अपने अपराधों, पापों एवं दुष्कर्मों को लेकर भी कई तरह की अवधारणाएँ खड़ी कर ली। हम प्रायः स्वयं को अच्छा समझते हैं और दूसरों को पापी। वे दूसरे भी अपने आपको ऐसा ही समझते हैं, जैसे वे इस दुनिया के सर्वाधिक पवित्र इंसान हैं। कुछ दिनों पूर्व मेरे एक परिचित मुझे ऐसा बता रहे थे कि यदि हमने किसी का अहित नहीं किया है तो हमारा भी अहित नहीं होगा। इस अवधारणा की पुष्टि हेतु उन्होंने अपने पिता का उदाहरण देते हुए कहा कि उनके माता-पिता जिस स्थान पर रहते हैं, वहाँ कई लोगों को कोरोना हुआ लेकिन उनके माता-पिता को कुछ नहीं हुआ। बल्कि उनके जो कोई दुश्चिंतक थे, उनके घर में कई लोगों की मृत्यु हुई। मैं उनके इन तर्कों को सुनकर भयाक्रांत हो गया। मुझे यह अनुभूति हुई कि मैं तो इतना सज्जन नहीं हूँ। कई

लोगों से मैंने सत्य, न्याय और योग्यता के आधार पर संघर्ष किया है तो मेरे असमय मृत्यु की नियति पक्की है। अपने से संघर्ष करने वाले का, उसके वंश का नाश हो इतनी अशुभ कामनाएँ करने वाले लोग कैसे पवित्र और सज्जन हो सकते हैं? क्या हमने अपने ही बीच के कटु अंतरसंबंधों तथा परस्पर संघर्ष एवं विवादों को लेकर लोगों को देवताओं और दानवों में वर्गीकृत कर लिया है? हम इस मामले में भी कितने विषाक्त अन्तःकरणों से भरे हैं, इसको जानकर काफी क्षोभ होता है। हम दूसरों पर आये संकटों को लेकर उसे उनके पापों का दंड या परिणाम मान लेते हैं, जैसे हमने अपने जीवन में एक चींटी या मक्खी तक न मारी हो। हम अपनी मानवीय प्रवृत्ति एवं सोच को लेकर कितने क्रूर, जाहिल और जंगली हैं। मेरे किसी मित्र या संबंधी की कोरोना या अन्य किसी दुर्घटना में मृत्यु हुई हो तो क्या वे पापी थे? यदि किसी ने मुझे कभी कुछ कष्ट दिया हो या मेरा अपमान किया हो तो क्या उसकी किसी भी प्रकार की क्षति को लेकर क्या मैं यह समझूं कि यह मुझे कष्ट देने का उसे दंड मिला है। और सबसे बड़ा तुक्का यह कि यह दंड देने का काम परमेश्वर ने किया है। यह काम यदि ईश्वर का है, तो अपराधी या खूनी को पुलिस का पकड़ना, जेल में डालना, फांसी देने का काम सरकार या न्यायव्यवस्था क्यों कर रही है?

इस संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसने कभी किसी मनुष्य या किसी मूक प्राणी को कष्ट न दिया हो। गरीब, दुर्बल एवं असहाय लोगों के शोषण एवं उत्पीड़न के किस्से अनंत हैं। यदि परमेश्वर का न्याय करने का ऐसा कुछ रैपिड तरीका है, तो इस संसार की आधी से ज्यादा आबादी को अब तक खत्म हो जाना चाहिए था। लेकिन ऐसा न हुआ है और न होगा। हम एक-दूसरे के प्रति कितनी बुरी सोच रखते हैं, यह हम ही जानते हैं। हम कितने दुष्ट और पापी हैं, इसे हमसे बेहतर कोई नहीं जानता। अतः कई सज्जन एवं संत प्रवृत्ति के लोग कभी अपने अपराध की अनुभूति होने पर आत्मग्लानि से भरे देखे जाते थे। आत्म पश्चाताप करते हुए मिलते थे। प्रेमचंद की कहानियों में कितने ही ऐसे चरित्र मिलते हैं। परंतु वर्तमान परिवेश में आत्मग्लानि से भरा या आत्मपश्चाताप करता हुआ मनुष्य दिखना दुर्लभ हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को दुरुस्त एवं सच्चा मानता है। पता नहीं इस भ्रांत कल्पना से समाज क्यों इतना प्रभावित हुआ और कब हुआ? मैं यदि सूक्ष्मता से निरीक्षण करूँ तो अपनी प्रत्येक कृति को जायज ठहराने की प्रवृत्ति हर व्यक्ति में मिलती है। छोटा-सा बालक भी यह मानने को तैयार नहीं है कि वह कहीं कुछ गलत है। बच्चे, बूढ़े, स्त्रियाँ, शिक्षित, अनपढ़, ज्ञानी, विद्वान और मूर्ख सभी कुछ इस मनोवैज्ञानिक रोग से पीड़ित हैं। क्या वास्तव में यह एक मानसिक रोग है? या दुनिया बदल चुकी है?

❐❐❐

10 अक्तूबर, 2021
हम तत्काल नकारात्मक राय पर कैसे पहुँच जाते हैं?

आज मैं अपने जीवन में सुख की परिभाषा एवं अनुभूति को लेकर कुछ निष्कर्षों पर पहुँचने के प्रयास में लगा रहा। परंतु मेरे विशेष कुछ हाथ न लगा। सुख की अनुभूतियाँ मुझे काफी विचित्र और तात्कालिक प्रतीत हुईं। मुझे आजतक ऐसा कभी प्रतीत नहीं हुआ कि कोई सुख की अनुभूति दीर्घकाल तक मुझे प्रभावित करती रही हो या मैं उसका आस्वाद लेता रहा हूँ। भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छाओं का पूर्ण होना, सफलताएँ, उपलब्धियाँ, पूर्णताएँ, निश्चिन्ताएँ, मान-सम्मान आदि मनुष्य को वास्तविक रूप से सुखी बना सकते हैं क्या? तमाम तरह की अपूर्णताओं के नष्ट होने पर भी एक अजीब-सी रिक्तता महसूस होती रहती है। इस रिक्तता की तीव्रता तब अधिक बढ़ जाती है, जब मैं यह पाता हूँ कि यह पूर्णताएँ मेरे लिए उपयोगी नहीं हैं। यह रिक्तता तब अधिक कचोटती है, जब मैं यह देखता हूँ कि मेरे आसपास कितनी असमानताएँ एवं अभाव हैं। मैंने कई बार यह अनुभव किया कि जब हमारे आसपास के लोग हमसे प्रेम करते हुए हमारी चिंता भी करते हैं, तो सबसे बड़ी सुख की अनुभूति होती है। मैं यदि चिकित्सक के पास गया तो मुझे सबसे अधिक सुख तब मिलता प्रतीत होता है, जब मैं डॉक्टर की आँखों में मेरे जीवन के प्रति चिंता का भाव देखता हूँ। तब नहीं होती जब वह मुझसे केवल धन की अपेक्षा से इलाज करता है। आजकल संभवतः हम सभी में से यह परस्पर चिंता का भाव खत्म होता जा रहा है और प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को ग्राहक या अपने लाभ की दृष्टि से देख रहा है। यही कारण है कि अकूत संपन्नता एवं आर्थिक सुरक्षा के बावजूद हर व्यक्ति अपने अंतर्मन में कहीं-न-कहीं दुख का अनुभव कर रहा है।

मैं आज जिस स्थान पर कार्य करता हूँ वहाँ हर वह व्यक्ति दुःखी है, जो दूसरों को अपने से अधिक वेतन पाता देख रहा है। मुझे तो यह भी प्रतीत हुआ कि यदि 8-10 दिन मैं अपने कार्यस्थल पर अनुपस्थित रहूँ तो कोई मेरी खबर तक नहीं लेगा कि मैं जीवित हूँ भी या नहीं। तीन दिन पूर्व एक अध्यापक भी मुझसे इसी बात पर सहमत हुए, जो कोविड संक्रमण के कारण लगभग 3 महीने अस्पताल में भर्ती थे और जिन्हें म्युकर मिकोसिस का भी संक्रमण हो गया था। वे विभाग के बाहर अकेले खड़े थे, तब मैंने जब उनसे उनका हाल पूछा तो कहने लगे कि बाहर लोगों ने उनके मर जाने की या न बचने तक की शाश्वत से भरी खबरें फैला दी थी। पता नहीं हम दूसरों के जीवन को लेकर तत्काल इतनी नकारात्मक राय पर कैसे पहुँच जाते हैं? मैंने पिछले कुछ वर्षों में यह अनुभव किया कि मेरे कुछ मित्र, परिचित या संबंधी केवल इसलिए मुझसे कोई स्नेह भाव या आत्मीयता नहीं रखते कि मुझे अच्छा खासा वेतन मिलता है और मैं काफी ऐश्वर्य से भरा हूँ। उन्हें यह नहीं पता कि मैं लगभग 70-75 लाख का ऋण लेकर कुछ आर्थिक प्रोजेक्ट करने में सफल हुआ हूँ। मुझे यद्यपि कुछ नहीं करना चाहिए था और मुझे दुर्बल या असहाय बने रहना चाहिए था, तो क्या उन्हें अच्छा लगता? दूसरों की हानि, क्षति, निर्धनता एवं असफलताओं से यदि किसी को आनंद मिलता है तो वह आसुरी आनंद है। एक और विशेष बात यह है कि मुझे सामान्य-सी प्रतीत होने वाली मेरी शैक्षिक एवं साहित्यिक उपलब्धियों से भी जिन कुछ लोगों को ईर्ष्या एवं अप्रसन्नता होती है, वे मुझे प्रायः मेरी उपेक्षा करते हुए मुझे अनेक बार महसूस हुए हैं। अब मैं उनसे यह अपेक्षा क्यों करूँ कि वे मुझे बधाई दें। संभवतः उनकी कुछ विवशताएँ हों। पर जहाँ मैं इन्ही लोगों को दूसरों को बधाई देते हुए देखता हूँ तो लगता है कि वहाँ भी वे केवल दिखावा ही कर रहे हैं। दूसरों को सुखी करने की कुछ दिखावे से भरी क्रियाओं से परिचित होने पर जो वेदना होती है, वह असहनीय है। हर व्यक्ति यह क्यों नहीं समझता कि वास्तविक सुख दिखावा या प्रदर्शन करने से नहीं मिलता। सुख कुछ ऐसे ही और अनायास ही दिया जाए और मिले तो उसमें अपूर्व की अनुभूति होती है। दूसरों के प्रति आत्मीयता, चिंता और गौरव की अनुभूति से युक्त व्यक्त प्रतिक्रिया ही सच्चे सुख की कारक हो सकती है। लेकिन लोग अनेक प्रकार के परस्पर पूर्वाग्रहों एवं महत्वाकांक्षाओं के कारण यूँ ही एक-दूसरे से बुझे-बुझे से रहते हैं। चरित्र की बहुत-सी अच्छाइयों को प्राप्त करने के लिए दूसरों के प्रति सकारात्मक भाव रखना बहुत ही आवश्यक है। मैंने अत्यंत वृद्ध हो चुके लोगों में भी चरित्र की इस कमी को अनुभव किया है। कल मेरे पुत्र नचिकेत ने मुझे कुछ अनपेक्षित-सा प्रश्न पूछा कि लोग एकदम फालतू बातों पर इतना लाइक क्यों करते हैं और अच्छी बातों पर क्यों नहीं? यह प्रश्न तो मेरे सामने भी कई बार उपस्थित हुआ था। पर नौ साल की उम्र में उसके सामने इस प्रश्न का उपस्थित होना मुझे काफी गंभीर लगा। मैं आज इसका उत्तर देने में असमर्थ हूँ क्योंकि अभी उसका जीवन

कच्चा है। पर मैंने उसे यह कहा कि किसी की बात को लाइक करना या न करना बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है उस बात की सार्थकता को समझना। यदि तुम्हें खुद पता है कि तुमने एक बेहूदी बात लिखी है और फिर भी आपके मित्र उसे वाह!... लाजवाब!... बढ़िया!... इस तरह की आपको प्रसन्न करने वाली टिप्पणीयाँ करेंगे तो आपको अच्छा तो नहीं लगेगा। कई बार हम स्वयं ही अपने आपके अच्छे समीक्षक होते हैं या हो सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आपको अपने आसपास ऐसे अनगिनत लोग या प्रशंसक मिलेंगे जो आपको झूठा सुख प्रदान करने में प्रयत्नशील होते हैं। आभासी दुनिया में प्रशंसा या आलोचना को बहुत अधिक भावुकता से नहीं लेना चाहिए और वास्तविक दुनिया में भी नहीं लेना चाहिए। यह बात तो सच्ची है कि प्रशंसा करने से अधिकांश लोगों को सुख की अनुभूति मिलती है, परंतु यह एक शब्दछल मात्र है। आपके प्रति आत्मीयता एवं स्नेह का भाव अधिक महत्वपूर्ण होता है।

❐❐❐

22 अक्तूबर, 2021

आजकल लोगों में शिक्षा का दंभ अधिक मिलता है

18 अक्टूबर को मैंने हिंदी प्राध्यापक के रूप में हिंदी भाषा एवं साहित्य का अध्यापन करते हुए अपनी सेवा के बीस वर्ष पूर्ण कर लिए। तब मैं लगभग 29 वर्ष का था और हिंदी अध्यापन को लेकर विशेष ऊर्जा एवं उत्साह से भरा हुआ था। महाविद्यालयीन शिक्षाजगत के प्रति मेरे मन में विशेष आदर एवं कौतूहल भी था। इसे 'उच्चशिक्षाजगत' भी कहते हैं। मैं आजतक इस क्षेत्र में इस 'उच्च' शब्द की ठीक-ठीक अवधारणा का पता करने में असफल रहा हूँ। जिस शासकीय कार्यालय द्वारा हमारा वेतन होता है, उसे उच्चशिक्षा विभाग कहा जाता है और प्रायः हमें इस विभाग से अपनी नियुक्ति, प्रोन्नति से लेकर सेवानिवृत्ति तक बड़े ही सावधानी और तालमेल से काम करते हुए अपने अंतिम पड़ाव तक सुरक्षित एवं सफलतापूर्वक पहुँचना होता है। यह एक विशेष प्रकार का गठजोड़ है। मैं जब तक इस नौकरी में नहीं था, तब तक मेरे लिए यह दुनिया एक अजीब से आकर्षण एवं सम्मोहन से भरी थी और मैं ऐसा मानता था कि यहाँ सबकुछ सरलता से एवं प्रामाणिकता से होता है या किया जाता है। पर मैं अब यह अनुभव करता हूँ कि इस क्षेत्र में किसी का भी प्रामाणिकता एवं सरलता से प्रवेश करना संभव नहीं है। आज भी यदि कोई ऐसा मानता है या उसका विश्वास है कि यह दुनिया सच्चे, सरल एवं प्रामाणिक लोगों से भरी है और यह लोग सच्चे, सरल, योग्य एवं प्रामाणिक लोगों की कद्र एवं सहायता करेंगे तो वह एक तो मूर्ख है या पागल हैं। हाँ, बिलकुल सही कह रहा हूँ मैं। उच्चशिक्षा की वर्तमान स्थिति एवं उसकी वास्तविक अवधारणा को लेकर मैं वाकई चिंतित हूँ। कभी-कभी मुझे लगता है कि अच्छे, सर्वोत्तम एवं योग्यतम लोगों से भरी दुनिया की अपेक्षा करना एक काल्पनिक चित्र का रेखांकन करना मात्र है। जैसे कागज के ऊपर एक बहुत ही सुंदर चित्र को निकालना। ऐसा एक चित्र मैंने भी बनाया था पर मैं अब यह देख रहा हूँ कि यह चित्र जो वास्तविक चित्र मैं देख रहा हूँ, उससे मेल नहीं खा रहा है। इन विगत बीस वर्षों में इस जगत को लेकर मेरे जो अनुभव हैं, वह मेरे बनाए चित्र से भिन्न हैं। मैं आज यह समझ रहा हूँ कि उच्चतम चरित्र एवं आचरण के मानकों को मनुष्य में विकसित करने में हमारी उच्चशिक्षा असफल

रही है और वह केवल रोजगारपरक हो गयी है। रोजगारपरकता का अर्थ है, मनुष्य में अपनी आजीविका की क्षमता विकसित करना और ऐसी किसी क्षमता का विकास बिना उच्चशिक्षा प्राप्त किए भी हो सकता है, ऐसा मैं मानता हूँ।

मैं जब शहर के बाजार एवं मंडियों में भिन्न-भिन्न प्रकार का कार्य करते हुए लोगों का निरीक्षण करता हूँ तो पाता हूँ कि उनमें 10 प्रतिशत संख्या भी उच्च शिक्षितों की नहीं है, परंतु उनमें अपने कार्य का पर्याप्त ज्ञान या कुशलता है। मैं जब उच्चशिक्षित स्नातक एवं परास्नातक लोगों का अवलोकन करता हूँ तो पाता हूँ कि उनमें आजीविका प्राप्त करने की कोई कुशलता नहीं है और साथ में उनमें प्राप्त शिक्षा का भी कोई विशेष ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है। वे केवल प्राप्त डिग्री को लेकर एक विशेष प्रकार के दंभ से भरे हुए जीव मात्र हैं। वे अपनी प्राप्त डिग्री को किसी आभूषण की तरह पहने दिखते हैं, जो उन्हें शोभा नहीं देती। डिग्री को लेकर यह अलंकारबोध उनमें क्यों और कहाँ से उत्पन्न हुआ है? कुछ ठीक से कहा नहीं जा सकता। पर मुझे लगता है कि हमारी शिक्षा के प्रति धारणा या सोच में ही कहीं कुछ दोष है। इसलिये शिक्षा की निश्चित संरचना एवं लक्ष्य को निर्धारित करने में हम बड़ी हद तक दुर्बल प्रमाणित सिद्ध हुए हैं। समाज के एक बड़े हिस्से ने शिक्षा देने और लेने को केवल रोजगार के लक्ष्य तक ही सीमित कर लिया है। यह मैं क्या देख रहा हूँ कि एक रियल इस्टेट कंपनी का प्रोजेक्ट एवं फोर व्हीलर ऑटो कंपनी अपने उत्पाद का जिस प्रकार किसी समाचार-पत्र के पहले पृष्ठ पर ही अपना फुलसाइज रंगीन विज्ञापन दे रहे हैं, ठीक उसी प्रकार कोचिंग क्लासेस के भी विज्ञापन आने लगे हैं। यह शिक्षा को लेकर आतंकित करने वाला चित्र है। मेरे यह समझ में नहीं आता कि क्या आप सचमुच में भारी रकम देकर अपने बच्चों को उच्चशिक्षित बना रहे हैं या आप उन्हें भी एक अच्छा उत्पाद बनाने के लिए कोचिंग के कारखानों में भेज रहे हैं? क्या विद्यार्थी मात्र ग्राहक है? यहाँ पर तो ग्राहक बनने की भी होड़-सी लगी है। मैं यह नहीं कहता कि देश में डॉक्टर, इंजीनियर नहीं बनने चाहिए। बल्कि बालकों की डॉक्टर या इंजीनियर बनने की योग्यताओं की इस तरह की प्रक्रिया या प्रणाली से निश्चित करना नितांत गलत और एक तरह की जालसाजी है। बालकों के भीतर की योग्यताओं को किसी निश्चित पाठ्यक्रम पर आधारित तकनीकी परीक्षण प्रणालियों पर कसना एक कृत्रिम संरचना है। अच्छा, मैंने जो इससे पूर्व में कहा कि शिक्षा देने-लेने को ही एक रोजगार के रूप में निर्मित कर दिए जाने के कारण देश में

अनेक ऐसे निजी कॉलेज एवं विश्वविद्यालय कुकरमुत्तों की तरह खुल गए हैं, जो अकूत शुल्क वसूल रहे हैं। अच्छा यहाँ से कितने महान वैज्ञानिक, डॉक्टर या इंजीनियर देश को हर वर्ष मिलते हैं, कुछ खास कहा नहीं जा सकता। क्या देश की सर्वोत्तम शिक्षा केवल मेधावी छात्रों को मुफ्त में देने की बड़ी योजना पर कार्य नहीं हो सकता? जहाँ धनबल से आने वाले लोगों पर कुछ अंकुश रखा जा सके।

विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में जब कुछ विशेष पाठ्यक्रमों को लेकर छात्रों से बड़ी-बड़ी फीस के रूप में पैसे मिलते हैं तो हिंदी विभाग इस बारे में अनुपजाऊ प्रतीत होते हैं। उच्चशिक्षाजगत में छात्रों से पैसे कमाने को लेकर भी नई-नई परंपराएँ एवं युक्तियाँ काफी फल-फूल रही हैं। कुछ दूरशिक्षा पाठ्यक्रमों में तो सरलता से पास करने की गारंटी तक ली जाती है। ऐसे ही कई लोग जब डिग्रियाँ हासिल कर लेते हैं तो वही इस क्षेत्र की नौकरियों को हासिल करने में भी सफल हो जाते हैं। यह एक दुष्चक्र है। इसे समझने और रोकने में कोई पहल नहीं कर रहा है। किसी विशेष कोर्सेस में प्रवेश को लेकर निजी आर्थिक हितों को देखकर शर्तें बनाई गई हैं। जब मैं पढ़ रहा था तो मुझे सचमुच ही यह अनुभव होता था कि मैं कितना भाग्यशाली हूँ। प्रवेश शुल्क, परीक्षाओं का शुल्क, नोटबुक्स और पुस्तकें मिलाकर मैंने उस समय कुछ 8-10 हजार के लगभग खर्च किए होंगे और मेरी सारी BA और MA की पढ़ाई पूरी हो गयी। और सबसे बड़ी बात यह है कि मैंने यह पढ़ाई बड़ी ही मेहनत, निष्ठा से की एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में की। हिंदी की पढ़ाई को लेकर मेरे मन में कोई हीन भावना नहीं थी। आजकल जब मैं छात्रों की हिंदी पढ़ने को लेकर मानसिकता को देखता हूँ तो वे कुछ-कुछ अपने भविष्य को लेकर आशंकित नजर आते हैं। वहीं कुछ व्यावसायिक एवं विज्ञान के छात्रों को देखता हूँ तो उनमें उस विषय को लेकर विशेष प्रकार का श्रेष्ठताबोध दिखता है। वे केवल इसी को अपनी विशेष उपलब्धि मानते हैं कि वें विज्ञान पढ़ रहे हैं। उनमें एक खास तरह की संतुष्टि या समाधान की भावना नजर आती है। यही सबसे बड़ा दोष शिक्षाव्यवस्था में उत्पन्न हो जाता है। कई ऐसे विज्ञान के छात्र एवं अध्यापकों से बातचीत में मैंने यह अनुभव किया कि न उनमें वैज्ञानिक भावबोध है और न अपने विषय के सिद्धांतों के प्रति जिज्ञासा। अनेक ऐसे छात्रों एवं अध्यापकों का मैं अवलोकन करता हूँ तो पाता हूँ कि उनमें विशुद्ध चिंतन एवं विश्लेषण की क्षमता ही उत्पन्न नहीं हुई है। स्वतंत्रता के 75 वर्ष के बाद भी हम अपनी शिक्षाव्यवस्था के द्वारा ऐसे मानवीय चरित्रों का

विकास करने में असफल रहे हैं, जिनमें समग्र मनुष्यजीवन के प्रति चिंता हो। वे भारतीय जनजीवन के सामाजिक एवं लोकतांत्रिक संरचना में कुछ भी आवश्यक मौलिक परिवर्तन का संकेत करने में दुर्बल प्रतीत हो चुके हैं। हाँ, केवल भौतिक विकास के मामले में सब आगे हैं। सभी के पास बड़े-बड़े घर, बंगले, गाड़ियाँ, कपड़े और ऐशो आराम की चीजें हैं। पर स्वास्थ्य, जीवनसुरक्षा, न्याय के मामले में कमाल की उदासीनता है और यह सबकुछ ईश्वर के भरोसे है। मेरी कालोनी में पिछले दस वर्षों में पक्का रास्ता नहीं बन पाया। निकासी की कोई व्यवस्था नहीं। बल्कि टी०वी० केबल और ब्रॉड बैंड कनेक्शन मेरे घर तक पहुँच चुका है। एप्पल का फोन बाजार में उपलब्ध हो चुका है, लेकिन किसी भाषा की साहित्यिक पुस्तकों की दुकान मेरे नगर में नहीं है। पूरे महाराष्ट्र में संभवतः एक-दो जगह ऐसी होगी, जहाँ हिंदी की पुस्तकें मिलती हों। मैं जब पढ़ रहा था, वह 1992-93 का समय था, तो पुणे में कोथरुड में एक झुग्गी बस्ती में झोपड़ी में मारने जी की हिंदी पुस्तकों की एक दुकान थी। वे बड़ी निष्ठा और प्यार से हिंदी की पुस्तकें बेचते थे।

शिक्षा का उद्देश्य है, मनुष्य में उच्चतम मानवीय मूल्यों का विकास करना। बालकों में उनकी सुप्त प्रतिभाओं को जगाने में सहायक होना। न कि एक पैसे कमाने वाली या लूटने वाली इकाई के रूप में उन्हें निर्मित करना। विशुद्ध मौलिक चिंतन से युक्त पुस्तकों के प्रति अभिरुचि का नितांत अभाव है। मेरे महाविद्यालय के एक नवनियुक्त विज्ञान के अध्यापक अपनी टेक्स्टबुक की स्वयं ही इतनी प्रशंसा करते हैं, जैसे उन्होंने विश्व की एक महानतम पुस्तक की रचना की हो। क्यों न करें, क्योंकि उनकी पुस्तक को सम्मान, पुरस्कार ही इतने मिले हैं और उसकी खूब बिक्री भी हुई है। ट्यूशन एवं कोचिंग क्लासेस लेने वाले अध्यापकों को छात्र और अध्यापक गुरू का सम्मान देते हैं। शिक्षक-दिवस या गुरूपूर्णिमा के अवसर पर पर मैंने इन अध्यापकों को अपने छात्रों से गुलाब के फूल, बुके लेते हुए और उन्हें आशीर्वाद देते हुए जैसे देखा है, उससे मुझे स्वयं ही लगा कि अपने अध्यापकीय चरित्र में कहीं कुछ कमी तो नहीं है? वाकई क्या मैं साहित्य का ऐसा अध्यापक हूँ जिसकी वर्तमान समाज को कोई आवश्यकता नहीं है? क्या वर्तमान समाज अपनी नियति को तय करने में वाकई महत्वपूर्ण भूमिका को अंजाम दे रहा है?

❐❐❐

5 नवंबर, 2021

वास्तविक आनंद का सृजन इतना सरल नहीं है

एक अदना-सा दीपक हमारे जीवन में कैसे प्रकाश ला सकता है? प्रकाश पर्व दीपावली के दिन कल यह प्रश्न मुझे एक बड़ी सीमा तक उद्विग्न करता रहा। तीन-चार दिनों से लगातार मुझे यह शुभकामनाएँ अपने मित्रों, परिचितों, हितचिंतकों, संबंधियों से मिलती रही कि मुझे अपने जीवन में सुख, स्वास्थ्य, समृद्धि प्राप्त हो। मैंने भी कुछ इसी तरह की शुभकामनाएँ दी। पर मुझे लगातार यह लगता रहा कि मैं दूसरों को सुख प्रदान करने, उनकी हर तरह की प्रगति एवं समृद्धि में किस तरह से सहायक बन सकता हूँ? किस तरह मैं उनके उत्तम स्वास्थ्य के लिए प्रयत्न कर सकता हूँ? क्या यह मुझसे संभव है? या मेरे इस तरह कहने मात्र से लोग सुखी, संपन्न एवं समृद्ध हो सकते हैं? मुझे तो यह भी प्रतीत होता रहा कि हमारा यह जीवन कितनी ही तरह की दिखावटी व्यवहारों एवं अस्निग्ध भावनाओं, शुष्क प्रतिक्रियाओं तथा कई औपचारिकताओं के निर्वहन करने मात्र का आदी हो चुका है। अच्छा, मैं अपने आपको इनसे अभिन्न नहीं समझ रहा हूँ। लगता है अपने आसपास के लोगों की देखा-देखी या परिणामस्वरूप मैं भी कुछ इसी तरह से जीने के लिए अभिशप्त हो चुका हूँ। मुझे एकदम से आम लोगों की तरह सोचना या व्यवहार नहीं करना चाहिए और मुझे इस दिशा में बढ़ने की तुरंत पहल कर लेनी चाहिए कि मैं अपने जीवन में दिखावटीपन से कैसे दूर रह सकता हूँ।

मेरे जीवन की कल पचासवीं दिवाली थी। पहली दिवाली मुझे इतनी-सी भी महसूस नहीं हुई, क्योंकि मैं तब केवल छह महीने का था। लेकिन मेरी यह कोशिश आज भी जारी है कि मुझे असल दिवाली की अनुभूति हो। असल दिवाली के माने ठीक वही है कि मेरे जीवन में प्रकाश फैले। प्रकाश फैलने से मेरा अभिप्राय यह है कि मैं वास्तविक सुख, प्रसन्नता एवं संतुष्टि का अपने जीवन में अनुभव कर सकूँ। अच्छा, मैं कुछ दुःखी या अप्रसन्न या असंतुष्ट हूँ, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। पर ऐसा क्या है, जो जीवन की बहुत कुछ रिक्त स्थानों के भर जाने के बाद भी रीता-रीता-सा है? मैं यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि हममें से अनेक लोग ऐसे होंगे जो पर्याप्त समृद्धि एवं सफलताओं के अर्जित कर

लेने पर भी कुछ अनिर्वचनीय अशांति या रिक्तता का अनुभव करते होंगे। हमारे परिवेश में बहुत कुछ ऐसा है, जो हमें नाटकीय रूप से प्रसन्न होने के लिए विवश करता है। हमारे परिवेश में त्योहारों एवं पर्वों की योजना निश्चित ही किसी उदात्त हेतु से प्रेरित होकर ही की गयी है। दीपावली इन समस्त पर्वों में सर्वश्रेष्ठ पर्व है। नूतन वस्त्र पहनने से लेकर नाना प्रकार के व्यंजनों, गीत-संगीत, नृत्य, श्रृंगार, घरों को सुशोभित करने से लेकर देवी-देवताओं की पूजा, प्रार्थना, आराधना एवं धार्मिक अनुष्ठानों, परिजनों से मेल-मिलाप, सुख-दुःख की संवेदनाओं का आदान-प्रदान आदि कितना कुछ इसमें घुला-मिला है। पशु है, प्रकृति है, मनुष्य है और साथ में एक दिव्य प्रकाश की अनुभूति की प्राप्ति का लक्ष्य। लेकिन वह अनुभूति हुई कहाँ? वही तो गायब है। यह सही है कि बाजार इस पर्व के केन्द्र में है, पर बाजार केवल एक साधन मात्र है। परंतु साध्य भी बाजार ही बना हुआ है, तो कुछ गड़बड़-सी है। यह एक बड़ा झोल है। मैं भी यह स्वीकार करता हूँ कि वस्तुओं की प्राप्ति से आनंद की अनुभूति होती है। बचपन में मैं भी कुछ इस तरह आश्रित हुआ करता था। पटाखों, खिलौनों, छोटी बंदूकों, मिठाइयों और नए कपड़ों के लिए। पर मैं क्या अब धीरे-धीरे वस्तुओं की प्राप्ति के प्रति उदासीन होने लगा हूँ? किस तरह का बदलाव है यह? ऐसा क्या है जो मुझे और कइयों को वह खुशी नहीं दे सकता, जो हम चाहते हैं। और प्रश्न यह भी है कि वह खुशी या आनंद है क्या? क्या कोई बता सकता है? मनुष्य जीवन की सार्थकता आनंद की प्रतिष्ठा करने में है और संभवतः पर्वों-त्योहारों की योजना में भी यही दृष्टि रही हो। प्रसाद ने 'कामायनी' में आनंद की प्रतिष्ठा कुछ इस प्रकार से की है,

''शापित न जहाँ है कोई, तापित पापी न यहाँ है,
जीवन वसुधा समतल है, समरस है जो कि जहाँ है।''

वाकई में यह एक महान मानवीय दृष्टि है या जीवन का वह आनंदवादी दर्शन है, जो उद्विग्न मनु को अंततः शांत करता है। किसी ने कहा भी है कि प्रसाद ने कामायनी में संपूर्ण आनंद की उपलब्धि की चेतना के ही परिष्कार का प्रतिपादन किया है। वास्तव में इसके केन्द्र में समरसता का भाव है। परंतु यह भाव मुझे कल संपन्न दीपावली पर्व के अवसर पर लोगों में नहीं दिखा। अभी कुछ माह पूर्व देश कोरोना की भीषण त्रासदी से गुजरा है। यह संक्रमण फिर से लौट आने की आशंका व्यक्त की जा रही है। कोरोना त्रासदी पिछले मार्च-अप्रैल-मई में कई

लोगों का असामयिक निधन हुआ। उनके परिजनों पर क्या बीत रही होगी, क्या इसका कोई अंदाजा हमें है? किसी के पिता, किसी के भाई, किसी के पति, किसी की माँ, किसी की पत्नी आज अब इस दुनिया में नहीं है। कितना हाहाकार मचा था, इसका किसी को कुछ अल्प-सा भी ज्ञान है? शापित, तापित, व्यथित लोगों के बीच यदि हम आनंद या प्रसन्नता को प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें असफलता ही हाथ लगेगी। जिसे हम आनंद कह रहे हैं, या समझ रहे हैं, वह कृत्रिम आनंद है। उसमें बनावटीपन है। वह खोखला है। वह सिर्फ मेरा है और दूसरों का नहीं है।

साहित्य का सर्जन भी किस तरह से हो? भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में काव्य के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है-

''दुःखार्तानाम, शोकार्तानाम, श्रमार्तानाम तपस्विनाम,
विश्रांतिजननं काले नाट्यमेव तन्मयाकृतम।।''

साहित्य की योजना के पीछे, हमारे प्रत्येक कर्म के पीछे आनंद की प्रतिष्ठा का भाव हमारी संस्कृति में है। भारतीय प्राचीन साहित्यसाधना में दुःख एवं कष्ट की तीव्रता को कम करने का प्रयास होता था। दैनंदिन कर्म एवं आचरण में भी कुछ इसी प्रकार की लोक कल्याणकारी भावना होती थी। दुःखों का सामना हर किसी को करना है। मृत्यु हर किसी की निश्चित है। वास्तविक आनंद का सृजन इतना सरल नहीं है। प्रसाद ने कहा है, ''औरों को हसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ। अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।'' क्या हम कुछ इस तरह से अपने सुख को विस्तृत करने की भावना रखते हैं? दीपक तो केवल प्रकृतिजन्य अंधेरे को दूर कर सकता है। वह प्रतीक मात्र है, परंतु उसके आचरण में संदेश देने की क्षमता है। वर्तमान में हमारे सुख बहुत ही छोटे-छोटे या बौने हो गए हैं। हम केवल प्राप्ति में ही सुख खोज रहे हैं, परंतु वह कुछ देने से भी मिलता है या कुछ छोड़ने या त्याग करने से भी मिलता है, इसे हम लगभग भूल चुके हैं। आश्चर्य है कि दीपावली पर्व को इसलिए सफल माना जा रहा है कि लोगों ने जमकर खरीददारी की। संभवतः भारत के गरीब होने (दरिद्र नहीं) का यह भी एक कारण रहा हो लोगों ने अर्थप्राप्ति में वास्तविक आनंद को पाया ही नहीं। धन के अभाव में भी सुखी या आनंदित होने की कला का जन्म भी भारत में ही हुआ। सभी तरह की साधन-संपन्नता से लैस होने पर भी यदि किसी देश के मनुष्य का अंतःकरण अशांत एवं दुखी है, तो वह दरिद्र देश है। पर्याप्त साधन संपन्न

होने पर भी यदि हममें समरसता का अभाव है, तो हम उस पशु समान हैं, जो केवल शव का मांस नोचकर खाने में संतुष्ट है। यह भी सही है कि अनेक लोग यह अनुभव करते हों कि भाई हम तो इसी में सुखी हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे गोबर का कीड़ा गोबर में रहने की अपनी स्थिति को ही चरम सुख मानता है। उसने अपनी प्रकृति, स्वभाव एवं आवश्यकताओं के अनुरूप अपने जीवन की स्थिति का चुनाव कर लिया है और वह उसी में सुखी है। उसे आपने यदि कमल की कोमल पंखुरियों में रखा तो भी उसे गोबर में ही प्रसन्नता का अनुभव होगा। यह एक जटिल-सा ताना-बाना है। दानवों एवं राक्षसों को दूसरों को कष्ट या पीड़ा देने में ही मजा आता है। चोर को सफलतापूर्वक चोरी करने में पुरुषार्थ की अनुभूति होती है। किसी पदार्थ या वस्तु से प्रेम करने या घृणा करने का संस्कार क्या जन्म से पैदा होता है? पैदा होते ही सिंह का शावक भी अत्यंत कोमल एवं प्यार करने लायक प्रतीत होता है, लेकिन बड़े होने पर नहीं।

❐❐❐

17 नवंबर, 2021

अपना देश, अपने लोग, अपनी सरकार

जब से मेरी राजनीतिक समझ कुछ-कुछ विकसित होती गयी है, उतनी ही मुझे राजनीति से अरुचि होती गयी है, किसी भी क्षेत्र की राजनीति से। आज भी मैं किसी राजनीतिक पक्ष, विचारधारा एवं वर्गों से दूरी बनाकर चलता हूँ। यद्यपि मेरे आसपास के अधिकांश लोग राजनीति, चुनाव आदि में खासी रुचि लेते हैं और काम भी करते हैं। मैं यह नहीं समझ पाया हूँ कि एक ही धर्म, समाज, जाति या वर्ग के लोग केवल राजनीतिक दृष्टि की भिन्नता के कारण कैसे एक-दूसरे के शत्रु या विरोधक हो सकते हैं? अपने ही लोगों द्वारा चुनी हुई और अपने ही लोगों से बनी हुई सरकार से लोग क्यों असंतुष्ट रह सकते हैं? जब अंग्रेजों को इस देश से निकाल-बाहर करना था, देश को विदेशी दासता से मुक्त करना था, तो यही सब लोग एक थे। परंतु जैसे ही देश स्वतंत्र हुआ और अपने ही लोगों द्वारा सरकार बनाने की बात आयी तो यह कारवाँ बिखर गया और आज भी बिखरा हुआ है। जब मैं मुख्यमंत्री बनता हूँ तो अपने आपको इस दायित्व के लिए योग्य समझता हूँ। परंतु जैसे ही कोई दूसरा बनता है, तो वह मुझे अयोग्य प्रतीत होता है। ऐसा क्यों? भारतीय लोकतंत्र या शासन प्रणाली आजकल व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा या वर्गीय हित एवं लाभ से बड़ी सीमा तक प्रभावित है और जहाँ तक हो सके, इसमें धनिक और जातिगत श्रेष्ठता एवं बल अथवा शक्ति के आधार पर प्रवेश करने वाले लोगों की संख्या अधिक है। किसी भी राज्य की चुनी हुई सरकार का यदि आप अवलोकन करेंगे तो पायेंगे कि उस सरकार, उस राज्य की बड़ी जाति या वर्ग से आने वाले लोगों की संख्या अधिक है। सरकार में और लोक में दोनों जगह कहीं भी लोकतंत्र नहीं है। बल्कि कहने और बताने के लिए यह संसार का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। बड़े ही गंभीर और अजीब से विरोधाभास इस देश में हर जगह देखने को मिलते हैं। मैं जब अपने स्थानीय क्षेत्र की बात करता हूँ तो देखता हूँ कि लोगों ने अजीब से जातीय समीकरण बना लिए हैं। ऐसी स्थिति में इन जातीय समीकरणों को तोड़ने में चारित्रिक दुष्प्रचार एवं धनबल का प्रयोग किया जाता है। राजनीतिक सत्ता, शासन एवं शक्ति को प्राप्त करने के प्रयास करते हुए मैंने अधिकांश कुछ ऐसे लोगों एवं

समूहों को देखा है, जिनमें वस्तुतः लोककल्याण का कोई भाव नहीं है। जिनके कुछ ऐसे व्यापार या बिजनेस हैं, जिन्हें स्कूलों में पाप समझकर पढ़ाया जाता है। परंतु वास्तविक जीवन को अनुभव करने पर लगता है कि यह स्कूली शिक्षा सबकुछ ढकोसला है। आप मानें या न मानें पर यही सच है। अंग्रेजों और मुगलों ने भी देश का इतना दोहन या शोषण नहीं किया होगा, जितना हमने इन सत्तर सालों में किया है। जब पुल बनाना हो या कोई रास्ता बनाना हो तो अपने ही लोग उसकी लागत की 30-40% रकम खा जाते हैं और इस रकम से अपने बड़े-बड़े महल, गाड़ियाँ और संपत्ति खरीदते हैं और एक तरह से उनका यह काम एक रोल मॉडल का आकार लेता है। आप देश का अवलोकन करेंगे तो पायेंगे कि जो खुद ठीक ढंग से पढ़े नहीं हैं, वे स्कूल-कॉलेजों के मालिक या प्रबंधक हैं। इस देश में कुछ लोगों ने मिलकर कुछ ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया है, जो केवल अमीरों का भला करती है या उन्हें भरसक सुरक्षा प्रदान करती है। पहले भारत में लोग पढ़े-लिखे आदमी से डरते थे, आज अमीर से डरते हैं।

आजकल मैं क्या देखता हूँ कि अपने ही देश में अपने ही लोग अपने ही अपने ही देश के महान नेताओं की जितनी निंदा करते हैं, उतनी वे अजहर मसूद और हाफिज सईद की भी नहीं करते। यह घृणा, निंदा का बीज अपने लोगों में क्यों और कहाँ से पैदा हुआ है? अच्छा, सबसे पहले मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि न मैं किसी भी राजनीतिक दल का सदस्य हूँ और न पक्षधर। मैं किसी प्रधानमंत्री की निंदा करता जब वह देश में अशांति, अराजकता और पतन का कारण होता। राज्य सरकारों और उनके मुख्यमंत्री को लेकर भी ऐसा ही माहौल रहा है। प्रधानमंत्री हो या अन्य कोई, किसी को भी किसी की स्तरहीन आलोचना करने का अधिकार नहीं है। शासकों को अपने आचरण पर भी ध्यान रखना चाहिए। प्रायः मुझे यह संदेह होता है कि जितनी घृणा या निंदा हम अपने द्वारा चुने हुए शासकों की करते हैं, उतनी ही घृणा हमने कभी मुगलों या अंग्रेजों से की? हमने तब कैसे और किस स्तर पर उनका मुकाबला किया? प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि हममें से किसने मुकाबला किया और कौन तटस्थ रहा? कौन धोखेबाज और कौन अवसरवादी रहा?

समसामयिक घटनाओं और विषयों पर मैं कुछ टिप्पणी अपनी दृष्टि से करना चाहता हूँ। देश की वर्तमान राजनीति और भविष्य तथा आजादी जैसे संवेदनशील विषय पर कलाकारों, अभिनेताओं एवं खिलाड़ियों के व्यक्त विचारों को लेकर देश के प्रबुद्ध वर्ग को अधिक उत्साहित या विचलित नहीं होना चाहिए। अभी कुछ दिनों पूर्व एक अभिनेत्री ने देश के सुदीर्घ स्वतंत्रता आंदोलन पर टिप्पणी करते हुए एक टी०वी० चैनल पर कहा कि 1947 में जो आजादी मिली, वह भीख थी। वास्तविक आजादी 2014 में मिली। उसकी कोई गलती नहीं है। इस देश में ऐसा अनेक लोग सोचते हैं कि वह शक्ति का स्थानांतरण मात्र था। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि स्वतंत्रता को हम आखिर कैसे देखते हैं? जब वह कहती है कि वह भीख में मिली तो उसे पूछना चाहिए कि फिर वह कैसे मिलनी चाहिए थी? दूसरा वह यह कहती है कि सच्ची आजादी 2014 में मिली तो वह किससे, किसे और कैसे मिली? 2014 में चुनकर आयी हुई मोदी सरकार को वह सच्ची आजादी कहती है और कांग्रेस के शासन को गुलामी कहती है। वाकई यह एक संवेदनशील विषय है और हमने अपनी ऊर्जा को केवल उस अभिनेत्री पर FIR करने या उसकी निंदा करने में नष्ट कर दिया है। जब भी कोई हममें से ऐसा विचार करता है, जो हमें पसंद नहीं है, उससे हम शत्रुता का व्यवहार करते हैं।

अब आप जरा भारतीय राजनीति और नेताओं का निरीक्षण करेंगे तो पायेंगे कि वे सत्ता के लिए किस तरह परस्पर संघर्ष कर रहे हैं? एक-दूसरे के काले कारनामों को कैसे जग जाहिर कर रहे हैं? नेताओं को प्रजा से कोई डर नहीं है। उन्हें एक-दूसरे से भय है। वे परस्पर शत्रु की तरह व्यवहार कर रहे हैं। एक-दूसरे की कमियाँ, दोष निकालने एवं आरोप करने में ही अधिक समय नष्ट हो रहा है। लोकतंत्र में जिस स्वस्थ एवं जागरुक लोक की अपेक्षा की जाती है, वह है कहाँ? लोक का अधिकांश भाग सुस्त, निष्क्रिय एवं लकवाग्रस्त हो गया है। हर कोई अपना निजी हित साधने में व्यस्त है। यह भारतीय लोकतंत्र की एक भयानक त्रासदी की ओर बढ़ने का संकेत है।

❐❐❐

27 नवंबर, 2021
जीवन की कुछ अपूर्णताएँ भविष्य की सहायक होती हैं

अपना पैतृक गाँव और घर, अकेली रह रही माँ, गाँव के दोस्त, मायके गयी हुई पत्नी और बच्चे, अध्यापन और महाविद्यालय की बैठकें, ड्राइविंग क्लास, आयकर फाइलिंग जैसी कई और छोटी-मोटी गतिविधियों से आज गुजरते हुए ठीक शाम 6 बजे मैं थका हुआ-सा (हारा नहीं) घर लौटा और ठीक अपने अध्ययन कक्ष में बड़ी तेजी से पहुँचा। मेरा शयनकक्ष और अध्ययन कक्ष एक ही है। घर की नैऋत्य दिशा में पहली मंजिल पर मेरी यह एक विशेष दुनिया है। वास्तुशास्त्र की पुस्तक में मैंने कहीं पढ़ा था कि घर के मुखिया का शयनकक्ष नैऋत्य दिशा में ही होना चाहिए। मेरा तो यह कार्यकक्ष भी है। पता नहीं क्यों मैं बाजारों, रास्तों और भीड़ से ऊबता हुआ अपनी इस एकांत गुफा में बेसब्री से प्रतिदिन प्रवेश करना चाहता हूँ। कई बार मैं यह सोचता हूँ कि क्यों यह मेरी एकांतिक निजता मुझे इतना आल्हाद प्रदान करती है? इसमें ऐसा विशेष क्या है? यह मेरी असामाजिकता तो बिलकुल नहीं है। ऐसा होता तो मैं लोगों से मिलने और सिर्फ इधर-उधर की गैर जरूरी बातें करने और निरर्थक समय बिताने को लेकर इतना उदासीनता से भरा नहीं होता। कभी-कभी किसी दिन अनायास ही कुछ-कुछ बुझा-बुझा-सा अनुभव होता है। दुनियादारी के आवश्यक प्रबंधों को समय पर करने को लेकर अपने इस प्राइवेट कमरे में प्रवेश करने तक दोनों के बीच मुझे कुछ भी समानता नजर नहीं आती। लिखने-पढ़ने और चिंतन करने की मेरी यह कष्टप्रद कार्यवाहियाँ संभवतः दुनिया को पता न हों। घर में भी लोगों को यह कुछ विशेष प्रतीत नहीं होती, ऐसे मुझे लगता था। कल शाम में पत्नी ने फोन पर बात करते हुए यह पूछ ही लिया कि कुछ लिखा है या नहीं? आश्चर्य हुआ कि अरे यह तो ध्यान रखती है। मैं ऐसा क्यों समझ रहा हूँ कि मेरे आसपास के लोग मुझे मेरे काम को लेकर महसूस नहीं कर रहे हैं? इस तरह मुझे दुनियादारी के कामों से मेरे लिखने-पढ़ने के काम की तुलना नहीं करनी चाहिए। तो मैं लिखने के मामले में इन पाँच-छह दिनों से खाली-खाली हूँ। कुछ ऐसा हुआ नहीं और दिखा नहीं जो मुझे प्रेरित कर सके। मैंने इन कुछ दिनों में पीछे लौटकर कुछ खोजना चाहा कि जिस पर कुछ लिखा जा सके। ऐसा कुछ जो मेरे संवेदनशील मन को झकझोर सके। मैं कुछ इसी तरह से खोज में रत रहा जैसे कुछ खो गया हो और मेरा उस ओर ध्यान ही नहीं गया हो।

एक रिक्तता की ओर मेरा ध्यान गया। एक पूरी लंबी यात्रा करने के बाद यदि आपको यह अनुभव हो कि आपको जहाँ पहुँचना चाहिए था, वहाँ आप तो पहुँचे ही नहीं हैं। यह कोई दूसरी ही जगह है, जहाँ आप पहुँचे हैं। तो यह आपको गहरे विषाद या विमनस्क स्थिति में पहुँचाने वाली बात है। पैदा होने के बाद इतने सारे आत्मीय, गैर आत्मीय स्वजनों, संबंधियों, मित्रों के साथ समय बिताते हुए भी आपको जीवन के एक विशेष पड़ाव पर यह अनुभव हो कि इनमें से कोई भी अपना नहीं था और न आप उनके अपने बन सके तो यह और भी विषादजन्य स्थिति है। ऐसा क्यों होता होगा? संवाद, सहचारिता एवं प्रेम की बहुत-सी प्रक्रियाएँ अब कृत्रिम रूप ले चुकी हैं। अभी कुछ दिनों पूर्व मैंने समाचार-पत्र में मध्य प्रदेश में हुई एक सड़क दुर्घटना का समाचार पढ़ा था, जिसमें एक पूरा परिवार माता-पिता और दोनों बच्चे खत्म हो गए। समाचार के अंत में लिखा था कि उस परिवार का कोई संबंधी उनकी अंत्येष्टि करने नहीं आया। ऐसा कैसे हो सकता है? उनके मरने से ज्यादा उनका क्रियाकर्म करने के लिए किसी स्वजन या मित्र का न आना मुझे काफी विचलित कर गया। यह एक त्रासदी ही है।

हमारे अपने जीवन की अनेक ऐसी त्रासदियाँ एवं विडंबनाएँ हैं, हम जब इस संसार में नहीं होते तो जीवित व्यक्तियों के केवल एक स्मृति भर निरर्थक अस्तित्वहीन अवस्था में होते हैं। जब हम जीवित होते हैं, तब भी यदि हम लोगों के लिए महत्वहीन हैं तो यह भी एक विडंबना ही है। जीवित होते हुए आपका महत्वहीन होना या बनाया जाना एक षड्यंत्र ही कहा जा सकता है। कुछ लोग इसलिए भी किसी का महत्व बढ़ने नहीं देते क्योंकि एक तो वे स्वयं महत्वपूर्ण बनना चाहते हैं या किसी और का महत्वपूर्ण बनना उन्हें असहनीय प्रतीत होता है। यह संपूर्ण मानव जाति की ही त्रासदी है। प्रतिभाशाली एवं सुयोग्य लोगों को किनारे करने के कितने ही किस्से संसार में भरे पड़े हैं। अपने ही परिवार में कुछ लोग महीनों आपसे बात नहीं करते। क्यों? इस तरह अपने ही लोगों का आपके प्रति संवादहीन बन जाना क्या आपके अस्तित्व को अस्वीकार करना नहीं है? बिलकुल है। ऐसे लोग आपके मर जाने पर आपके लिए कुछ भी नहीं कर सकते। क्योंकि वे जीवित अवस्था में ही आपको नकार चुके हैं। भला हो उस ईश्वर का जिसने संसार में कुछ लोगों के न चाहने पर भी आपको उत्तम स्वास्थ्य एवं जीवन

प्रदान किया है। धन, संपत्ति और समझदारी भी दी है। यह आपका जीवन आप अपने स्तर पर अत्यंत खुशी एवं मर्जी से क्यों न जियें? क्यों आप यह सोचकर दुःखी हो जायें कि कोई आपकी प्रताड़ना क्यों कर रहा है? ऐसी मनःस्थिति बना लेने पर तो जेल में भी प्रसन्नता से रह सकते हैं। जहाँ पर आपसे अपना कोई न मिलने आ रहा है और न आपकी सहायता कर रहा है। वृद्धावस्था में तो अत्यंत दयनीय स्थिति हो जाती है, लोगों की। मेरी माताजी की बुआ काफी दिनों से बिस्तर पर पड़ी हैं। उसकी देखभाल उनकी एक बेटी कर रही है, जो परित्यक्ता है। जिस समय उसका विवाह हुआ और वह असफल हुआ तो वह अपने मायके लौट आयी। तब माता-पिता को निश्चित ही दुःख हुआ होगा कि उनकी बेटी की गृहस्थी न बस सकी। परंतु विधाता की रचना देखें कि आज वही बेटी माँ की सुश्रुषा में अत्यंत सहायक बनी है। यह काम पुत्र भी नहीं करता और न बहु। जीवन में कुछ अपूर्णताएँ भी भविष्य में कितनी सहायक हो सकती हैं, इसका यह ताजा उदाहरण है। गौर करने जैसी एक बात और यह है कि उस बुआ के पास संपत्ति के नाम पर कुछ भी नहीं है। एक कौड़ी भी नहीं। और क्या कहूँ? कितना विरोधाभास है। मैंने यह देखा और अनुभव किया है कि जिस व्यक्ति के पास संपत्ति और पैसा है, वह बहुत ही अकेला है। बाहरी लोग और परिजन उसके प्रति विमुखता इसलिए ही बनाकर रखे हुए हैं कि उसे उनसे कोई लाभ नहीं है। यह कितनी अंतर्विरोधपूर्ण स्थिति कही जा सकती है। मेरे भाई और कुछ संबंधी मुझसे केवल इसलिए बात नहीं करते कि मैं उनकी खुद होकर आर्थिक सहायता नहीं करता। यह बड़ी ही क्लेशदायक स्थितियाँ हैं। मनुष्य किसी को प्रिय नहीं है, परंतु उसका धन और संपत्ति सभी को चाहिए। आपका प्यार, जूता, कपड़े आदि किसी को नहीं चाहिए। आपके गहने, पैसे और संपत्ति सभी को चाहिए। ऐसी स्थिति में और ऐसे लोगों के बीच में यदि आप हैं, तो आप शव के समान ही हैं। ऐसे लोग न आपके जीवन के साथ हैं और न जीवन के बाद।

❐❐❐

3 दिसंबर, 2021

दासता और स्वामीभक्ति में किंचित अंतर होता है

भारत को 1947 में प्राप्त स्वतंत्रता और उसके लिए यहाँ की सामान्य जनता ने जो सुदीर्घ आंदोलन और संघर्ष किया वह केवल अंग्रेजों या मुगलों की दासता से मुक्त होने के लिए नहीं था। भारत का सामान्य जन इससे पूर्व ही यहाँ के कुछ राजाओं, महाराजाओं, बादशाहों, सामंतों, जमींदारों का दास बनाया जा चुका था। अंग्रेजों ने सर्वप्रथम इन छोटी-बड़ी सत्ताओं को खत्म किया। भारतीय नवजागरण के केन्द्र में सामाजिक, धार्मिक दासताओं एवं अंधविश्वासों से मुक्ति की कामना परिलक्षित होती है। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक सुधारों से संबंधित वह स्वतंत्रता एवं क्रांति की भावना आज लोगों में ननारद है। बल्कि सामंतीय एवं उच्च रहन-सहन एवं दिखावे की ओर सभी आकर्षित हो रहे हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि आज भी भारत में यह सामंतीय प्रवृत्तियाँ अपनी पूरी क्षमता के साथ उपस्थित हैं। देश के बड़े-बड़े संस्थानों पर इन्होंने अपना राजनीतिक वर्चस्व स्थापित कर लिया है। सामान्य जनता के एक बड़े वर्ग को इन्होंने धर्म और जातियों के आधार पर अपने पक्ष में कर लिया है। देखा यह जा रहा है कि इस देश में हर छोटा अमीर एक बड़े अमीर का मित्र एवं सहायक है। एक छोटा गरीब बड़े गरीब का मित्र नहीं है। प्राप्त स्वतंत्रता को छद्म लोकतंत्र का बाना पहनाकर इस देश की जनता को मूर्ख बनाया गया है। शिक्षा, कानून, न्याय, प्रशासन आदि के स्तर पर निरीह, विवश एवं असहाय जनता को बड़ी चालाकी से ठगा जा रहा है। हमें अपने ही भाई-बहनों ने अपना गुलाम बना लिया है। आप अवलोकन करें तो पायेंगे कि इस देश में जहाँ-जहाँ जो कुछ लोग शीर्ष पदों पर पहुँचे हैं या चुने गए हैं या बने हैं, जैसे- नेता, मंत्री, अधिकारी, संस्थाओं के प्रमुख, चेयरमैन, ठेकेदार, उद्यमी आदि में एक विशेष प्रकार का सामंतीय बोध मिलता है। उनका आचरण लोकतंत्र के सेवकों जैसा नहीं है, बल्कि शोषकों जैसा है। लगभग हर किसी में एक श्रेष्ठताबोध मिलता है। मैं यद्यपि हिंदी साहित्य का अध्यापक हूँ पर जैसे ही देखता हूँ कि हमारे बीच में से कुछ अध्यापक किन्ही पदों पर पहुँचते हैं या कुछ साहित्यकार विशेष कीर्ति या सम्मान प्राप्त करते हैं

तो उनमें एक विशिष्टताबोध उत्पन्न हो जाता है। यह सामंतीय आचरण का पहला क्रम या परिणाम है।

भारत में चली आ रही यह दासता या गुलामी की प्रथा अत्यंत प्राचीन है। इसे प्राचीन काल से स्वामिभक्ति की अवधारणा की चाशनी में डुबोकर जनता को तर किया जा चुका है। लोग अत्यंत प्रसन्नता से किसी की दासता में रहना स्वीकार कर लेते हैं। शोषक या जिसे आप स्वामी कहते हैं, वह अत्यंत मधुर व्यवहार से इन्हें अपना दास बना लेता है। मैंने अपने आसपास ऐसे कई लोगों को देखा है, जो केवल मधुर व्यवहार के बल पर सरलता से दास बनाये जा सकते हैं। इस दासप्रथा का प्राचीन वर्णव्यवस्था से भी कुछ विशेष संबंध नहीं है। आप अपने मित्र, संबंधी या किसी परिचित को भी अपना दास बनाने में सफल हो सकते हैं। चापलूसों को विशेषतः इस प्रकार की दास श्रेणी में रखना उचित प्रतीत होता है। अपना स्वामी सही करे या गलत, ये चापलूस हर स्थिति में उसके सहायक होते हैं। यह एक ऐसी स्वीकार्य व्यवस्था बनी है, जिसमें दासों को कोई बुराई नजर नहीं आती और न ही उन्हें कोई आपत्ति है। यह इसलिए भी है कि ऐसी दासता में उन्हें आर्थिक संरक्षण प्राप्त होता है। इस प्रकार के लोग न स्वाभिमानी होते हैं और न प्रतिभाशाली। प्राचीन काल से लेकर मध्ययुग से होते हुए वर्तमान काल तक यह वर्ग और यह प्रथा काफी फली-फूली है। यह कामचोर, कमजोर और सामर्थ्यहीन लोगों के जीवन जीने का एक तरीका है। इस प्रकार के लोग श्रमिक वर्ग के शोषण में अप्रत्यक्ष सहायक होते हैं।

भारत में दासों और मालिकों का यह गठजोड़ प्राचीन काल से ही शक्तिशाली रहा है। इन दो वर्गों ने सत्ता, शासन से लेकर अपने लिए एक सुरक्षित एवं सुविधाभोगी जीवन को सुनिश्चित कर लेने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इन तथाकथित दासों या सेवकों को आप हर किसी बड़े, संपन्न या अमीर आदमी के आसपास देख सकते हैं। इस गठजोड़ ने प्रायः सच्चे, ईमानदार एवं सरल लोगों को दरकिनार किया है। असल में मैं उन गुलामों या दासों की बात कर रहा हूँ जिन्हें इस प्रकार की दासता में सुरक्षा एवं प्रसन्नता की अनुभूति होती है और वे स्वेच्छा से इस दासकर्म का चुनाव करते हैं। प्रायः यह भी देखा गया है कि यह दासता की प्रवृत्ति उनकी खानदानी या पारिवारिक विरासत के रूप में विकसित होती जाती है। वे अपने समय के हर उस इकाई की दासता को झट से स्वीकार कर लेते हैं, जहाँ उन्हें आर्थिक सुरक्षा या स्थायित्व दिखाई देता है। वर्तमान में इस तरह की दासता एक वृत्ति या जॉब के रूप में विकसित हो चुकी है। अभिजात्य जीवनशैली के उपासकों के लिए तो ऐसे दास बड़े ही काम की चीज होते हैं। प्रामाणिक दासताभाव के बल पर अनेक दास उच्च पदों पर आसीन हो जाते हैं। इस दासताभाव का वस्तुतः एक कूटनीति की तरह प्रयोग होता है। अनेक दास इस कूटनीति की कला में दक्ष होते हैं। वे किसी उपलब्धि या प्राप्ति तक अत्यंत मनोभाव से सेवा में लगे रहते हैं, जिनमें विनम्रता की पराकाष्ठा देखी जा सकती है। अतः कई राजे-महाराजे इनकी इस कला के शिकार हो जाते हैं। रामायण कथा की दासी मंथरा ऐसा ही एक परिचित उदाहरण है।

❐❐❐

17 मार्च, 2022
हिंसा का असंवेदनशील पक्ष-विपक्ष और निजी न्यायतंत्र

एक दिन सुबह मैं देख रहा था कि घर के ऊँचे एक कोने में घास-फूस से बने घोसले के आसपास चिड़ियों के एक समूह में काफी चिल्लम-पो मची हुई थी। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो उनमें घोसले पर कब्जे के लिए झगड़ा हो रहा हो। असल में वे चिड़ियों की दो प्रजातियाँ थीं। उनमें से जो एक गौरैया का दल था, वह पहले से उस घोसले का मालिक था। दूसरा दल एक काली और लंबी पूँछ वाली चिड़िया का था, जो जबरन उस घोसले पर अधिकार करना चाहता था। यह झगड़ा काफी समय तक चला था। गौरैया दल ने काफी संघर्ष तो किया पर वे टिक न सके। घोसले का भी काफी नुकसान हुआ था। पर बाद में कुछ दिनों तक मुझे उस घोसले में कुछ भी हलचल नहीं दिखायी दी। कुछ महीनों बाद सफाई करते हुए जब घोसला नीचे गिरा तो उसमें एक सूखा हुआ गौरैया का चूजा मिला। वह भूख से तड़पकर मर गया था। जब बच्चों ने उसे देखा तो वे काफी भावुक हो गए। घोसले पर अधिकार को लेकर वह झगड़ा किसी नतीजे पर तो नहीं पहुँचा था। असल में मेरे द्वारा बनाये वे लकड़ी के बक्से थे, जो पक्षियों के लिए घोसला बनाने के लिए काम आते थे। बक्सों के तैयार होते हुए भी चिड़िया उसमें अपनी तरह का ही घोसला बनाती थी।

यह सब मैं आज क्यों कह रहा हूँ? वह इसलिए कि यह घोसला या जिसे आप घर कह रहे हैं, पक्षियों और इंसानों के जीवन में बड़ा महत्व रखता है। पक्षी फिर भी एक अस्थिर एवं घुमंतू प्रजाति हैं। पर इंसान के लिए तो अपना घर या स्थान एक भावनात्मक लगाव उत्पन्न कर जाता है। वह उसकी मिल्कियत यानी प्रॉपर्टी भी बन जाता है। जहाँ उसका परिवार आराम, चैन और शांति से रह सके। मैंने अपने जीवन के लगभग 14-15 वर्ष किराए के घर में बिताये हैं। चाहे छह माह क्यों न हो पर उसे छोड़ते समय एक अजीब-सी पीड़ा भी महसूस हुई है। सारा सामान टेम्पो में भर लेने के बाद भी मैं उस खाली घर और उसका कोना-कोना फिर से अनुभव करने या देखने के लिए जो गया था, वह मुझे आज भी याद आता है। यह अनुभूति मुझे हॉस्टल का कमरा छोड़ने पर भी हुई है।

बहुत ही असहनीय दुख होता है, जब आप घर को छोड़ते हैं या आपको जबरन उस घर से निकाला जाता है। इतना ही क्या, जब आप यात्रा कर रहे होते हैं और यदि कोई गुंडा या बदमाश बंदूक की नोक पर या चाकू दिखाकर आपकी घड़ी, सोने की चेन, अँगूठी और नगद छीन ले और आपको अपनी जान बचाना ही अधिक जरूरी लगे तब क्या बीतती होगी? क्या आप यह सब उस गुंडे को खुशी से दे देते हैं? नहीं न! आप बचने के बाद चाहते हैं कि उसे पकड़कर कड़ी से कड़ी सजा दी जाए। तब आपके इस दुख या संकट की घड़ी के समय कौन साथ देता है? आप असहाय होते हैं, तड़पते हैं तो तब की आपकी इस पीड़ा को कोई अनुभव कर सकता है क्या? हाँ, करना चाहिए अनुभव। लेकिन कैसे? पीड़ा या संकट की अनुभूति को उसकी तीव्रता में महसूस कराया जाए तब ना?

आप ठीक समझ रहे हैं। मैं वर्तमान में कश्मीरी पंडितों के जबरन हिंसक निर्वासन पर बनी और विवाद तथा बहस का केन्द्र बनी फिल्म 'कश्मीर फाइल्स' पर लिख रहा हूँ। 90 के दशक में कश्मीरी पंडितों के हत्याकांड पर बनी इस फिल्म को लेकर हमारा जनमानस इस फिल्म के पक्ष-विपक्ष में खासा उत्तेजित है। उत्तेजित क्यों न हो? परंतु आश्चर्य तब होता है, जब कुछ तथाकथित लोग कश्मीरी पंडितों के सपरिवार जघन्य हत्याओं और पलायन के प्रति आक्रोश से भर उठने के बजाय उसे एक मामूली घटना बताते हैं। उनकी दृष्टि में 200-300 लोगों की हत्या होना कोई बड़ी या विशेष घटना नहीं है। यह लोग इतने असंवेदनशील और कठोर कैसे हो सकते हैं? इसके लिए यह लोग उन घटनाओं की दलीलें देते हैं, जहाँ देश में कुछ स्थानों पर दलितों और आदिवासियों का नरसंहार हुआ। किसी एक हिंसक घटना को किसी दूसरी हिंसक घटना से बराबरी करके क्या मामले को सुलझाना या जायज ठहराना क्या जंगलीपन की निशानी नहीं है? पीड़ित सवर्ण हो या दलित, अमीर हो या गरीब उनकी हत्याओं का क्या मात्र संतुलन निश्चित कर न्याय का निर्णय जाहिर किया जा सकता है? इनकी दृष्टि में कश्मीरी पंडितों का ब्राह्मण या हिन्दू होना ही मात्र एक अपराध है और दलित-आदिवासियों का सिर्फ दलित-आदिवासी होना? यह ऐसा कैसा हम अपने इस देश को देख रहे हैं? जब कश्मीरी पंडितों पर अत्याचार हो रहा था, तब संभवतः इसे उस संवेदनात्मक तीव्रता के स्तर पर न अनुभव किया गया हो और न प्रतिकार। पंडितों की सहायता किसी ने भी नहीं की या कर नहीं सके। सहायता

करने में देश का बहुसंख्य हिंदू समाज क्यों असफल रहा, इसके कारणों पर भी विचार होना चाहिए। आपको यह भी देखना जरूरी है कि एक मुस्लिम बहुल मुहल्ले में रहने वाला कोई गरीब हिंदू परिवार किस तरह से एक घुटनभरी और असहनीय जीवनयापन की पीड़ा से गुजरता है। क्या ऐसे मुहल्लों में आप और हम एक सहज जिंदगी जी सकते हैं? जब आप एक मुस्लिम बहुल इलाके में अल्पसंख्यक बनकर रह जाते हैं तो अनायास ही आप उसे छोड़ने पर विवश हो जाते हैं। स्थितियाँ ही ऐसी उत्पन्न कर दी जाती हैं कि आप मजबूर होकर छोड़ दें। यदि तब भी आप नहीं निकलते तो? तो फिर वही होता है, जो कश्मीरी पंडितों के साथ हुआ। क्या दलितों, आदिवासियों के मामले में ऐसी पलायन की स्थितियाँ हमारे देश में कहीं उत्पन्न हुई हैं? और परिणामस्वरूप आदिवासियों-दलितों को जबरन उनके घर और खेतों को छोड़ने पर विवश किया गया है? मारा-काटा हो और वह भी हिंदुओं ने?

मैंने ऐसा भी कभी नहीं देखा कि किसी बहुसंख्य हिंदुओं की कालोनी में रह रहा मुस्लिम परिवार अपने आपको असहज महसूस करता हो। मुस्लिमों ने अपने रहन-सहन और खान-पान का स्वतंत्र ऐसा तरीका ईजाद किया है कि कोई मुश्किल से भी उससे तालमेल नहीं बिठा सकता। या फिर एक तो उसे मुसलमान होना पड़ेगा, तब ही कुछ बात बनेगी। इसलिए एक तो मरो या हमारे जैसे बन जाओ, यह उनकी नीति रही है। पता नहीं कुछ दलित या वामपंथी विचारों के लोगों को मुसलमानों द्वारा हिंदुओं पर किए गए अत्याचारों के प्रति क्यों सहानुभूति नहीं है? वे तुरंत ऐसे मामलों में कहीं से सवर्ण हिंदुओं द्वारा दलितों पर हुए अत्याचार की कहानी को लेकर आ जाते हैं। भाई, समस्त हिंदू सवर्ण नहीं हैं। हिंदुओं की सत्तर से पचहत्तर प्रतिशत जनसंख्या आज भी आर्थिक स्तर पर कमजोर है। पिछड़ी है। किसान-मजदूर वर्ग से आते हैं, यह गरीब हिंदू। माली, तेली, धनगर, कुंभार, लोहार, मोची, धोबी, दर्जी, बेलदार, गवंडी, नाई, अहिर आदि क्या सवर्ण हैं? लेकिन इन्हें तो हिंदू धर्म में रहने से कोई आपत्ति नहीं है।

अच्छा, क्या यदि कश्मीरी पंडित मुसलमान होना स्वीकार कर लेते तो क्या इनका विस्थापन होना रुक जाता? नहीं रुकता। यह द्वेष बना रहता। मुस्लिमों का एक आक्रामक तबका इन्हें तकलीफ तो देता ही। असल में इनकी नजर कश्मीरी पंडितों की दौलत पर भी थी। मैंने देखे हैं, उनके वे शानदार असली देवदार या चीड़ की लकड़ी से बने हुए दो मंजिला, तीन मंजिला खंडहरनुमा घर। वे संपन्न थे और खुशहाल भी। पर वे अनुभव न कर सके, जान न सके कि उनके आसपास जो मुस्लिमों की आबादी बढ़ रही है, वह एक दिन विषैले नाग बनकर उन्हें डसेगी। यह सच है और सारी दुनिया ने इसे महसूस किया है।

❐❐❐

20 मार्च, 2022

रचनाकार का लक्ष्य और रचना की उपलब्धि

एक जरूरी प्रश्न जो साहित्यकार से पूछा जाना चाहिए कि जो वह लिख रहा है, उसे लिखने का वास्तविक या चरम लक्ष्य क्या है? जब वह अपनी एकाधिक रचनाएँ समाज को दे चुका है, तो उन रचनाओं की क्या परम उपलब्धि है? इन दो प्रश्नों के उत्तर में मुझे यदि यह कहा जाता हैं कि...

उनकी रचनाएँ अत्यंत लोकप्रिय हुई हैं।

रचनाओं को और रचनाकार को कई राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार मिले हैं।

रचनाओं पर काफी चर्चा एवं समीक्षाएँ हुई हैं।

रचनाओं की खूब बिक्री हुई है।

रचनाएँ पाठ्यक्रमों में लगायी गयी हैं।

रचना और रचनाकार पर काफी शोधकार्य हुए हैं।

रचनाकार अमर हो गया है।

रचनाएँ कालजयी बन चुकी हैं। आदि।

लेकिन क्या इन उत्तरों को रचनाकर्म का चरम लक्ष्य माना जा सकता है? या फिर यह उत्तर हो सकता है कि इस पुस्तक से मनुष्य को यह फलाँ-फलाँ क्रांतिकारी लाभ हुआ और उसका जीवन उत्कर्ष हुआ।

अब तक के मनुष्य जीवन के इतिहास में धर्म, दर्शन, साहित्य, भाषा, व्याकरण, समाजशास्त्र, विज्ञान, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, कानून, शिक्षा, शासन व्यवस्था, न्यायव्यवस्था, दण्डव्यवस्था आदि की लगभग लाखों पुस्तकें लिखी गयी हैं और लिखी जा रही हैं। आगे भी लिखी जाएँगी। इन तमाम पुस्तकों में से मैं केवल साहित्यिक पुस्तकों, साहित्यकारों और साहित्यिक आलोचना ग्रंथों को केन्द्र में रखकर यह प्रश्न उपस्थित कर रहा हूँ और चिंतन की माँग करता हूँ कि साहित्य से अब तक मनुष्य को कैसा और कितना लाभ हुआ है? उसके जीवन उत्कर्ष में साहित्यिक रचनाओं की क्या भूमिका रही है? क्या कोई साहित्यकार यह दावे के साथ कह सकता है कि उसकी रचनाओं के द्वारा अधिकाधिक प्रामाणिक, निष्पक्ष, सदाचारी, सच्चे और सद्चरित्र मनुष्यों के निर्माण में सहायता मिली है। इस पर यदि संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के प्रयोजनों पर दृष्टि डाली जाए तो ज्ञात होता है कि वहाँ रचनाकार को प्राप्त आनंद को सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन माना गया है। अर्थात् रचनाकार अपने सुख के लिए लिखता है। इसके बाद अर्थ प्राप्ति, कीर्ति, मनोरंजन आदि को भी काव्य प्रयोजनों की श्रेणी में रखा गया है। लोककल्याण तथा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति को भी साहित्य का लक्ष्य निश्चित किया गया है। साहित्य रचनाओं के माध्यम से यद्यपि आनंद, कीर्ति, यश, धन, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि की उपलब्धि तो स्पष्ट प्रतीत होती है, परंतु लोककल्याण, धर्म और मोक्ष की प्राप्ति वाली बात कुछ अस्पष्ट और संदिग्ध प्रतीत होती है। कैसे? इस पर अवश्य चिंतन किया जा सकता है। साहित्यिक रचनाओं की समीक्षा करने हेतु भी इस मुद्दे को एक आधार के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। मैंने अपने पिछले दिनों की एक संक्षिप्त टिप्पणी में यह कहा था कि मनुष्य-मनुष्य के बीच द्वेष, भेदभाव, हिंसा, मार-काट आदि को फैलाने का काम जितना अधिक पुस्तकों ने किया है, उतना अधिक और किसी चीज ने नहीं। यहाँ मुझे सर्वाधिक धर्म प्रचार की पुस्तकों को केन्द्र में रखना था। पर मेरी इस टिप्पणी से कुछ सम्माननीय साहित्यकारों और लेखकों को दुःख पहुँचा। उनका कहना था कि वे ऐसा कब लिखते हैं? उनका तो ऐसा कोई लक्ष्य नहीं होता। उनकी यह बात भी तो ठीक है कि वे ऐसा नहीं लिखते। पर वे ऐसा भी कहाँ लिख पाते हैं कि मार-काट, हिंसा, भेदभाव और द्वेष को नष्ट कर सके? चलिए मान लीजिये कि वे ऐसा लिखते हैं कि मनुष्य भाईचारे और प्रेम से रहे, किसी का शोषण न करे। भ्रष्टाचार, बलात्कार, व्यभिचार, लूटपाट, दुष्कर्म खत्म हो। पर होता तो नहीं दिखता। ठीक इसके विपरीत लेखकों के जीवन एवं चरित्र में ही अनेक प्रकार के दोष और दुर्बलताएँ मिलती हैं। गालियाँ देने, अपशब्दों एवं असंसदीय भाषा का प्रयोग करने, दूसरों को तुच्छ दृष्टि से देखने, निंदा करने, स्वयं को श्रेष्ठ समझने, दूसरों की रचनाओं में कमियाँ खोजने, सम्मान एवं प्रतिष्ठा के लिए लालायित होने, अपने अपमान या उपेक्षा को सहने की शक्ति न रखने, अच्छे व्यक्ति होने का ढोंग करने, नकली विनम्रता ओढ़े घूमने, विद्वत्ता का घमंड करने, राजनीतिक विचारधाराओं का पक्षधर होने, राजनेताओं की चापलूसी करने आदि जैसे अनेक अशोभनीय रूप उनके देखने के लिए मिलते हैं। हो सकता है कि कुछ लेखक ऐसे न हों। पर लेखकों एवं रचनाकारों का वर्तमान बृहत परिदृश्य तो ऐसे ही देखने को मिलता है।

देखिए, लिखना एक कला है, प्रतिभा है। जैसे- गायन, संगीत, चित्रकला, नृत्य आदि। लेखन साधना भी है। एकदम से अचानक कोई उपन्यासकार, कहानीकार या कवि नहीं बन जाता। उसके लिए प्रतिभा और साधना दोनों आवश्यक है। यथार्थ और कल्पना के समन्वय से श्रेष्ठतम साहित्यिक रचनाओं का निर्माण हुआ है। अब श्रेष्ठतम साहित्य के मानक और आधारों में मतभेद हो सकता है। मेरी दृष्टि में महानतम या श्रेष्ठतम रचना वही है, जिसे रचनाकार ने स्वयं जिया हो। अर्थात् रचना की विषयवस्तु और रचनाकार के जीवन में अंतर्विरोध न हो। स्पष्ट ही कहें तो पाखंड या दोगलापन न हो। रचना और रचनाकार का जीवन दोनों में उदात्तता हो। लोंजाइनस की भाषा में कहें तो महान धारणाओं की क्षमता से युक्त दोनों भी होने चाहिए। यह बात हमें कबीर, सूर, तुलसी और मीरा में मिलती है। उन्होंने जो जिया वही कहा। अपने लिए अलग थाली और पाठकों के लिए अलग थाली, ऐसा लेखन उन्होंने नहीं किया। यही बात मराठी में ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम पर भी लागू होती है। इसका मतलब यह भी नहीं है कि लेखक को संत होना चाहिए। लेकिन यह तो जरूरी है कि उदात्त मानवीय मूल्यों के प्रसार में उसकी रचनाओं की कोई न कोई देन अवश्य रही है।

मेरे इस विषय पल्लवन के द्वारा निश्चित ही यह इंगित होता है कि मैं साहित्यिक रचनाओं में मूल्यों की बात उठा रहा हूँ जो कि समग्र लोककल्याण में सहायक हो। यह रिचर्ड के मूल्यवाद से निश्चित ही भिन्न तरह की दृष्टि है। रिचर्ड का मूल्यवाद जहाँ मनोविज्ञान से संबंधित है, वहीं मेरा मूल्यवाद लोक कल्याण से संबंधित है। साहित्य रचनाओं के द्वारा पाठक को सच्चा जीवन जीने की दिशा मिलनी चाहिए। उसे इसका भी ज्ञान प्राप्त होना चाहिए कि मेरे लिए जीवन में क्या उचित और सही है? और सबसे बड़ी बात यह कि जो अपने लिए उचित और सही है, वह प्रकारांतर से दूसरों के लिए भी उचित और सही हो। कथा-कहानियों में चित्रित चरित्रों के द्वारा पाठक को अपने जीवन और परिवेश से संघर्ष करने की प्रेरणा मिलनी चाहिए। जो रचनाएँ पाठक को आत्मकेन्द्रित, लचर, लाचार, समझौतापसंद, अवसरवादी जीवन जीने की प्रेरणा देती हों तो क्या इसे रचना का मूल्य कहा जा सकता है? रचना कोई उत्पादन तो है नहीं कि आप जितना ज्यादा लिखोगे और प्रकाशित करोगे उतने ही श्रेष्ठ साहित्यिक उद्यमी माने जाओगे? प्रश्न तो तब अधिक गंभीर बनता है, जब रचनाओं को पाठ्यक्रमों में समाविष्ट किया जाता है। समझ में नहीं आता कि ऐसी रचनाओं को पढ़ाकर क्या साध्य किया जा सकता है? व्यावहारिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में छात्रों और पाठकों को सहायता कर सकें, ऐसी पुस्तकें लिखी जानी चाहिए। उन्हें प्रामाणिक और सरल जीवन जीने की प्रेरणा दे सकें, ऐसी पुस्तकें लिखी जानी चाहिए न कि उन्हें चमत्कृत करने के लिए। यदि ऐसा संभव हो तो लिखो। बिना फल की इच्छा के लिखो। ऐसा लिखो कि फल का सर्वाधिक लाभ पाठक को मिले। क्योंकि उसने आपकी रचनाओं को पढ़ने के लिए अपना धन और समय व्यतीत किया है।

❐❐❐

22 मार्च, 2022
अशुभ की आशंका की स्मृतियाँ और बीता एक साल

पिछले वर्ष आज ठीक इसी दिन अस्पताल में भर्ती हो जाने का मेरा चौथा दिन था। मेरे साथ सारा अस्पताल फुल। कमरों के बाहर के बरामदे, लॉबी, गैलरी सब भरी हुई। संभवतः अस्पताल की बगल वाली जगह पर टेंट में भी कुछ लोगों के इलाज की व्यवस्था की गई थी। यह सबकुछ असंभावित, अनपेक्षित और अनांकलनीय था। यह सब मैं इसलिए कह रहा हूँ कि आज से मुझे उन दुर्भाग्यशाली एवं असहाय लोगों के प्रथम स्मृति दिनों के पारिवारिक संदेश आना लगभग शुरू हो गए हैं। यह अनुभव कर मैं अत्यंत भावुक हो गया हूँ कि आज उनके परिवार वालों पर क्या बीत रही होगी। एकदम से स्वस्थ, चलते-फिरते, तरोताजा कई नौजवानों को कोरोना ने अत्यंत निर्दयता से निगल लिया। वे अभागे खुद भी यह समझ नहीं पाए होंगे कि वे कुछ ही क्षणों में अब इस दुनिया में नहीं रहेंगे। चारों और मृत्यु का भीषण हाहाकार। परस्पर कटे-कटे से भयभीत लोग। पीड़ा की दाहकता के बीच परिजनों का संघर्ष, असहायता और निर्बलता की करुण छवि से युक्त वह दृश्य क्या मैं भूल सकता हूँ? नहीं। 19 मार्च को प्रातः मुझे अपनी HRCT रिपोर्ट मिली और दोपहर में मैं अकेला ही अपनी स्कूटर से अस्पताल पहुँचा था। पत्नी और दोनों बच्चों को भी आंशिक संक्रमण हो चुका था। 16 मार्च को जब पहली बार मुझे तेज बुखार ने जकड़ लिया था, तो मैंने अपने आपको परिवार से लगभग काट लिया था। पर फिर भी मुझे ऐसा क्यों लगता था कि मुझे कोरोना नहीं होगा? वह हुआ और मुझे अपने भाग्यशाली होने के वहम पर पहली बार ग्लानि महसूस हुई। लगभग 29 मार्च तक कड़ी धूप में मेरी एविएटर मेरे लौटने की प्रतीक्षा में अस्पताल के बगल ही खड़ी रही। उसे पूरा विश्वास था कि मैं लौटूंगा और फिर से उसे चलाऊँगा।

आज यह बीता हुआ पूरा एक साल मुझे अपनी उपस्थिति का प्रति क्षण एक रोमांच भरा अनुभव कराता रहता है। जीवित होना ही मनुष्य की सबसे बड़ी उपलब्धि और सफलता है। रूप, रंग, गंध, स्पर्श और स्वाद को पूरी ताकत और इच्छा के साथ भोगने की क्षमता ही तो जीवन है। यदि हम यह सब नहीं भोग पाते हैं, तो केवल मिट्टी का एक ढेला मात्र हैं। कटुता, तिरस्कार, अपमान, अवहेलना, अनादर, उपेक्षा, दरिद्रता, अभाव, असफलता के बीच भी आपका जीवित होना बहुत बड़ी उपलब्धि है, बशर्ते कि आप निष्क्रिय न बनें। जीवन है तो जीवन का अच्छा-बुरा पक्ष और व्यवहार भी तो आपके साथ है और रहेगा। इसे स्वीकार करना ही स्वाभिमान से जीना है। यद्यपि आपके जीवित रहने का सबसे बड़ा लाभ भी तो आपको ही मिलने वाला है। लोग आपको अच्छा मानें या बुरा इससे न आपकी उम्र बढ़ती है, न कम होती है। मेरे आसपास के अनेक लोग मृत्यु से जब जूझ रहे थे, तब पता है कि स्वस्थ लोग क्या कर रहे थे? बेखौफ घूम रहे थे। बीमारी और शासनव्यवस्था का एक तो मजाक उड़ा रहे थे या बेशर्मी से पीड़ित लोगों के प्रति असंवेदनशीलता का व्यवहार करते हुए पैसे कमा रहे थे। मैंने तो कुछ लोगों की भाषा या व्यवहार में यह भी अनुभव किया कि वे जैसे उनकी मृत्यु की कामना करते हों। कमाल की बेरुखी, घृणा और ईर्ष्या की प्रतीति हुई। नहीं, ऐसा नहीं कि अच्छे लोग नहीं थे। पर सबकुछ दुआ से तो नहीं होता।

❐❐❐

27 मार्च, 2022
बहुसंख्यक समान वैचारिकी और शक्ति का गुणोत्तर

किसी भी स्थान पर रहने वाली किसी एक मनुष्य जाति का दूसरी मनुष्य जाति से संख्यात्मक दृष्टि से बड़ा होना उसे नैसर्गिक रूप से शक्तिशाली, वर्चस्ववादी और घमंडी बनाता है। यह भारत में एक आम बात है। भारत के लोग सामान्यतः धर्म के आधार पर अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक श्रेणी में वर्गीकृत किए गए हैं। भारत में हिंदुओं को बहुसंख्यक और मुस्लिम, जैन, सिख, पारसी आदि को अल्पसंख्यक माना जाता है। आर्थिक एवं सामाजिक आधार पर इस देश के लोगों को एस०सी०, एस०टी०, ओ०बी०सी० और ओपन में वर्गीकृत किया गया है। यह सब तमाम वर्ग जो स्वतंत्रता के बाद बनाये गए, वे वस्तुतः किसलिए कि जो आर्थिक, सामाजिक स्तर पर दुर्बल एवं पिछड़े हैं, उनकी स्थिति में सुधार हो सके। यह तो बड़ी अच्छी बात है। इसमें भी एक झोल है, वह यह कि आप राजनीतिक एवं वैचारिक स्तर पर संख्या में अधिक हैं या नहीं और कितने लाभदायक हैं। देखिए, आप सही हैं या गलत यह कोई नहीं देखता। सब अपना-अपना लाभ देखते हैं और इस प्रकार एक तरफा संपत्ति पर अधिकार कर लेते हैं या अकूत संपत्ति जमा कर लेते हैं। भारत में अधिक संपत्ति वाले और जाति से श्रेष्ठ व्यक्ति को अपने आप लोग बड़ा और महान स्वीकार कर लेते हैं। स्वेच्छा से ऐसे लोगों की चाकरी करने या सेवा करने वाले लोगों की भारत में कमी नहीं है। वे यह नहीं देखते कि जिसे वे महान एवं बड़ा स्वीकार कर चुके हैं, वह सही है या गलत। वे सिर्फ लाभ देखते हैं। भारत में सही और गलत की अवधारणा और नैतिक मान्यताएँ लगभग ध्वस्त हो चुकी हैं। ऐसी स्थिति में जिस ओर लाभ की संभावना अधिक उधर उसके समर्थकों और सहयोगियों की संख्या भी अधिक। यह एक अत्यंत भयानक स्थिति है। सही व्यक्ति अल्पसंख्यक और गलत व्यक्ति अब बहुसंख्यक वर्ग में विभाजित हो चुके हैं। बहुसंख्यक हो जाने के कारण उनमें एक विशेष प्रकार की निरंकुशता और वर्चस्व की भावना पैदा हो गयी है। परिणामस्वरूप वे सही लोगों को कुचलने की भाषा करने लगे हैं। यह एकदम से नहीं हुआ, बल्कि धीरे-धीरे से होता रहा है। इस तरह इस देश में अमीर आदमी अधिक अमीर और गरीब आदमी अधिक गरीब किया जा रहा है। गरीब को यह अनुभूति ही नहीं होने दी जाती है कि वह क्यों गरीब है? कहा तो यह भी जा सकता है कि गरीब आदमी संगठित नहीं है या हो ही नहीं सकता। अपनी गरीब, असहाय एवं दरिद्र अवस्था के लिए उसकी जो वैचारिकी है, वह लचर है। अमीर वर्ग संगठित है। जैसे व्यापारी या उद्यमियों को लें या नौकरीपेशा लोगों को, तो उनके अपने संगठन हैं। वे अपने हितों के प्रति सचेत होते हैं, क्योंकि उनकी एक वैचारिकी है। वे कुछ भी हो, अत्यंत असहाय अवस्था में नहीं पहुँच पाते। एक जो मध्य वर्ग है, वह विशेष रूप से उपभोक्ता वर्ग है। उसके पास प्रति माह जो धन आता है, वह तुरंत खींच भी लिया जाता है। मध्यवर्ग को पैसा तो देना है, पर तुरंत खींच भी लेना है। यह धन न ठहर देने की भी एक वैचारिकी काम करती है। गरीब आदमी भी बालों में शैम्पू लगा सके, इसलिए उसकी जो हैसियत है, उसके अनुसार एक रुपये में शैम्पू पहुँचाना है। असल बात यह है कि भारत के मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा दिखावटी जीवन जीने का अभ्यस्त हो चुका है। उसके रहन-सहन और विचारों में नाटकीयता है। वह अमीर वर्ग की जीवनशैली के अनुकरण करने में व्यस्त है। अतः वह तटस्थ और उदासीन है। उसकी कोई वैचारिकी नहीं है।

देखिए, भारत में इन दिनों हुआ क्या है कि धूर्त, चतुर और अवसरवादी लोग दिन प्रतिदिन संगठित होते गए हैं। संगठित होने में लाभ अधिक है, हर प्रकार के। हुआ यह कि संगठित होने के कारण इन्होंने अपनी संगठन शक्ति को ही अपनी योग्यता अर्थात् गुणवत्ता का आधार मान लिया है। यह सब उन्होंने अपने हित में अपनी ओर से तय कर लिया है। विशेषकर आर्थिक और सत्तात्मक लाभों को लेकर यह लोग अधिक संगठित हैं। इन्हें सत्ता और धन दोनों पर अधिकार चाहिए। इन तथाकथित बहुसंख्यक वर्गों की स्वलाभकेन्द्रित यह वैचारिकी एक माफिया की तरह काम करती है। उनकी इस वैचारिकी का विरोध करने वाले लोग भी अधिक समय तक इनसे संघर्ष न कर पाने के कारण अपने आप शिथिल हो जाते हैं। यह बहु सांख्यिकी लोकतंत्र को लगा कैंसर है। असल लोकतंत्र वही है, जहाँ का सदाचरणी लोक सभी के समान हितों की पूर्ति के लिए एकत्रित होकर सत्ता में आये। लेकिन वह नहीं आ पाता। यह जो बहुसंख्यक समान वैचारिकी है, इसका एक विशिष्ट थॉट बैंक भी होता है। ठीक उसी तरह जैसे वोट बैंक होता है। यह किसी अन्य वर्ग के बारे में वही सोचेंगे जो उनके थॉट बैंक में निश्चित

किया गया होता है। अतः इनमें सही को गलत और गलत को सही साबित करने की अपनी कला होती है।

❐❐❐

24 अप्रैल, 2022

मर्त्य मानव की विजय का तुर्य हूँ मैं

(रामधारी सिंह 'दिनकर' की पुण्यतिथि पर उनकी डायरी पर विशेष)

हिंदी में कविश्रेष्ठ दिनकर अपनी प्रवाहमयी, ओजस्विनी कविता के लिए विशेष रूप से जाने जाते हैं। उनकी प्रसिद्धि कवि रूप में ही अधिक होने के कारण प्रायः उनकी गद्यकृतियों का विशेष आंकलन नहीं हुआ। निबंध, आलोचना, संस्मरण, डायरी, यात्रावृत्त, पत्र आदि अनेक विधाओं के द्वारा उन्होंने हिंदी गद्य साहित्य को विशेष गरिमा प्रदान की है। चीन के साथ टकराव को लेकर उन्होंने कहा था कि यदि भैंसे से लड़ना है, तो भैंसा बनकर ही लड़ना होगा। इस बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी दिनकर को उनकी पुण्यतिथि पर उनकी डायरी को लेकर याद करने का मेरा यह एक सामान्य प्रयास है।

दिनकर की यह डायरी 2 जनवरी, 1961 (दिल्ली) से 31 दिसंबर, 1972 के बीच लिखी हिंदी की प्रारंभिक डायरियों में से एक है। इसे स्वयं दिनकर ने संपादित करके अपने जीवित रहते प्रकाशित किया है। डायरी के संपादन के विषय में वे लिखते हैं, ''मैं न गांधी हूँ, न रवींद्र, जिनका उठना-बैठना, बोलना-चालना, सबकुछ महत्व रखता हो। बहुत-सी चीजें तो इस दृष्टि से छांट दी गयी। कुछ ऐसी बातों को भी पुस्तक में जाने से मैंने रोक लिया है, जिन्हें प्रकाशित करने के साहस का मुझमें अभाव है। ऐसी जो थोड़ी-सी बातें धर्मयुग में छप गयी, उनको लेकर ही चेंचे-पेपें मच गयी। लेकिन उन अंशों को तो मैंने ज्यादातर रोक लिया है, जो मेरी पारिवारिक विपत्ति से संबंधित है और जिनका संबंध मेरे रोने-कांदने और सिर पीटने से है।''

संपादित डायरी में प्रायः ऐसी बातें निकाल दी जाती हैं, जो बहुत आंतरिक, निजी, गोपन और विवादास्पद होती हैं। इससे डायरी की सच्चाई पर तो फर्क पड़ता ही है, पाठक को भी निराशा होती हैं। यद्यपि दिनकर की डायरी को पढ़ने से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि यह आधी-अधूरी है। डायरी में प्रस्तुत लगभग ग्यारह वर्ष के कालखंड में उनके जीवन के अनेक आंतरिक, वैयक्तिक घटनाओं-प्रसंगों से युक्त प्रविष्टियाँ मिलती हैं। निजी पारिवारिक प्रसंगों के अतिरिक्त साहित्यिक-राजनीतिक प्रसंग और सरोकार, नित्य सृजनकर्म, तत्कालीन

साहित्यिक परिवेश और सरोकार, देश-विदेश की यात्राएँ, दैनिक चिंतन-मनन, मेल-मुलाकातें, जीवन के उतार-चढ़ाव, चिंता, परेशानियाँ, बेचैनियाँ, व्यग्रताएँ, पारिवारिक कलह और जिम्मेदारियों का मार्मिक अंकन डायरी में मिलता है। डायरी का प्रारंभ 2 जनवरी, 1961 की उस प्रविष्टि से होता है, जिसमें वे सूचना देते हैं कि उनका उर्वशी यह महाकाव्य कल रात पूरा हो गया और उनके माथे पर से एक बोझ उतर गया।

डायरी के प्रारंभ में रूस की साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा का विवरण है, जिसमें राजधानी मॉस्को का सौंदर्य, रूसी लोगों की शारीरिक सुंदरता, उन्मुक्तता, स्वच्छंद रहन-सहन, स्वभाव की चर्चा, मॉस्को विश्वविद्यालय का वर्णन, टॉलस्टाय की जन्मभूमि का दर्शन, रूस के साम्यवादी सरकार की प्रशंसा आदि कई प्रविष्टियाँ रोचक एवं पठनीय हैं। 10-20 अक्टूबर, 1961 की थेरेवान यात्रा में वे लिखते हैं, ''रूस में जो सभ्यता फैली है, उसे भारत में हम लोग रेजीमेंटेड समझने के आदी हो गये हैं। रेजीमेंटशन शायद है, मगर वह एक खास धरातल पर विचारों के ऊपर है। बाकी तो सारे देश में मुझे उन्मुक्तता और खुलापन ही दिखाई देता है। ईर्ष्या, द्वेष, संकीर्णता और दूसरे देश से रूठकर अलग जीने का भाव, ये लक्षण गरीब देश के हैं और चूँकि भारतवर्ष सबसे गरीब देश है, इसलिए यह दुर्गुण भी भारत में ही सबसे ज्यादा है। रूस खाता-पीता, मस्त देश है, इसीलिए वहाँ के आदमी खुले दिल के होते हैं।''

1970 के दशक की विभिन्न साहित्यिक गतिविधियों और हलचलों पर भी डायरी में यथेस्ट प्रविष्टियाँ मिल जाती हैं, जो हिंदी के तत्कालीन साहित्यिक परिवेश को समझने में सहायक है। अपने समकालीन साहित्यकारों के विषय में दिनकर ने जो मत डायरी में रखे हैं, वह उनकी उदार एवं गरिमामय व्यक्तित्व का परिचायक है। 30 मार्च, 1961 के दिन वे लिखते हैं, ''हिंदी में अज्ञेय ही हैं, जो विश्व साहित्य की नई प्रवृत्ति के संपर्क में रहते हैं। बोलते वे बहुत कम हैं, शायद इसलिए वे शीलवान दिखायी देते हैं। आज भी वे कम ही बोले, ज्यादा बातें मैं ही करता गया।''

12 फरवरी, 1962 के दिन पंत और निराला के विषय में लिखते हैं कि पंत जी शालीन व्यक्ति हैं। वे जहर पीकर भी चुप रह जाते हैं। निराला जी थे, औघड़ फकीर। जीवनभर उनका रास्ता गड़बड़ रहा। मगर मर कर तो इस फकीर ने सबको मार डाला। निराला जी पर जनता की जो भक्ति उमड़ी है, वह अंततः साहित्य को ही अर्पित भक्ति है।

दिनकर ने डायरी में अपने व्यक्तिगत जीवन-प्रसंगों की अपेक्षा तत्कालीन देश-दशा, चुनौतियों, राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक महत्वपूर्ण घटना-प्रसंगों, अपनी आंतरिक पीड़ा से उत्पन्न कटु और मार्मिक प्रतिक्रियाओं का विशेष उल्लेख किया है। हिंदी भाषा और हिंदी की निंदा तथा इस संदर्भ में राजनीतिक अनास्था एवं अदूरदर्शिता पर 20 जून, 1962 के दिन वे लिखते हैं, ''लगे हाथों मैंने उन लोगों की आलोचना की जो दिन-रात कहते रहते हैं कि हिंदी अविकसित भाषा है, उसका साहित्य श्रेष्ठ नहीं है, उसकी तुलना में देश की अनेक भाषाएँ बहुत अच्छी हैं। इस प्रसंग में मेरे मुँह से यह बात भी निकल गयी कि हिंदी की निंदा करने की यह प्रवृत्ति प्रधानमंत्री की देखा-देखी बढ़ी है, क्योंकि अन्य भाषा-भाषियों को खुश करने के लिए वे बराबर हिंदी का मजाक उड़ाते रहते हैं'' दिनकर की हिंदी और प्रधानमंत्री के विषय में की गयी यह टिप्पणी हिंदी के प्रचार-प्रसार एवं राजभाषा के रूप में उसके विकास के संदर्भ प्रश्नचिन्ह उपस्थित करती है। डायरी में ऐसी बहुत सारी बातें उन्होंने की हैं, जिनसे वे स्वयं जूझ रहे थे।

भारत पर चीन के आक्रमण को लेकर अनेक प्रविष्टियाँ डायरी में मिलती हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। चीन के आक्रमण से दिनकर का कवि भयभीत नहीं होता, बल्कि उसे देश के शौर्य, वीर्य एवं पुरुषार्थ की परीक्षा के रूप में देखता है। पटना में 27 अक्टूबर, 1965 के दिन वे लिखते हैं, ''चीनी आक्रमण घोर शब्द है, लेकिन वह वरदान में बदला जा सकता है, अगर सरकार जनता के उत्साह को दिशा दे सके। लड़ाई देर तक चले और सभी इलाकों के लोग उससे थोड़ा जल सकें, तभी जनता यह समझेगी कि आजादी कितनी कीमती चीज है और उसकी रक्षा कैसे की जानी चाहिए। रक्त स्नान से भारत शुद्ध हो सकता है। अग्नि स्नान से देश की ताकत बढ़ सकती है। विपत्तियों के झकोर से वह स्वराज्य जिंदा किया जा सकता है, जो पार्सल से आया था।''

डायरी वस्तुतः नितांत आत्मपरक विधा है। निजी जीवन की खट्टी-मीठी बातों का डायरी में आ जाना स्वाभाविक है। निजी जीवन की समस्याएँ, दुर्बलताएँ, कष्ट, चिंता, पीड़ा, मान-अपमान और हार-जीत के प्रसंग डायरी को जीवंत बनाते हैं। दिनकर ने कई स्थानों पर अपने पारिवारिक जीवन की समस्याओं और जटिलताओं का उल्लेख किया है। 30 अक्टूबर, 1971 की इस प्रविष्टि में उनकी

पारिवारिक चिंता स्पष्ट अंकित हुई है। वे लिखते हैं, ''वैसे तो अच्छा ही चल रहा है, लेकिन स्वर्गीय बेटे की तीन बेटियाँ अभी क्वारी हैं। नौ लड़कियों का ब्याह कर चुका हूँ। तीन के और करने हैं, अगर काफी दिन बचा। एक आदमी के सिर पर बारह लड़कियाँ। न जाने, भगवान ने इतना बोझ क्यों डाला?'' इतनी सब पारिवारिक चिंताओं के बीच इतना समृद्ध साहित्य-सृजन दिनकर की एकाग्र एवं एकनिष्ठ साहित्य-साधना का परिचायक है। हिंदी की इधर की कुछ प्रकाशित डायरियों को जब मैंने पढ़ा तो लगा कि डायरी में परिवार नाम की कोई चीज आयी ही नहीं है। क्यों यह सब डायरीकार पारिवारिक जीवन चित्रण की उपेक्षा करते हैं? या उसे हेय समझते हैं। दिनकर ने अपनी डायरी में अपनी आलोचना भी यथास्थान की है। कई स्थानों पर उनकी आत्मस्वीकृतियाँ डायरी को यथार्थपरक बनाती हैं और प्रामाणिक भी। दैनिक चिंतन-मनन, पठन-पाठन से उपजी प्रतिक्रियाएँ, नारी स्वतंत्रता, धर्म, समाज, ईश्वर, अध्यात्म, ज्योतिष, भारतीय संस्कृति, साहित्य-प्रेम आदि से संबंधित अनेक बातें डायरी को ज्ञानवर्धक बनाती हैं। संक्षेप में कहना चाहूँगा कि यदि किसी को डायरी लिखने का मोह हो रहा है, तो कुछ भी लिखने से पहले दिनकर की इस डायरी को पढ़ लेना चाहिए। इसे पढ़ते हुए डायरी लिखने का अभ्यास भी करना चाहिए। संभवतः एक और अच्छी डायरी हिंदी को मिलेगी।

❐❐❐

29 अप्रैल, 2022

उच्चशिक्षा की मंडी और शिक्षा का फैशन

मुफ्त में शिक्षा लेना-देना और महँगी शिक्षा लेना-देना दोनों ही शिक्षा क्षेत्र के अतिवादी पक्ष हैं। इस स्थिति के लिए इस देश के लोग ही जिम्मेदार हैं। यहाँ के बहुसंख्य लोग मुफ्त में दिखाऊ शिक्षा प्राप्त करते हैं और जब महँगी शिक्षा ग्रहण करते हैं, तो उसके महँगी होने को ही उसकी श्रेष्ठता मानते हैं। यह बौद्धिक दिवालियापन ही कहा जा सकता है कि इस देश में आर्ट्स में पढ़ने वाले से कॉमर्स में पढ़ने वाला अपने आपको श्रेष्ठ मानता है और ठीक इसी तरह से कॉमर्स से विज्ञान और विज्ञान से इंजीनियरिंग और मेडिकल में पढ़ने वाला अपने आपको ऊँचा मानता है। इस देश में जितने भी क्षेत्र में पढ़े-लिखे लोग काम करते हैं। सभी अपनी प्राप्त शिक्षा को लेकर इंफीरिआरिटी और सुपीरियारिटी कॉम्प्लेक्स से ग्रस्त हैं। उच्चशिक्षा का दिखावा करना यहाँ के लोगों की जीवनशैली का एक अभिन्न भाग बन गया है।

वस्तुतः हम शिक्षा या ज्ञान किसलिए प्राप्त करते हैं या करना चाहिए, इसका इस देश के बहुसंख्य लोगों को पता नहीं है। उच्चशिक्षा के मूल उद्देश्य पर केन्द्रित हिंदी की एक फिल्म 'थ्री इडियट' का मुख्य पात्र यह कहता है कि हमें शिक्षा कामयाब होने के लिए नहीं बल्कि काबिल होने के लिए ग्रहण करनी चाहिए। भारतीयों ने इस फिल्म को केवल मनोरंजन के स्तर पर स्वीकार किया और किसी ने इस विषय पर चिंतन नहीं किया कि हम पढ़ना-लिखना किसलिए चाहते हैं? मैं पढ़ा-लिखा या ज्ञानी हूँ, यह दिखाने के लिए पढ़ना अनेक मध्य वर्गीय भारतीयों की एक मानसिक बीमारी है। शिक्षाजगत में प्रतियोगिता को भी एक बुराई के रूप में देखा जाना चाहिए, क्योंकि बहुत-से लोग प्रतियोगी परीक्षाओं में केवल टेक्नीक या तंत्र के बल पर सफलता प्राप्त करते हैं, वहीं यह लोग काबिलियत के मामले में कमजोर साबित होते हैं। केवल शिक्षा को नहीं बल्कि काबिलियत अर्थात् योग्यता को गुणवत्ता से जोड़कर देखा जाना चाहिए। फिल्म में इस चरित्र ने और एक अच्छी बात कही कि परीक्षाओं में रैंकिंग हम लोगों में भेदभाव को बढ़ावा देती है। अधिक मार्क्स, ग्रेड या रैंकिंग बुद्धिमान होने का अंतिम मापदंड नहीं है। हमें खुलकर इस विषय में सोचना चाहिए। रैंकिंग को लेकर अनायास ही एक

विशेष प्रकार की वर्णव्यवस्था का जन्म होता है, जो समाज के हर वर्ग और पीढ़ी के लिए घातक है।

असल में हमें फैशन के रूप में विकसित हो रही शिक्षा को बढ़ावा नहीं देना चाहिए। धूर्तता, चतुराई, चालाकी और होशियारी आदि को शिक्षा का गुण नहीं माना जा सकता। यह जंगली प्रवृत्तियाँ या गुण हैं। शिक्षा प्राप्त हमें इसलिए करनी चाहिए कि हम अधिकाधिक मानवीय, समझदार, सरल और सदाचरणी बन सकें। यही शिक्षा के वास्तविक मूल्य हैं। यदि हम सफलता प्राप्ति की दृष्टि से नहीं पढ़ेंगे तो फिर हम पिछड़ जाएँगे, सफल नहीं होंगे, इस तरह के भय से ग्रस्त क्यों होना? जब सही मार्ग और रूप में शिक्षा प्राप्त लोगों की उपेक्षा की जायेगी, तो यह भय उत्पन्न होना स्वाभाविक है। शिक्षा का ढांचा ही हमें ऐसे विकसित करना होगा, कि लोग नकली पढ़ाई न कर सकें। परंतु यही आजकल हो रहा है। कुछ दिनों पूर्व मेरा एम०ए० का एक छात्र मुझसे मिलने आया था। वह देहात में खेती करता है, और फिर कभी-कभार समय मिलने पर कॉलेज में आता है। वह पढ़ने-लिखने से खेती में काम करना ज्यादा जरूरी समझता है। मेरे पूछने पर उसने बताया कि खेती करने से पढ़ाई करना कई गुना आसान है। उसकी नजर में पढ़ाई करना कोई काम है ही नहीं। फिर वह पास कैसे होता है? तो उसने बताया कि परीक्षा से 3-4 दिन पूर्व पढ़ाई करने पर भी वह पास हो जाता है। आश्चर्य इस बात का है कि पढ़ाई-लिखाई करने को उसने खेती से भी सरल काम बताया। देखा जाए तो खेती में न कोई परीक्षा होती है और न कोई पास होता है। वहाँ पर केवल दो ही मानदंड है, एक कड़ी शारीरिक मेहनत और दो, उसका अच्छी फसल के रूप में अच्छा परिणाम। यहाँ कॉपी नाम की दूर-दूर तक संभावना नहीं है। यह मेथड शिक्षा के लिए अपनायी नहीं जाती। यहाँ कामचोरी और कॉपी के बल पर सफलता मिल सकती है। वास्तव में हम सभी ने मिलकर ही अपनी सुविधा के लिए इन कुमार्गों का अन्वेषण किया है और परिणाम भी हम देख रहे हैं- उच्चशिक्षित परंतु अयोग्य फौज के रूप में।

❐❐❐

1 मई, 2022

जिजीविषा और आत्मबलिदान की पुनर्व्याख्या का जटिलतम समय

कल एक मराठी दूरदर्शन समाचार चैनल पर महाराष्ट्र के पूर्व मुख्यमंत्री देवेंद्र फड़नवीस ने कहा कि यदि कोई आपकी पीठ में खंजर घोप दे, फिर भी आपको जीवित रहते आना चाहिए। जीवित रहने के सबसे बड़े लाभ की विवेचना करते हुए उन्होंने यह कहा कि आप यदि जीवित बने रहते हैं तो ही परिस्थितियों को बदल सकते हैं और किसी से बदला यानी प्रतिशोध भी ले सकते हैं। उनकी दृष्टि में प्रतिशोध या बदला लेने की भावना का होना जीवित होने का सबसे बड़ा लक्षण है। बाद में उन्होंने इस प्रतिशोध की भावना की पुनर्व्याख्या करते हुए कहा कि मेरा तात्पर्य अहिंसक प्रतिशोध से है। जीवित बने रहने से संभवतः उनका तात्पर्य राजनीति में अपने अस्तित्व को बनाये रखने से हो सकता है। अस्तित्व को बनाये रखने की चुनौती राजनीति में हमेशा बनी रहती है और इसे बनाये रखने के प्रयास में जो कुछ संभव हो सके वह सबकुछ करना न्यायोचित है, ऐसा संभवतः उनका संकेत हो। गौर करने लायक बात यह भी है कि मराठी मीडिया में उनके इस वक्तव्य को लेकर कोई विशेष हलचल नहीं हुई। परंतु मुझे निजी तौर पर उनका यह कथन काफी झकझोरने वाला रहा।

वस्तुतः हमारी परंपरा में अर्थात् सनातन भारतीय दृष्टि एवं परंपरा में मर्यादा, त्याग, संयम, आत्मबलिदान आदि को सर्वश्रेष्ठ मूल्यों के रूप में स्थापित किया गया है। राजनीति में तो इन्हें अधिक महत्व दिया गया है। क्या भारत में श्रीराम, भीष्म, कर्ण, दधीचि, ध्रुव, प्रह्लाद, नचिकेता आदि के आत्मबलिदान, त्याग, संयम और पुरुषार्थ से भरे जीवन परंपरा का लोप होता जा रहा है? या हो चुका है? भारतीय राजनीति के समक्ष आज कोई आदर्श भी है या फिर वह देवराज इंद्र और ययाति की परंपरा की राजनीति को अपना आदर्श स्वीकार कर चुकी है? सेना में जो लोग दुश्मनों से लड़ते हुए मरते हैं, उनके सामने हम जीने की अपेक्षा मृत्यु की सार्थकता का आदर्श उपस्थित करते हैं। वे वीरगति को प्राप्त या शहीद कहलाये जाते हैं। उनकी मृत्यु सम्मान्य होती है। लेकिन क्या ऐसी मौत से वास्तव में उनकी आत्मा प्रसन्न होती है? यदि वे ऐसी मौत के बाद पुनश्च जीवित होना चाहें तो वे कैसे जीवित हो सकते हैं और बदला ले सकते हैं? उनके

जिस बहुमूल्य जीवन की जो हानि या क्षति हुई है, वे उसकी भरपाई कहाँ से करें? कहाँ से और कैसे पुनर्जीवन प्राप्त करें? हमारे जीवित रहने या सदा अमर बने रहने की सार्थकता की सार्वभौम व्याख्या कैसे की जा सकती है? कैसे? यदि मनुष्य के जीवित रहने का सबसे बड़ा लाभ यह कि वह परिस्थितियों को बदल सकता है, तो यदि उसमें पुरुषार्थ हो तो ही ना? मनुष्य तो परिस्थितियों का दास कहलाया जाता है।

किसी व्यक्ति को किसी बड़े स्थान पर पहुँचने के बाद यह अनुभव होने लगना कि वह एक अत्यंत श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण व्यक्ति बन गया है और उसके बिना या अनुपस्थिति में लोगों की उन्नति या विकास ही नहीं होगा, यह उसका वहम मात्र है। वह यह भी समझने लगता है कि दूसरों की अपेक्षा उसका जीवित रहना अधिक जरूरी है। ऐसा क्यों? यह सभी को समझना चाहिए कि न कोई एकमात्र महत्वपूर्ण है और न हीन। ऐसी सोच के कारण एकाधिकारशाही का जन्म होता है। दुनिया की अब तक की यह उन्नति सामूहिक प्रयास से हुई है, न कि एकल। यदि कोई एक व्यक्ति कोई अद्‌भुत आविष्कार करता है और उसे केवल अपने निजी उपयोग या हित तक ही सीमित रखता है, तो दुनिया कैसे आगे बढ़ेगी? शासकों को यह बात समझनी चाहिए। वे कोई वैज्ञानिक तो हैं नहीं परंतु उन्हें कम से कम अच्छा विचारक तो होना ही चाहिए।

❐❐❐

4 मई, 2022

लेखक और साहित्यिक पत्रिकाएँ : निरीक्षण और बोध

यह जो साहित्यिक पत्रिकाओं में रचनाओं के रिजेक्शन की बात होती है, वह चिंतित करने वाली है। संपादकों को चाहिए कि वह रचनाकारों को प्रेरित करें। यदि उनकी दृष्टि में रचना प्रकाशन योग्य नहीं है, तो क्यों नहीं है, इससे रचनाकार को व्यक्तिगत स्तर पर अवगत कराएँ। यदि यह भी नहीं हो सकता तो उस रचना की कठोर परंतु सुचिंतित समीक्षा करते हुए उसकी दुर्बलताओं से समस्त साहित्यिक विश्व को अपनी पत्रिका के द्वारा परिचित कराएँ कि आगे कोई ऐसी बेहूदा लिखने की हरकत न कर सके। या फिर रचनाकार में उत्तम संभावनाओं को देखते हुए उसे दिशा-निर्देशन करें। यदि ऐसा विराट संपादकीय व्यक्तित्व है, तो ही पत्रिका को निकाले। पत्रिकाओं में छपने के लिए तो रचनाकार रचनाओं को भेजेंगे ही। प्राप्त रचनाओं को पढ़ना, उन्हें प्रकाशन हेतु छांटना आदि निश्चित ही श्रमसाध्य कार्य है। अतः पत्रिकाओं को किसी विशेष विधा या विषय पर ही केन्द्रित रखें। रचनाकार को यह न कहें कि छाप नहीं सकते। वैचारिक संकीर्णता न रखें। ऐसी स्थिति में रचनाकार को वर्ष में न्यूनतम एक अवसर दें। कुछ संपादक तो एक ही रचनाकार को वर्ष में आठ-दस बार प्रमोट करते हैं। क्यों? हिंदी में आज सैकड़ों पत्रिकाएँ निकल रही हैं। कहीं तो लेखक छपेगा ही। उपेक्षा करने से कोई मर तो नहीं जाता। जितनी ज्यादा उपेक्षा उतना अधिक आत्मविश्वास का उत्पन्न होना जरूरी है। लेखकों को भी चाहिए कि यदि रचना लौटाई गयी है, तो रचना का स्वयं परीक्षण करें, कि क्यों? संपादकों को कोसना भी ठीक नहीं। उनकी अपनी भी विवशताएँ हो सकती हैं। संक्षेप में यह कहना जरूरी है कि कोई ऐसा स्वस्थ तरीका ईजाद किया जाए कि उत्तम साहित्य का विकास हो। स्वाभाविक रीति से उगे जा रहे साहित्यिक पौधों को निर्ममता से उखाड़ फेंकना अमानवीय है। जो संपादक रचनाकारों का प्रदेश, जाति, वर्ग, समाज, धर्म, पद और निजी संबंधों के आधार पर छापने का निर्णय करते हैं, उनका निषेध होना चाहिए।

❐❐❐

12 मई, 2022

श्रेष्ठ मनुष्य और मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ

मुझे लगता है कि अपने समकालीन परिवेश और लोगों को देखकर निराश नहीं होना चाहिए। यह सही है कि हम आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी और भौतिक रूप से बहुत कुछ उपलब्ध कर चुके हैं। हमारे परिवेश में ऐसे कई लोग हैं, जिनमें चूहे के दिमाग जितनी भी अकल नहीं है। वह भी समझता है कि बिल में कितना संग्रह करना है और वास्तव में वह कितना तुच्छ जीव है। पर आदमी समझता ही नहीं। ईश्वर और राम से लेकर आपके और मेरे तक हम दुनिया को ऐसी कौन-सी चीज देने में आश्वस्त हो सकते हैं कि हमने कुछ अच्छा और बेहतर काम किया और दुनिया को दिया? ग्रह-तारों की खोज से लेकर गति के नियम, गुरूत्वाकर्षण, गणित और पाइथागोरस के सिद्धांत से लेकर, विमान, रॉकेट, एके-47, एटम बम, हाइड्रोजन बम, एंटीबायोटिक दवाइयों, संगणक और इंटरनेट-गूगल तक हम एक लंबी यात्रा तो कर चुके हैं। धर्म, साहित्य, संस्कृति, राजनीति, दर्शन, समाज-विज्ञान आदि से संबंधित भी अनेक विचार और दृष्टियों का सृजन हम कर चुके हैं। अनेक विचारधाराएँ इस खोज में अपनी सार्थकता और निरर्थकता को प्रमाणित कर चुकी हैं, कि इस धरती पर सर्वश्रेष्ठ प्राणी के रूप में मनुष्य की उपस्थिति का क्या प्रदेय है?

देखिए, बात क्या है कि मनुष्य प्राचीन काल से ही अहंकारी और वर्चस्ववादी मनोवृत्ति का प्राणी रहा है। अपने से तुच्छ प्राणियों को गुलाम बनाने के साथ-साथ ही उसने अपने ही वर्ग और जाति के प्राणियों को भी गुलाम बनाया। उनका भी शोषण किया। महल बनाये, किले बनाये। वह राजा बना और फिर ईश्वर भी। हम ईश्वर को खोजने के लिए जहाँ-जहाँ भी जाते हैं, कमबख्त यह मनुष्य मिल ही जाता है। मनुष्य जाति के इतिहास का यदि बारीकी से निरीक्षण किया जाए तो ज्ञात होता है कि इस जाति का एक वर्ग जो विशाल तो नहीं कहा जा सकता, पर प्रारंभ से ही क्रूर, आक्रामक और वर्चस्ववादी प्रवृत्ति का रहा है। इसने शांतिप्रिय एवं श्रमिक वर्ग पर अपनी शक्ति एवं क्रूरता के बल पर प्रारंभ से अधिकार रखना चाहा। इस वर्ग के मनुष्य ने प्रारंभ से अपनी प्रतिमा एक श्रेष्ठ, महान एवं शक्तिशाली मानव के रूप गढ़ी। राजाओं-महाराजाओं के रूप में इस वर्ग का मनुष्य हर सदी में रहा। आप कल्पना नहीं करेंगे पर 18 व 19वीं शताब्दी में इस वर्ग को जड़ से उखाड़ने का लोकतांत्रिक काम हुआ। अतः यह दो शताब्दियाँ मानवकल्याण की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ शताब्दियाँ कही जा सकती हैं। रक्तपात भी बहुत हुआ। पर यह वर्ग अभी तक खत्म नहीं हुआ है। इस वर्ग ने यद्यपि आजतक अपना कुछ भी सर्वश्रेष्ठ दुनिया को नहीं दिया है। न अच्छा विचार दिया, न अच्छा आचार। इस वर्ग में भोग-विलास की जो अधिक प्रधानता रही, उसके प्रति जनसामान्य में कम आकर्षण नहीं है। बल्कि कबीर, तुकाराम, नामदेव, ज्ञानेश्वर की सादी और सरल जीवनशैली के प्रति लोगों में उदासीनता का भाव मिलता है। जनता ने संतों से क्या लिया यह मौलिक प्रश्न है, बल्कि जनता को संतों ने जो दिया है, उसकी बराबरी कोई सम्राट नहीं कर सकता।

अतः श्रेष्ठ मनुष्य की अवधारणा उसी मानक पर तय की जा सकती है कि उसने अपना सर्वश्रेष्ठ क्या दिया? ऋषि-मुनियों, संतों, श्रमिकों, कलाकारों, विचारकों, साधकों और वैज्ञानिकों ने इस दुनिया को उत्तम रूप प्रदान करने में जितना योगदान दिया है, उतना राजा, महाराजाओं एवं सम्राटों ने नहीं। फिर भी केवल अपनी वर्चस्ववादी और आक्रामक प्रवृत्ति के कारण यह वर्ग प्राचीन काल से ही मनुष्य का मालिक बन बैठा है और शासन करता रहा है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं हैं। इस वर्ग ने शासन करने का जैसे कोई पेटेंट ले लिया हो। सामाजिक एवं राजनीति विज्ञान को इस बात की खोज करनी चाहिए। दूसरों से अपने आपको श्रेष्ठ मानना और शासन करने योग्य समझ लेना एक मानसिक रोग है। इधर हर क्षेत्र में इस रोग से ग्रस्त लोगों को मैं देखता हूँ। कुछ लोग तो इस भ्रम में रहते हैं कि उनके रहते ही जनता का कल्याण होगा। वे ही जनता के तारणहार हैं और उसके दुःख-कष्टों को दूर कर सकते हैं। ऐसा कुछ नहीं होता है। पर मनुष्यजाति प्रारंभ से मृत्यु को लेकर अन्य प्राणियों से अधिक भयग्रस्त रही है। मेरी कालोनी में सिर्फ दो बिल्लियाँ हैं, पर उनका आतंक इतना है कि कोई चिड़िया जमीन पर उतरकर दाना नहीं चुग सकती। कितना भय है उनमें। एक बूँद पानी पीने के लिए चिड़िया को दस बार दांए-बांये गर्दन मोड़नी पड़ती है कि कहीं कोई बिल्ली झपट्टा न मार दे। वे दो बिल्लियाँ शासक हैं और शासन करती भी रही हैं। अपनी प्रकृति के बल पर।

❐❐❐

22 मई, 2022

साहित्य : प्रतिभा और श्रम का अंतर्संबंध

भारत की अनुमानित वर्तमान जनसंख्या यदि 135 करोड़ के आसपास स्वीकार की जाए, तो मुश्किल से दस लाख लोग भी साहित्य के प्रति समर्पित हैं, यह स्थापना करना अत्युक्ति हो सकती है। इसमें भी साहित्य को जीने वाले लोग बहुत कम मिलेंगे। संसार में ऐसी बहुत-सी अच्छी चीजें और कार्य हैं, जिनसे दुर्भाग्य से पैसा या धन नहीं अर्जित नहीं किया जा सकता और न अमीर बना जा सकता है। उनमें से साहित्य एक चीज है। साहित्य से तात्पर्य कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, नाटक, आत्मकथा आदि के लेखन से है। इतना जरूर है कि इस तरह के लेखन के लिए मनुष्य में कुछ विशेषता होना जरूरी है। भारतीय काव्यशास्त्रीय चिंतन परंपरा में इस रहस्य की खोज करने का प्रयास किया गया है कि वह कौन-सी दिव्य शक्ति है, जिसके बल पर साधारण मनुष्य भी उत्तम साहित्यिक सर्जना में सफल हो सकता है। काव्य मनीषियों ने इस संबंध में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीन कारणों की खोज की है। मुझे इस संबंध में सबसे अधिक उपयुक्त कारण केवल अभ्यास प्रतीत होता है। क्योंकि अभ्यास में पुरुषार्थ और श्रम की भूमिका सर्वोपरि है। इसमें देवशक्ति का कोई सहभाग नहीं है। एकदम से स्व-अर्जित और लोकतांत्रिक।

अच्छा, प्रतिभा के विषय में यह कहा गया है कि जिसके बल पर कवि अपने एकांत मन में विस्फुरित होने वाले काव्य-विषयों को अनुकूल शब्दों में सहज ही व्यक्त कर देता है, उसे प्रतिभा कहते हैं। काव्य सर्जना के विषय में यह दैववादी और भाग्यवादी सोच क्या वास्तव में स्वीकार करने योग्य है? मैंने यह अनुभव किया है कि जब भी मैं कुछ लिखता हूँ या कहता हूँ तो उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे प्रतिभा कहा जा सकता है। क्योंकि मेरे कहने में कुछ कमी या दोष भी हो सकते हैं, ऐसा मुझे लगता है। प्रायः लगता है और जो मुझे नित्य तराशने का बल प्रदान करता है। मैं सच कहता हूँ कि मुझे यह सबकुछ लिखने के लिए काफी मेहनत करनी पड़ती है। मैं नकल या अतिरंजित जैसा कुछ लिख ही नहीं सकता। क्योंकि ऐसे विषय मुझे अपने जीवन से प्राप्त होते भी नहीं हैं। जब कुछ विषय प्राप्त होते हैं, तो लगता है कि वास्तविक जीवन-यथार्थ और मेरे विचार आदि में अंतर्विरोध है। ऐसी मानसिकता में मैं फिक्शन लिख ही नहीं सकता। फिक्शन लिखना सही में मुझे कठिन लगता है। जब मैं देखता हूँ कि कुछ लोग कहानी, उपन्यास आदि धड़ल्ले से लिख रहे हैं, तो आश्चर्य होता है। क्या ऐसी स्थिति में मुझे यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि वे सभी प्रतिभाशाली हैं?

क्या संसार में सचमुच में कोई अदृश्य शक्ति है, जो चुन-चुनकर लोगों को किसी कार्य में सिद्धहस्त होने का वरदान देती है और वे लोग अपने आप प्रतिभाशाली हो जाते हैं। जैसे- नर्तक, संगीतज्ञ, चित्रकार, साहित्यकार, कवि आदि? क्या वैज्ञानिक भी सचमुच प्रतिभाशाली होते हैं, जिन्हें अपने आप पता चल जाता है और वे कुछ ही क्षणों में विमान, मोटरगाड़ी, इंजिन, फैन, कंप्यूटर आदि बना लेते हैं? मुझे कहना अभिप्रेत यह है कि संसार में कुछ भी यूँ ही अचानक उत्पन्न नहीं होता। धान या घास का पौधा भी नहीं। कुछ तो साधना, प्रक्रिया, श्रम आदि होता ही होगा न? यह कोई चमत्कार थोड़े ही है। वर्तमान युग में तो ऐसा संभव ही नहीं है। वाकई एक अच्छी प्रस्तुति के लिए बहुत ही निचोड़ना पड़ता है, खुद को। भस्म या राख को निगल लेने से यदि सचमुच औरतें गर्भवती होती तो नर की क्या जरूरत थी? रचनाकार को रचना को जन्म देने से पूर्ण गर्भ धारण करना पड़ता है। कुछ दिन गर्भ को ढोना भी पड़ता है। प्रसव की पीड़ा को भी भोगना पड़ता है। क्या आपने इस तरह ही अपनी रचना को जन्म दिया है?

❐❐❐

30 मई, 2022

पचास कम... पचास ज्यादा...

मुझे नहीं लगता कि किसी को भी उम्र के बढ़ने पर खुशी होती होगी। यदि होती होगी तो किस बात की? इतना लंबा सफर निरापद तय कर लेने की? क्या जीवन जीने की भी कोई प्रतियोगिता हो सकती है? नहीं होनी चाहिए। पर जो लोग अकाल और जरूरत के समय मृत्यु को प्राप्त हो गए, उनके प्रति सहानुभूति तो होती है। लेकिन बस सहानुभूति मात्र। लंबे जीवन की कामना में एक लचर और गैरजरूरी जीवन को ढोना एक श्राप ही है। चलते-फिरते हो तब तक जीयो। थक जाओ तो मर जाओ। दीर्घायु या शतायु का मिलना तो अच्छी बात है। इसे कौन नहीं चाहेगा? परंतु उससे भी अच्छी बात है, उत्तम जिंदगी का मिलना। अच्छे माता-पिता, मित्र, संतति, सगे-संबधी, पड़ोसी, परिवेश, स्वास्थ्य और कार्यस्थल के सहयोगी हमें वास्तविक और उत्तम जिंदगी प्रदान करते हैं। ऐसी जिंदगी में आपका अनायास ठहर जाना और अदृश्य हो जाना बहुत ही दुखदायक होता है। भाई, आप लाख जिये पर खाक जिये का क्या मतलब?

आज मेरा पचास के पड़ाव तक पहुँचना भी बड़ी बात है। कल से इक्यावन का प्रारंभ। यह कोई आसान सफर तो नहीं था या आप ऐसा भी कह सकते हैं कि मैंने आसान सफर चुना भी नहीं। जिंदगी को आसान और खुशहाल बनाने के लिए मैंने अपने जीवन में कोई समझौते नहीं किए या कम से कम किए। अपना काम निकालने के लिए मैंने लोगों से झूठा प्यार नहीं किया। चतुराई, धूर्तता और अवसरवादी प्रवृत्ति से काम मैंने कहीं कुछ काम लिया हो या लोगों का उपयोग किया हो, ऐसा मुझे नहीं लगता। जो चीजें तिकड़म करने या उंगली टेढ़ी करने से भी नहीं मिल सकती थी, उनसे अच्छी चीजें मुझे सीधी उंगली से मिल गयी। ऐसा क्यों हुआ? इसका विश्लेषण मुझे एकांत में करना होगा। अब यह कब होगा या होगा कि नहीं होगा, यह मैं नहीं कह सकता।

सबसे बड़ी बात यह है कि पिछले कुछ वर्षों में मैं अपने विचारों एवं अनुभूतियों को प्रकट करने की क्षमता को कुछ-कुछ सही दिशा में विकसित करने में सफल हुआ हूँ। यह भी खोज का विषय है कि कैसे? यह मेरे जीवन के शास्त्रीय विश्लेषण का भाग नहीं है। आप समझ रहे होंगे कि मैं भविष्य में क्या और कैसे लिखने जा रहा हूँ। इस तरह लिखने के लिए आशा है, परमेश्वर मुझे उत्तम स्वास्थ्य और कुछ पर्याप्त संतोषजनक आयु प्रदान करेंगे। लंबी जिंदगी की चाह तो मुझे भी है। हमारी जिंदगी में बहुत-से लोग ऐसे होते हैं, जो हमें प्यार तो करते हैं, पर खुलकर सामने नहीं आते। दूर से प्यार करने वाले लोग हमारे जीवन में कोई उपद्रव नहीं करते। दूर से नफरत करने वाले लोगों से अधिक सावधान रहना जरूरी है।

खैर, बचपन में हमारी गली में लोहे के बिजली के खंभे हुआ करते थे। आज भी हैं। नदियों में पानी भी बहुत हुआ करता था। हमेशा बहती थीं। बावड़ियाँ ठसाठस भरी होती थीं। बाड़े के पिछवाड़े में केले का खेत, गहरी ढासन। हमारे मिट्टी के घर। छत भी मिट्टी की। वहाँ सांप, बिच्छू भी होंगे। कभी-कभी छत से सांप के संपोले भी आ टपकते थे। स्कूल घर से लगभग डेढ़ मील दूर। सड़क से पैदल जाना होता था। मिट्टी के चूल्हे, धुँआ, गोबर से लीपा हुआ घर, ज्वार की रोटी, मूंगफली की चटनी, पापड़ का खुड़ा, सूखा अचार आदि यह हमारे भोजन के मेनू थे। मुझे याद है, बिजली के खंभों में प्रायः हल्का सा करंट रहा करता था। हम बे-अकल उन खंभों को जीभ से छूते थे। क्या? तो मजा आता था। कितनी कुछ चीजें माँ-बाप से छुपकर होती थी। नदी के किनारे एक पानी का टैंकर भंगार में पड़ा हुआ था। उसके टायर गल चुके थे। हम उसके ढक्कनों से अंदर-बाहर होते। कहाँ नहीं हम दौड़ते-भागते-छुपते थे? ऐसा कोई घर न होता था, जिसके अंदर तक धड़ल्ले से हम न पहुँचे हों। कुछ-कुछ धुँधले से चित्र आज भी आँखों के सामने तैरते हैं। दादी को मैंने घर के अंदर मोरी में खुला नहाते हुए देख लिया था। बहुत ही गोरी-चिट्टी थी। जब मरी तो कितनी काली पड़ चुकी थी। मैं समझ ही नहीं पाया था कि यह वही दादी है। नहीं चाहिए ऐसा बुढ़ापा। खेलने के ढंग हमारे निराले। उसमें दौड़ाने की शर्तें होती थी। बाजार से कुछ सामान लाना होता तो मैं अपनी दो पैरों की फटफटी ही भगाता था। अँगूठे और हमारे घुटने सदा घायल रहा करते थे। हर आठ-दस दिन के बाद नाखून उखड़ते थे। लाहौल बिलाकूवत कि इसके आगे किसी ने हमारा कुछ बिगाड़ा हो? न पानी ने, न बिजली ने, न सांप ने और न सड़क ने। आज न जाने कितने डर घेरे रहते हैं। ऐसा लगता है कि कल कुछ अनहोनी न हो जाये? जीना तो पड़ेगा ही न!

❐❐❐

5 जून, 2022

धर्म, आस्था, खान-पान के अंतर्विरोध और भारत

सूक्ष्मता से देखा जाए तो धर्म, धर्म का शत्रु नहीं है। ऐसा होता तो एक धर्म के लोग अपने ही धर्म के लोगों की हत्या नहीं करते और न उन्हें बेघर। वस्तुतः यह मामला परस्पर हित, लाभ, एकाधिकार, अहं, वर्चस्व और विचारधाराओं के दुराग्रह का मामला है। अब प्रश्न यह है कि किसी एक धर्म के लोग दूसरे धर्म के लोगों से घृणा और द्वेष क्यों करते होंगे? यह तब होता है, जब यह कहा जाता है कि केवल हम ही सही और ठीक हैं और दूसरे गलत हैं। हिंदू धर्म में दूसरे धर्म के लोगों के ईश्वर को लेकर कोई अवधारणा स्थिर नहीं की गई है और न ही उपासना को लेकर कोई प्रश्नचिह्न उपस्थित किया गया है। बल्कि इस्लाम में यह कहा गया है कि हिंदू काफिर है। इस्लाम का ध्यान प्रायः दूसरे धर्म के ईश्वर, उनकी आस्था और उपासना पर अधिक केन्द्रित रहता है। दूसरे को गलत कहने का अधिकार उसे है, जो सबसे पहले धरती पर उत्पन्न हुआ हो और सही हो। यानी जिसका अस्तित्व सबसे पहले हो। जिसका अस्तित्व पहले न हो, उसे पूर्व में अस्तित्व की आलोचना का अधिकार नहीं है। और यदि अधिकार है, भी तो वह द्वेषमूलक नहीं होना चाहिए। वह तार्किक, वैज्ञानिक और मानवीय धरातल पर ही स्वीकार किया जा सकता है।

अब देखिए कि मैं हिंदू हूँ तो हिंदू संस्कृति, आस्था और परंपराओं से द्वेष क्यों करूँ? मैं इसी में पैदा हुआ और रचा-बसा हूँ। यदि मैं अपने ही धर्म से द्वेष करूँगा तो इससे मुझे क्या लाभ होगा? कुछ लोग स्वकीयों द्वारा सताए जाने के कारण धर्म का त्याग करते हैं। यह उनका निर्णय है, पर जब उन्होंने निर्णय कर ही लिया तो पूर्व धर्म की निंदा न करें। प्रश्न यह है कि यदि मैं अपने स्वकीयों से सताया भी गया हूँ तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं अपनी जड़ से कट जाऊँ। जड़ के बिना तो मेरा अस्तित्व ही नहीं है, तो मैं किसी दूसरे की जड़ का आधार क्यों लूँ? और इसकी क्या गारंटी है कि नए धर्म में मुझसे अच्छा व्यवहार किया जाएगा ही।

अच्छा, यदि अपने ही धर्म के लोग मुझे सताएँ, मेरा तिरस्कार करें, मुझसे संबंध न रखें तो क्या होगा? हिन्दू धर्म में कमियाँ तो हैं, पर हिंदू उतना हिंसक नहीं है, जितने और धर्म के लोग हैं। हिंदुओं की हिंसा मानसिक, सामाजिक और बौद्धिक हो सकती है, पर शारीरिक नहीं है। हिन्दू इतनी नफरत नहीं कर सकता कि जान ले ले। व्यक्तिगत द्वेष के मामले में हिंसा हो सकती है। पर केवल आस्था या विचारों से सहमत न होने पर हत्या कर देना, यह हिंदुओं के व्यवहार में नहीं है। अस्पृश्यता का संबंध खान-पान से है। न कि ईश्वरीय आस्था से। हिंदू मांसाहारी भी हैं और शाकाहारी भी। हिंदुओं में मांसाहार का प्रचलन मध्ययुग में अधिक बढ़ा है। आज भी मुस्लिमों की संख्या जिस स्थान पर अधिक है, वहीं सबसे अधिक हिंदू मांसाहारी मिलेंगे। वास्तव में अहिंसा और शाकाहार यह हिन्दू सनातन परंपरा में विश्वास करने वाला ही एक वर्ग है। मनुष्य जाति में मांसाहार का प्रचलन आदिम काल से है। भारत में अधिकतम आदिवासी समुदाय मांसाहारी हैं। तो क्या वह हिन्दू नहीं हैं? बिलकुल हैं। किसी भी जाति या धर्म में उग्र स्वभाव, मेहनती एवं श्रमिक वर्ग में मांसाहार एक सामान्य बात है। कुछ हिन्दू मांसाहारी हैं, इसमें आपत्तिजनक कुछ भी नहीं है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी मांसाहारी रहे हैं, उसे आप क्या कहेंगे?

हिंदू देवी-देवताओं के विषय में आजकल कई लोग अभद्र और असभ्य भाषा का प्रयोग करते हैं, परंतु उन्हें अपनी आस्थाओं के प्रति यह व्यवहार मान्य नहीं है। यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। ऐसा क्यों हो रहा है, यह समझना होगा। मेरे क्षेत्र में ही कुछ हिंदी के प्रोफेसर हैं, जो अनायास मित्रता अनुरोध के कारण मुझसे जुड़े। पर जब मैंने उनकी नित्य आने वाली हिंदू देवी-देवताओं की निन्दाजनक पोस्टों को पढ़ा और उनका लिखकर विरोध किया तो वे मेरे शत्रु बन गए। पता नहीं उन्हें ऐसा क्यों लगता है कि हिंदुओं ने उन पर अत्याचार किया? आज भी कई ऐसे हिन्दू हैं, जो अत्यंत दरिद्र अवस्था में जीवन जी रहे हैं, पर कभी उन्होंने भेदभाव की शिकायत नहीं की। पर कुछ ही लोगों को ऐसा क्यों लगता है कि वे भेदभाव और अस्पृश्यता के शिकार हैं। मुसलमानों के घर पर शायद ही कोई हिंदू पानी पीता हो पर मुसलमान को कभी यह नहीं लगा कि उससे हिन्दू भेदभाव करता है और उसे अस्पृश्य समझता है।

❐❐❐

6 जून, 2022

क्या अभिव्यक्ति जैसा कुछ नहीं बचा है, हमारे पास?

मेरी लाइब्रेरी की कई पुस्तकें ऐसी हैं, जिन्हें मैं अब तक ठीक ढंग से नहीं पढ़ सका हूँ। जिन्हें कभी आठ-दस साल पढ़ा था और अब पढ़ता हूँ तो कुछ नई उपलब्धि होती है। ऐसे ही आज प्रातः जब मैं अपने पुस्तकों के शेल्फ का निरीक्षण कर रहा था, तो एक पुस्तक पर दृष्टि गयी। महात्रया रा की 'स्पष्टता ही शक्ति है।' (क्लैरिटी इज पावर) इस मूल अंग्रेजी पुस्तक का हिंदी अनुवाद रचना भोला 'यामिनी' ने किया है और मंजुल प्रकाशन से सन् 2016 की यह प्रकाशित है। मैं इस पुस्तक के मूल लेखक से अधिक परिचित नहीं हूँ। कुछ बातें जो अच्छी लगी केवल उन पर भाष्य करना ही मुझे अभिप्रेत है। पुस्तक के कुछ बुलेट प्वाइंट इस प्रकार हैं-

(1) अगर आपके मन में यह विचार जड़ें जमा चुका है, ''हर स्थान पर केवल पैसा या सिफारिश के बल पर ही नौकरी मिलती है'' तो निश्चित रूप से आप ऐसे ही संगठनों में पहुँचेंगे, जहाँ यह सब होता है और आपको अन्य संस्थाएँ दिखाई ही नहीं देंगी, जहाँ प्रतिभा का आदर होता है। हमारे भीतर जो भी घटित हो रहा होता है, हम उसे ही बाहर देख पाते हैं।

(2) जब आउटलुक अच्छा न हो तो हमेशा अप-लुक के लिए कोशिश करनी चाहिए।

(3) हमारी पीढ़ी वास्तव में बहुत खुलकर स्वयं को अभिव्यक्त करने वालों में से नहीं है। हमारा प्राथमिक संबंध तकनीक के साथ है। यहाँ तक कि व्यक्तियों के साथ हमारे सबंध भी तकनीक के माध्यम से ही तय हो रहे हैं। यही कारण है कि हमारे पास अभिव्यक्ति के लिए कुछ नहीं रहा। तकनीक की मदद से स्माइली बना सकते हैं, एल०ओ०एल० लिखकर जता सकते हैं, कि आपको आनंद आया। परंतु क्या आपके पास एस०एम०एस० और ई-हग्स से स्पर्श की ऊष्मा मिल सकती है? ...एक पीढ़ी के रूप में हम अपनी भावनाओं को व्यक्त करने की योग्यता खो रहे हैं। यही कारण है कि हमें निजी रूप से पत्र लिखने नहीं आते और हम स्वयं को प्रकट करने के लिए ग्रीटिंग कार्ड उद्योग की मदद लेते हैं।

(4) जब आप आत्मविश्लेषण के माध्यम से अपने ही अध्ययन का विषय बन जाते हैं, तो अपनी ही परख, अपने ही निरीक्षण तथा जागरुकता के बल पर अपने अस्तित्व के विषय को बदल सकते हैं। आत्मनिरीक्षण आपके ज्ञान और अनुभव के बीच एक सेतु बनाने का कार्य करता है।

(5) एक सबल चरित्र का स्वामी वह व्यक्ति है, जो अपना जीवन बिना किसी दरार के, अखंड भाव में जीता है। उसके पास छिपाने को कुछ नहीं है। वह ऐसा कोई काम नहीं करता कि उसे दूसरों से छिपाने की नौबत आए। वह उन लोगों में से नहीं जिन्हें यह सोचना पड़ता है, ''कहीं वे पकड़े तो नहीं जाएँगे? वह उन व्यक्तियों में से है, जो किसी भी काम को करने से पहले, यह सोचते हैं कि यह काम करना उचित है या अनुचित?'' ...जो जीवन किसी विभाजन के बिना जिया जाता है, वह एक आजीवन लंबी प्यास है।

(6) किसी से प्यार न करने की बजाय, किसी के प्यार में पड़कर, धोखा खाना कहीं बेहतर होगा। किसी के साथ धोखा करने से बेहतर होगा कि हम स्वयं ही धोखा खा लें। किसी के साथ बुरा करने से बेहतर होगा, कोई हमारे साथ ही बुरा कर ले। बीता हुए कल, एक आने वाले बेहतर कल को गढ़ता है, क्योंकि आप उन अनुभवों से परिपक्वता पाते हैं। जब अच्छे लोगों के साथ बुरी बातें घटती हैं, तो वे और भी बेहतर हो जाते हैं।

ऐसी बहुत-सी बातें जो इस पुस्तक की ओर आकर्षित करती हैं, वहीं एक नई दृष्टि भी प्रदान करती हैं। ऐसा लिखना भी चाहिए और उसे समझ या अमल में आना भी जरूरी है। यह सच है कि हम अपने जीवन के अनेक स्तरों पर मूल में एक खंडित और आधा-अधूरा जीवन ही जी रहे हैं। आधे-अधूरे कार्य कर रहे हैं और अधिक से अधिक भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति को ही अपना अंतिम लक्ष्य मान चुके हैं। बड़े-बड़े काम करने, पुस्तकें लिखने, सफलताएँ एवं सम्मान अर्जित करने के उपरांत भी हमें अपने बीच में रिक्तता का ही अनुभव होता है। मृत्यु के अंतिम क्षण पर भी हम कहीं अटके ही होते हैं। 90 वर्ष की उम्र और संवेदनाएँ क्षीण होने पर भी जब प्राण नहीं निकले तो सोने के कुछ गहने बनाकर पहनाए गए, तो तीन दिन में देह से मुक्ति मिल गयी। रोते हुए मृत्यु हो रही है। आँखों से निरंतर आँसू झर रहे हैं। पूछा कि क्यों रो रहे हैं? तो बताया कि तुम सभी को छोड़ जाने को मन नहीं कर रहा। जाना तो पड़ेगा ही।

देखिए, आपको जीवन और मृत्यु दोनों स्थानों पर स्पष्ट होना पड़ेगा। एकदम क्लियर! कैसे? जैसे हैं, वैसे रहो। हम क्लियर ही नहीं हो पाते। लेखकों के बारे में कहूँ तो लिखना हो तो क्लियर लिखो। तुम भी मत उलझो और हमें भी मत उलझाओ। क्लियर होने का मतलब बोल्ड या नंगा होना नहीं है, स्पष्ट होना है। स्पष्ट होना यानी पेंट निकालना नहीं। पोर्न होना नहीं है। विकृतियों का महिमामंडन करना नहीं है। आजकल साहित्य में कुछ ऐसी चीजें आ रही हैं, जो हमारे वास्तविक जीवन का भाग नहीं है और यदि है भी तो बहुत ही कम महत्वपूर्ण है।

❐❐❐

8 जून, 2022

धार्मिक आस्था की निरंकुशता, आक्रामकता, असहिष्णुता एवं संकीर्णता

आज पूरी दुनिया आधुनिकता के अब तक के उच्चतम चरण पर है। आर्थिक उदारीकरण के फलस्वरूप सारा विश्व एक ग्लोबल विलेज की अवधारणा के निकट है। परंतु यह तब तक केवल एक सपना है, जब तक सांस्कृतिक और धार्मिक उदारीकरण का दौर शुरू नहीं होता। सांस्कृतिक एवं धार्मिक उदारीकरण की इस प्रक्रिया में भी एक पेंच है और वह है, अपनी धार्मिक एवं सांस्कृतिक विशिष्टता को बचाये रखने का। अपने धर्म के अस्तित्व की सुरक्षा का। हर कोई इस मामले में काफी सतर्क है। इस प्रसंग में एक-दूसरे को नीचा दिखाने या निंदा करने की प्रवृत्ति भी हजारों सालों से सक्रिय रही है।

हिन्दू धर्म वैसे भी कभी किसी अन्य धर्म की आस्थाओं एवं मान्यताओं का निंदक या विरोधी नहीं रहा है। उसकी कोई भी प्राचीन धार्मिक पुस्तक किसी अन्य धर्म की मान्यताओं के विरोध में नहीं लिखी गयी है और न ही वह हिंदू धर्म की प्रचारक है। ऐसा भी है कि हिंदू धर्म में अपनी ही कुछ मान्यताओं या आस्थाओं पर पुनर्विचार या सुतार्किक व्याख्या से युक्त पुस्तकें मिलती हैं। भगवद्गीता एवं श्रीकृष्ण भगवान को हिंदू धर्म की प्रतिनिधि पुस्तक या देवता के रूप में पेश करने की प्रवृत्ति पिछली कुछ सदियों में तेज हुई है और वह भी अन्य धर्मों की देखा-देखी। हिंदू धर्म अपनी मान्यताओं, आस्थाओं के स्तर पर प्रारंभ से बहुत विशाल रहा है। यह वटवृक्ष की भाँति अनेक जड़ों और शाखों से निर्मित है। हिंदू धर्म सोच-समझकर बना या बनाया हुआ धर्म नहीं है। अतः हिंदू धर्म के किसी भी व्यक्ति को किसी अन्य धर्म की आस्थाओं या मान्यताओं पर कोई टिप्पणी नहीं करनी चाहिए, भले ही दूसरे धर्म के लोग हिन्दू देवी-देवताओं या मान्यताओं की कितनी भी निंदा करें। हिंदू धर्म में मूर्ति-पूजा को अनन्य स्थान प्राप्त है। कुछ लोग इसकी भी निरर्थकता पर भाष्य करते हैं। करेंगे और करते रहेंगे, फिर भी वे इसका कोई बेहतर विकल्प देने में सफल नहीं हुए हैं। निंदा, बुराई या विरोध करना सरल है, पर विकल्प देना अधिक कठिन है। देखिए, माता-पिता का कोई विकल्प नहीं होता। जो जिस स्थान से उत्पन्न हुआ है, वह निश्चित ही उस स्थान के प्रति श्रद्धावान होगा, लेकिन उसे दूसरे के उत्पत्ति स्थान के प्रति भी श्रद्धावनत

होना होगा। मुझे दूसरे के माता-पिता का भी आदर करना होगा। आप अपनों के प्रति कितनी भी घृणा रखो, दूसरे के प्रति नहीं रखनी होगी।

धर्मों को अपने-अपने विशिष्टताबोध से भी जल्द ही मुक्त होने का समय आ गया है। हम हमारे आज के अबोध बच्चों या नवागत पीढ़ी को यह कौन-सी दुनिया सौंपकर जा रहे हैं? यह सभी को समझ लेना चाहिए। दूसरों को छोटा या हीन बताकर उन्हें अपने अधीन करने से आप स्वयं एक नए संकट को उत्पन्न करेंगे। किसी धर्म के साथ-साथ उसके प्रतीकों को भी नष्ट या आहत करने की प्रवृत्ति संसार में अशांति का कारण रही है। हिंदू धर्म में पशुओं, पक्षियों एवं वनस्पतियों को भी पूजनीय माना जाता है। अब यह पशु-पक्षी, वनस्पतियाँ दूसरे किसी अन्य धर्म के लिए क्यों अनादर या घृणा का कारण बन जाते हैं? समझ में नहीं आता। हिंदू धर्म में आज भी ऐसे करोड़ों दरिद्र और गरीब लोग मिलेंगे, जिन्हें हिंदू बने रहने में ही सर्वाधिक सुरक्षा एवं खुशी का अनुभव होता है। भिक्षुक जैसी संज्ञा प्राचीन काल से हिंदू धर्म का एक विशिष्ट एवं अभिन्न अंग रही है। कमाल की सरलता, विनम्रता एवं परदुःखकातरता की अवधारणा का अंतर्भाव इसमें मिलता है।

ऐसा नहीं है कि हिंदू धर्म में सबकुछ स्वस्थ एवं सामान्य है। उसमें भी कई ऐसी दुर्बलताएँ या कमियाँ हैं, जो उसे नित्य आहत करती रहती हैं या कटघरे में खड़ा करती हैं। वर्णभेद या जातिभेद को लेकर यह धर्म प्रायः विवाद के केन्द्र में रहा है। यह एक ऐसा भीषण रोग है, जिससे हिंदू धर्म को निकट भविष्य में मुक्ति मिलना असंभव प्रतीत होता है। दूसरे धर्म में क्या कमियाँ हैं या वे कैसे पिछड़े हैं, यह देखने का काम हिंदुओं को नहीं करना है। वे अपना देखेंगे। हिंदू धर्म में जो कुछ श्रेष्ठतम है, वह अन्य धर्मों में भी न्यूनाधिक प्रमाण में उपलब्ध है। केवल हिंदू धर्म को अपने श्रेष्ठतम की प्रतीती होना आवश्यक है और इसकी परम उपलब्धि की ओर बढ़ना है। देखिए, जिसमें जितना श्रेष्ठतम अधिक है, उसके समक्ष चुनौतियाँ भी अधिक होती हैं। जितने आप स्वच्छ होंगे, उतने ही आपको लगे हुए दाग भी स्पष्ट होंगे। हम कहते हैं कि कपड़े सफेद पहनो यानी यदि वे मैले होंगे तो जल्दी पता चलेंगे। हिंदू धर्म जब अंदर से भी स्वस्थ, स्वच्छ और सुदृढ़ होगा, तो कोई उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। हिंदुओं को अपने देवी-देवताओं के विषय में भी अधिक भावुक नहीं होना चाहिए। उसके जो प्रतीक या चित्र हैं, वे भी काल्पनिक हैं। ईश्वर को आजतक किसी ने नहीं देखा है। अतः

ईश्वर के किसी भी प्रतीक या चित्र की निंदा करने से मूल ईश्वर पर कोई परिणाम नहीं होता। ईश्वर की निंदा हो ही नहीं सकती। कोई नहीं कर सकता। किसी के बस की बात ही नहीं है। ईश्वर अलग-अलग हो ही नहीं सकता। देखिए, सूर्य, चंद्र, आकाश, तारे, जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु का कोई विकल्प नहीं है, वैसे ईश्वर का भी कोई विकल्प नहीं है। हमें अपने जीवन के साथ-साथ सत्य, न्याय, सदाचार, प्रामाणिकता की प्रबलतम अनुभूति कराने में सहायक सभी तत्वों का समन्वय ही ईश्वर है। वास्तव में मनुष्य ही ईश्वर बन सकता है, यह धारणा रखना ही गलत है। मनुष्य ने जब से परमेश्वर होने का प्रयास किया है, तब से विश्व में धार्मिक असंतुलन बढ़ा है। मनुष्य का श्रेष्ठतम रूप यानी ईश्वर नहीं है, बल्कि ईश्वर का जो श्रेष्ठतम है, उसकी प्राप्ति होना ही मनुष्य होना है। यह आजतक किसी मनुष्य के लिए संभव नहीं हुआ है। इसलिए जब मनुष्य ईश्वर होने या ईश्वर को प्राप्त करने की बात करता है, तब वह सभी को धोखा दे रहा होता है। ईश्वर वास्तव में एक आध्यात्मिक अवधारणा है, न कि धार्मिक। धर्म स्थूल होता है और अध्यात्म सूक्ष्म। अतः आप न ईश्वर का सम्मान कर सकते हैं और न अपमान। आप सूक्ष्म का कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। भाई जो ईश्वर होता है, न, वह निंदा, द्वेष के परे होता है। जिस ईश्वर के कारण मनुष्य जातियाँ एक-दूसरे से परस्पर भिन्न प्रतीत होती हैं, वह ईश्वर स्थूल राजनीतिक है, धार्मिक नहीं। ऐसे ईश्वर के बल पर मानव समूहों को भ्रमित किया जाता है। यदि सम्पूर्ण विश्व का कोई एक धर्म भी हो तो भी लोग आपस में लड़ेंगे। एक-दूसरे को मारेंगे, काटेंगे। फिर आप क्या नए धर्म और ईश्वर का सृजन करेंगे? ऐसा ही हुआ है, आज तक। बार-बार ईश्वर को लेकर नए-नए प्रयोग किए गए, पर कुछ विशेष साध्य नहीं हुआ। आगे भी नहीं होगा।

जब निंदा होती है, तो सुधार या परिमार्जन का दबाव बढ़ता है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। सज्जन लोग निंदा से विचलित नहीं होते। अब जरूरत इस बात की है कि प्रत्येक धर्म दूसरे धर्म की अच्छाइयों और सुंदरता को अपने धर्म के लोगों को बताए। मैंने एक इस्लामिक चैनल पर एक धर्मगुरू को रामायण की अच्छाइयाँ बताते हुए सुना। बुराइयाँ या दोष सभी धर्मों में हैं, पर जब हम दूसरों की बुराइयाँ बतायेंगे, तो अपनी भी बताना जरूरी है। अपनी कमियाँ और दोष पहले देखें और फिर बाद में दूसरों के। संभव हो तो जहाँ जितनी भी अच्छाइयाँ हैं, उन्हें स्वीकार करने का प्रयत्न करें। प्रश्न यह उठता है कि हमें दूसरे धर्मों

की आस्थाओं, कथाओं, ग्रंथों, मान्यताओं और प्रतीकों की निंदा करने की आखिर आदत क्यों पड़ी है? माता और बहन को लेकर जितनी गालियों का सृजन हुआ है, उतना मित्रों और पड़ोसियों को लेकर नहीं हुआ। क्यों? हम चाहते हैं कि किसी के अपनों को जितनी गालियाँ दी जाएँ या निंदा की जाए, उतनी उसे अधिक पीड़ा पहुँचाई जा सकती है। उसी प्रकार धार्मिक आस्थाओं एवं प्रतीकों को लेकर अपमान करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। अपने धर्म से हर कोई प्यार करता है। जो जितना हीन भावना से ग्रस्त होगा, वह उतनी ही निंदा करेगा। जिन्हें छोटी-छोटी बातों पर अपने अपमान की अनुभूति होती है, वे अभी अपरिपक्व स्थिति में हैं, ऐसा कहा जा सकता है। हिंदू धर्म में ईश्वर के विषय में आस्तिक और नास्तिक दो दृष्टियाँ प्राचीन काल से विद्यमान हैं और यह दोनों दृष्टियाँ हिंदू दर्शन का ही भाग हैं। ईश्वर को अजर, अमर, अनिर्वचनीय मानने की एक विशेष विचारधारा भी हिंदू धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है।

❐❐❐

11 जून, 2022

मेरा पुराना विद्यालय, मैं और मेरे बच्चे

एक सप्ताह पूर्व मेरा गाँव जाना हुआ। दोपहर में एक मित्र ने सपरिवार भोजन पर बुलाया था। भोजन के बाद घर लौटते हुए मेरा प्राथमिक विद्यालय बीच में ही पड़ता था। इच्छा तो मेरी अंदर जाने की थी, पर संभवतः छुट्टियों के कारण विद्यालय बंद था। बाहरी द्वार पर ही मैं ठिठक गया। मेरा छोटा बच्चा बंद द्वार के सामने खड़ा हो गया तो मैंने आनन-फानन में दो तस्वीरें खींच ली। 1 जनवरी, 1864 को स्थापित इस विद्यालय में पढ़ने का किसे गर्व नहीं होगा? तब इसका नाम सिर्फ 'मराठी मुलांची शाळा' हुआ करता था। इस विद्यालय में सिर्फ लड़के ही पढ़ते थे। लड़कियों के लिए अलग विद्यालय हुआ करता था। उसे 'मराठी मुलींची शाळा' कहा जाता था। यानी लड़के और लड़कियाँ एक साथ नहीं पढ़ते थे। एक साथ पढ़ने का प्रचलन हाईस्कूल से शुरू होता था। विद्यालय का लोहे का वह प्रवेश द्वार मुझे परिचित जैसा ही लगा। उसमें कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ था। द्वार के दोनों ओर जो चौड़े कॉलम बने थे, उस पर लड़कों के दोनों ओर दो लंबे कद के चित्र हुआ करते थे। अब केवल दांए वाले कॉलम पर ही वह चित्र कुछ अस्पष्ट दिखाई देता है। उसमें भी लड़के का सिर गायब है। बीच वाली आयताकार पत्थरों की दीवार वाली जो इमारत दिख रही है, वह कार्यालय हुआ करता था। उस पर खप्पर की छत होती थी। अब वह टीन की छत में बदल गयी है। घर से विद्यालय पैदल ही जाना होता था। यूनिफार्म, जूते, किताबों आदि का कोई विशेष खर्चीला तामझाम नहीं होता था। सबकुछ सरल और सस्ता। यह केवल दो ही प्रकार और एक ही कैटेगरी के सरकारी विद्यालय थे। निजी विद्यालय जैसी कोई समांतर व्यवस्था तब नहीं थी। अतः अमीर-गरीब, दलितों-सवर्णों, किसानों, मजदूरों, जागीरदारों, व्यापारियों और राजनेताओं के बच्चे एक साथ पढ़ते थे। आर्थिक असमानता होते हुए भी स्कूल में हम सभी समान थे। मुझे आज भी अपनी इस स्कूल से कोई शिकायत नहीं है। बस इतना ही दुःख है कि इस विद्यालय में अब केवल गरीब वर्ग के ही बच्चे पढ़ते होंगे, जो प्राइवेट विद्यालयों का शुल्क देने में असमर्थ हैं। आर्थिक असमानता को लेकर उत्पन्न यह भेदभावजनक शिक्षाव्यवस्था मुझे निश्चित ही दुःख पहुँचाती है। क्यों? यह मैं समझ

नहीं पा रहा हूँ। मेरे बच्चों ने मुझे आज पुस्तकों की सूची दी। चौथे वर्ग की पुस्तकें साढ़े चार हजार की और आठवें वर्ग की साढ़े तीन हजार की। निश्चित ही यह बहुत भारी खर्चा तो है, पर मुझे आशंका है कि यह सब पुस्तकें पढ़ाई जायेंगी तो कैसे?

बचपन के इन विद्यालयों की आज की बाहरी अवस्था देखकर खिन्नता की अनुभूति होती है। इन सरकारी स्कूलों ने किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं था, बल्कि हम सभी पर एक प्रकार से उपकार ही किया था। नहीं तो हम पढ़ने कहाँ जाते? ऐसा नहीं है कि इन स्कूलों का अध्ययन और अध्यापक स्तरीय या गुणवत्तापूर्ण नहीं है। निजी स्कूलों की अपेक्षा इन स्कूलों के अध्यापकों को अच्छा और सम्मानजनक वेतन मिलता है। वे सरकारी अध्यापक हैं। मेरे समय के अध्यापक भी सरकारी वेतनभोगी ही थे और ज्यादातर कुर्ता-पाजामा या धोती में ही होते थे। केवल अंग्रेजी का अध्यापक पैंट-शर्ट पहनकर आता था। मुझे जिन कुछ अध्यापकों के नाम और उनकी छवि याद हैं, उनमें पठान गुरूजी, भोले गुरूजी, शाकु पाटिल गुरूजी, ढाके गुरूजी, वायकोले गुरूजी उल्लेखनीय हैं। यह विद्यालय केवल चौथी कक्षा तक था। इसके बाद हमें गाँव से डेढ़ मिल दूर न्यू इंग्लिश स्कूल में जाना था, जो कि इंग्लिश मीडियम नहीं था। परंतु पाँचवी कक्षा से एक मुख्य विषय के रूप में अंग्रेजी पढ़ना अनिवार्य था। हम इंग्लिश स्कूल के नाम से ही डरते थे। पता नहीं क्यों इंग्लिश भाषा के प्रति बचपन से ही हमारे मन में यह भय उत्पन्न कर दिया गया था। बचपन से ही हमें कुछ चीजों के प्रति श्रेष्ठता के भाव की प्रतीति करा दी जाती थी और परिणाम यह होता था कि हम उन चीजों को श्रेष्ठ मानकर फिर उससे भयभीत रहते थे। यह अनुभूति हमें अपनी चीजों के प्रति न करायी जाती थी और न होती थी।

वर्तमान में भी मेरे इन प्यारे विद्यालयों की स्थिति निराशाजनक और दयनीय ही है। क्यों नहीं इन विद्यालयों के प्रति हमारे मन में उच्चता का भाव उत्पन्न नहीं होता? क्यों इन स्कूलों के कमरे हमें झुग्गियों की तरह लगते हैं? उस समय यह विद्यालय हमारे तत्कालीन घरों से अच्छे और पक्के होते थे। खप्पर की दोनों ओर नीची झुकी छत एक सरकारी मॉडल था, जो सभी को आकर्षित करता था। सरकारी कचहरियाँ भी ऐसी ही होती थीं। सबकुछ जैसे एक समान प्रतीत होता था। आज ऐसा नहीं है। लगता है, हमने शिक्षा के व्यापार के चक्कर में इन स्कूलों को सुधारने पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। सरकार आजकल बड़ी-बड़ी

और चौड़ी कंक्रीट की सड़कें बना रही है, पर इन विद्यालयों में बच्चों को बैठने के लिए न अच्छे बेंच हैं और न फर्श। चुनाव के समय जब गाँव-देहातों में मेरी ड्यूटी लगी थी, तो मैंने देखा था कि इन स्कूलों में ठीक से टॉयलेट नहीं है और यदि है, तो वह गंदा और चोक-अप है। ऐसा क्यों है? समझ में नहीं आता। संभवतः हम जानबूझकर इन्हें ऐसा ही रखना चाहते हैं कि निजी स्कूलों का धंधा चमक उठे। यह अब सब बड़े पैमाने पर हो चुका है। धीरे-धीरे इन स्कूलों को बंद करने का समय लाया जाएगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

आज हमारे देश में अध्यापक या मास्टर जी की वैसी इज्जत नहीं होती, जो तब हुआ करती थी। कथा-कहानियों, उपन्यासों, फिल्मों और धारावाहिकों में जिस प्रकार के मास्टर जी या सर का चित्रण होता है, वह यथार्थपरक नहीं है। तब अचानक से मास्टर जी घर पहुँच जाया करते थे और बच्चों के घरेलू हालातों से भी भली भाँति परिचित होते थे और संवेदनात्मक स्तर पर जुड़े होते थे। आर्थिक रूप से वे भी कमजोर थे और ठीक उन समस्याओं से प्रभावित होते थे, जिनसे आम आदमी भी ग्रस्त होता था। देश को स्वतंत्र हुए सिर्फ 20-25 साल हुए थे। अध्यापक की नौकरी आज की तरह घूस लेकर या रिश्वत देकर नहीं मिलती थी। तब वही अध्यापक बनना चाहता था, जिसे अध्ययन-अध्यापन में रुचि और निष्ठा थी। 90 के दशक के बाद पाँचवा वेतन आयोग आया और अध्यापकों के वेतन में जबरदस्त सुधार हुआ। बढ़े हुए वेतन को देखकर ऐसे भी लोग इस क्षेत्र में आये, जो पढ़े-लिखे तो थे, पर उनकी ज्ञानार्जन में कोई विशेष पैंठ नहीं थी। आज इसी तरह के लोगों ने सरकारी शिक्षा के आंतरिक ढांचे को बिगाड़ा है। बाहरी ढांचा तो वैसा ही रहा जो 40 साल पहले था। बाहर से तो कोई सुधार नहीं हुआ, परंतु अंदर से जो सुधारा हुआ था, वह दिन-प्रतिदिन बिगड़ता ही गया। सरकार को आजकल मिलिट्री से अधिक शिक्षा व्यवस्था को उन्नत बनाने की आवश्यकता है। उद्योगों में निजीकरण एक प्रकार से स्वीकार किया जा सकता है, पर शिक्षा, स्वास्थ्य ऐसे दो मुख्य क्षेत्र हैं, जिन्हें निजीकरण से बचाना होगा। इन दोनों क्षेत्रों का स्तर अंतरराष्ट्रीय मानकों के अनुकूल बनाना होगा कि आम ही नहीं खास वर्ग भी इनके प्रति आकर्षित हो।

मैंने और एक बात पर गौर किया कि तब के अधिकांश विद्यालयों के नाम किसी विशेष व्यक्ति के नाम पर नहीं हुआ करते थे। वे एक तो स्थान वाचक एवं व्यक्ति निरपेक्ष या जाति निरपेक्ष हुआ करते थे। पिछले 2-3 दशकों में यह प्रवृत्ति

बढ़ी है। अपने माता, पिता, दादा, दादी और यहाँ तक कि अपने खुद के नामों को देने का प्रचलन बढ़ा है। लोगों की आत्म-प्रचार एवं आत्म-प्रतिष्ठा के प्रचार में अधिक रुचि दिखाई देती है। वे अपनी किसी सल्तनत या साम्राज्य की तरह विद्यालयों एवं कॉलेजों को खोल रहे हैं। कुछ लोग इनके लिए शिक्षा माफिया शब्द का प्रयोग करते हैं। हो सकता है, यह सही भी हो पर मेरे समय में शिक्षा माफिया नहीं था। मैंने दूसरी ओर अभिभावकों की मानसिकता का भी अध्ययन किया। वे शिक्षा को अपनी जीवनशैली का एक अंग मानने लगे हैं। बाहर से सुंदर, ऊँचे, कांच लगे और होटलों की तरह दिखने वाले स्कूलों में बच्चों को पढ़ाने में उन्हें गौरव की अनुभूति होती है। मुझे याद है, जब मैं और मेरे भाई-बहन गाँव में पढ़ते थे, तब हमारे एक नजदीकी परिजन जो नासिक में रहते थे, के बच्चे पब्लिक स्कूल में पढ़ते थे और वह भी अंग्रेजी मीडियम में। वे जब गाँव आते तो अपने बच्चों की बड़ी प्रशंसा करते और हमें लगभग गँवार और पिछड़ा समझते थे। उनके वे बच्चे साधारण डिप्लोमा से आगे कुछ नहीं कर सके। हालाँकि पैसे तो वे भी कमा रहे हैं और मैं भी। पर उनके उस विद्यालय का उनके जीवन निर्माण में कोई विशेष योगदान था, ऐसा मुझे नहीं लगता और ऐसा भी नहीं है कि जिस विद्यालय में मैं पढ़ा उसकी भी मुझे बनाने में विशेष भूमिका रही हो। देखिए स्कूल और कॉलेज की शिक्षा तो मात्र एक औपचारिक शिक्षा मात्र है। अतः केवल स्टेटस के लिए ऐसे विद्यालयों में पढ़ना या न पढ़ना जैसी स्थिति को ही पैदा न होने दिया जाए, ऐसा कदम सरकार क्यों नहीं उठाती?

❐❐❐

12 जुलाई, 2022

अच्छी शिक्षा और शिक्षक की अवधारणा

आज जब मैं अपने महाविद्यालय में ग्यारहवीं विज्ञान के प्रवेश की वरीयता सूची का अवलोकन करने गया तो देखा कि उसकी कट ऑफ लिस्ट लगभग 89% के निकट है, फिर मैं उस सूची को देखकर अपने कार्यस्थल पर लौट आया और देखने लगा कि अनेक अभिभावक अपने बच्चों के विज्ञान में प्रवेश को लेकर कितने चिंतित हैं, जो मेरिट सूची में नहीं आये। यह चिंता क्यों? क्या अपने बच्चों को डॉक्टर और इंजीनियर बनाना ही एकमात्र विकल्प है? क्या वही उत्तम भविष्य है और बाकी जगह सब अंधकार? हमारे देश का शिक्षा को लेकर दृष्टिकोण कितना संकीर्ण होता जा रहा है, इसका यह गंभीर उदाहरण है। बच्चों की शिक्षा को लेकर अभिभावकों में जो यह चिंता व्याप्त है, उसका आधार समझ में नहीं आता? कितना भयग्रस्त वातावरण हो गया है, सेकेंडरी शिक्षा का। मैंने जब इसके मनोवैज्ञानिक कारणों की पड़ताल की, तो सर्वप्रथम यह समझ में आया कि विज्ञान की शिक्षा को लेकर लोगों में एक विशेष प्रकार का प्रतिष्ठा बोध व्याप्त है। विज्ञान में शिक्षा को लेकर उनमें एक विशेष प्रकार का श्रेष्ठता बोध उत्पन्न हो जाता है और इसके बाद मानविकी या अन्य अनुशासनों को वे हीनता की दृष्टि से देखने लगते हैं। मैंने यह अनुभव किया कि अपने बच्चों के साइंस में प्रवेश को लेकर अनेक अभिभावक मनोवैज्ञानिक दबाव में होते हैं। यह अत्यंत भयावह एवं गंभीर समस्या बन चुकी है।

मैं मेरे कई मित्रों को अपने बच्चों के जीवन को लेकर अभी से कुछ चुनौतियों का सामना करते देख रहा हूँ। उन्हें ऐसा लगता है कि यदि उनका बच्चा एम०बी०बी०एस० या आई०आई०टी० या अन्य किसी उच्च शिक्षा संस्थान में प्रवेश पाने में सफल नहीं हो सका, तो उसका जीवन नरक है। वे इसके लिए कुछ भी करने को तैयार हैं। मेरे एक होमियोपैथ डॉक्टर मित्र अपनी प्रैक्टिस को छोड़कर अपने इकलौते पुत्र के साथ कोटा में रहने चले गये और उसका एम०बी०बी०एस० में एडमीशन करके ही आश्वस्त हुए। अभी-अभी शाम में मेरी पत्नी भी मुझे बच्चों को लेकर इसी चिंता से ग्रस्त अनुभव हुई। कल उसकी अपनी किसी सहेली से बात हो रही थी। सहेली ने उसे बताया कि वह अपनी

बेटी को हर हाल में इंजीनियर बनाके रहेगी। अब यह मुझे कहने लगी कि अपने बच्चों को यदि नब्बे से अधिक अंक नहीं मिले और वे डॉक्टर-इंजीनियर न बन सके, तो हमें लोग क्या कहेंगे? मैंने कहा, क्या कहेंगे? यह इस तर्ज की कौन-सी शिक्षा देश में फल-फूल रही है, समझ में नहीं आता। यह सही है कि देश को उत्तम डॉक्टर एवं इंजीनियरों की जरूरत है। परंतु इससे कहीं अधिक सच्चे, प्रामाणिक और मेहनती लोगों की देश को जरूरत है। ऐसे लोग जो न देश की संपत्ति को लूटें और न अपने ही भाइयों को। जो भले ही दिखने में मामूली लगें, पर हों मजबूत। जो दस-पंद्रह हजार में भी सच्चाई और स्वाभिमान से जी सकते हों, ऐसे लोग देश की असली ताकत हैं। आप कुछ भी कहें पर वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में बड़ी हद तक अव्यवस्था और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। अच्छा, जब आप डॉक्टर और इंजीनियर ही यदि बनना चाहते हैं तो वह अच्छे शिक्षकों के कारण ही बनेंगे ना? फिर सबसे पहले तो ऐसे शिक्षकों की जरूरत अधिक है, जो यह सब कर सकें। सच यह है कि सेकेंडरी की शिक्षा आप पर्याप्त रूप में एक मॉडल टाइप शिक्षा हो चुकी है। एकदम तकनीकी। एक तकनीक के तहत ही आप नब्बे से ऊपर के अंकों तक पहुँचते हैं और यहीं से असली गबन की शुरुआत होती है। ओलंपिक खेलों की तरह आप सर्वश्रेष्ठ के रूप में स्थापित हो जाते हैं। लेकिन जीवन की परीक्षा में क्या? वह अंकों पर आधारित नहीं है, बल्कि अंतिम स्थान पर भी आप कितने संतुष्ट हैं इस पर आधारित है।

प्रश्न यह है कि आप अच्छे शिक्षक क्यों नहीं बनना चाहते? शिक्षक डॉक्टर या इंजीनियर से क्यों श्रेष्ठ नहीं है, यह इस देश के समाज को जब तक समझ में नहीं आएगा, तब तक डॉक्टर, इंजीनियर या वैज्ञानिक बनने या बनाने का कोई औचित्य नहीं है। स्कूलों में शिक्षक राजनेताओं के या धनाढ्यों के गुलामों की तरह जब तक इस देश में काम करेंगे, तब तक कुछ भी सुरक्षित नहीं है। जिस देश का शिक्षक चापलूसी और दासता में अपने जीवन को धन्य मानता है, उस देश का कोई भविष्य नहीं है।

❐❐❐

18 जुलाई, 2022

सृजनात्मक लेखन परियोजना की तरह नहीं होना चाहिए

अपने जीवन के सत्य की प्रस्तुति को लेकर आप साहित्य की किसी भी विधा के द्वारा पाठक को धोखा दे सकते हैं, लेकिन डायरी के द्वारा नहीं। यदि आप डायरी लिख रहे हैं, तो अपने वास्तविक जीवन में भी आपको ईमानदारी को लेकर सतर्क रहना पड़ेगा। जिसका जीवन और आचरण दोगला है, वह डायरी लिख ही नहीं सकता। यदि लिखेगा तो तुरंत पकड़ा जाएगा।

मनुष्य को डायरी तब ही लिखनी चाहिए, जब उसके जीवन में कुछ विशेष हुआ हो या कुछ उसने विशेष अनुभव किया हो। कोई घटना, कोई अनुभव, किसी से मिलना, कोई दृश्य यदि आपकी अंतरात्मा को झकझोरता है, तब ही डायरी लिखने का प्रयास करना चाहिए। यह सबकुछ मैं उन सामान्य लोगों के डायरी लेखन को लेकर बात कर रहा हूँ, जो अपने जीवन के किसी भी पक्ष को लेकर उसके महानतम या श्रेष्ठतम उपलब्धि तक न पहुँचे हों। डॉक्टर, वकील, अध्यापक, लेखक, कवि, कलाकार, छात्र आदि का जीवन किस अर्थ में महत्वपूर्ण हो सकता है? तो वह केवल उसके जीवन के वे दुर्लभ तमाम खट्टे-मीठे अनुभव जो दूसरों के लिए भी महत्वपूर्ण और प्रेरणादायी हों। तब ही लिखो जब आप दुनिया को कुछ विशेष दे सकते हो या आपके पास कुछ देने लायक है।

यह बात केवल डायरी पर ही लागू नहीं होती, बल्कि संपूर्ण रचनाकर्म की विश्वसनीयता पर लागू होती है। आप क्या और कैसे लिख रहे हैं, यह जागरुक पाठक की नजर से नहीं छूटता। जिस देश या समाज में जितने मूढ़ पाठक होंगे, उतना ही वहाँ घटिया साहित्य का निर्माण होगा। रचनाकार चाहे अपनी रचना को कितना भी पॉलिश कर ले, उसकी रचना का दिवालियापन प्रकट होकर रहेगा। इधर कुछ लोगों ने बीच का रास्ता निकाल लिया है। अपनी कुछ गैर जिम्मेदार और एकनिष्ठ मित्र-मंडली के भरोसे पर वे अपनी रचनाओं का काफी जोरदार प्रचार करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अद्वितीय एवं महान रचना का निर्माण किया गया हो। पर कितने दिन तक? लगभग 500 मित्रों द्वारा सोशल मीडिया पर रचना की व्यापक प्रशंसा और पत्र-पत्रिकाओं में 15-20 समीक्षाओं के बाद बहुत कुछ उदासीन-सा नजर आता है। वह इसलिए कि रचनाएँ कंस्ट्रक्ट

हैं और यही कारण है कि वे कृत्रिम प्रतीत होती हैं। जैसे किसी मशीन में कच्चा माल डालकर कोई वस्तु बनायी गयी हो। उसके हर पक्ष में शिथिलता है। भाव पक्ष, विचारपक्ष, वस्तुपक्ष सबकुछ बोझिल। देखिए, हमें जब भूख लगती है, तभी हम भोजन करते हैं ना? यानी एक आंतरिक जरूरत होने पर ही हम खाना खाते हैं। ठीक वैसे ही हमें लिखना चाहिए, जब हमें लिखने की वास्तविक और स्वाभाविक आवश्यकता की अनुभूति हो। जबरदस्ती या टारगेट बनाकर नहीं लिखना चाहिए। यदि मुझे कोई कहे कि आप वेश्या के जीवन पर लिखो, किसान के जीवन पर लिखो, इसके या उसके ऊपर लिखो तो मैं नहीं लिख पाऊँगा। क्योंकि वह मेरा भोगा हुआ जीवन-यथार्थ नहीं है। जिसकी मुझे न अनुभूति है, न समझ, उस पर मैं क्यों लिखूँ? लिखना परियोजना की तरह नहीं होना चाहिए। चाहे वह डायरी हो, उपन्यास हो, कहानी हो या और कुछ।

❐❐❐

21 जुलाई, 2022

मेरा जीवन और साधु-संतों का प्रभाव

अपने जीवन की अब तक की यात्रा में मैंने अनेक बुरे प्रसंगों का सामना किया। कटु, खट्टे, पीड़ा, निराशा, अपमान, तिरस्कार, उपेक्षा, असफलता, निर्धनता और असहायता के इन प्रसंगों में मैं कभी किसी भी प्रकार के आधुनिक संतों या योगियों के न प्रभाव में आया, न अधीन हुआ। कई राजनीतिक और सामाजिक संगठनों से भी मेरी दूरी आज भी कायम है। मुझे कोई व्यक्ति या संगठन ऐसा मिला ही नहीं, जो मुझे आकर्षित कर सके या मेरे जीवन के अभावों को दूर कर सके। मुझे इन सभी में एक प्रकार के पाखंड या बनावटीपन की अनुभूति हुई है। इसमें आप ज्योतिषियों को भी समाविष्ट कर सकते हैं। बचपन में हमारे घर नित्य एक ज्योतिषी आते थे। वे पिता के समवयस्क और मित्र थे। जब भी आते तो हमारा भविष्य बताते हुए कहते कि यह डॉक्टर बनेगा, यह इंजीनियर बनेगा आदि। ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। घर में समय-समय पर होने वाले धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति यद्यपि मेरे मन में आस्था तो रही है, पर यह सबकुछ जीवन का मुख्य केन्द्र नहीं है और न जीवन का हिस्सा। धर्मपत्नी भी मुझे मेरे स्वभाव और दृष्टि के अनुकूल ही मिली। उसे अब यह लगने लगा है कि मैं काफी मामलों में सही होता हूँ। उसका इस तरह से मेरे बारे में आश्वस्त होना या मुझ पर निर्भर होना मुझे भयभीत करता है। सही में हमारे निजी जीवन में धार्मिक कृत्यों और साधु-संतों की दखलअंदाजी उतनी नहीं होनी चाहिए कि हमारा सामान्य जीवन प्रभावित हो।

अभी मैं शिवरतन थानवी की डायरी पढ़ रहा था। जिसमें उन्होंने 28 मार्च, 2015 की प्रविष्टि में श्री श्री रविशंकर के बारे में लिखा है कि उन्होंने जयपुर के एक आदर्श स्कूल में मुख्य अतिथि के तौर पर बोलते हुए कहा कि सभी सरकारी स्कूल बंद कर उन्हें निजी हाथों में सौंप देना चाहिए। थानवी जी के मन-मस्तिष्क पर इस वक्तव्य का काफी गंभीर प्रभाव पड़ा। उन्होंने लिखा है कि कोई शिक्षित व्यक्ति सपने में भी ऐसा सोच सकता है? मैं भौचक्का रह गया हूँ। डायरी की इस प्रविष्टि को लेकर मैं स्वयं भी काफी विचलित हुआ। यह संत लोग ऐसा कैसे कह सकते हैं? यह निजी हाथ किसके होंगे या होने चाहिए, इसके

बारे में भी उन्हें कुछ स्पष्ट संकेत करना चाहिए था। जिस देश की स्वतंत्रता की लड़ाई निजीकरण के विरुद्ध थी, उसे आज हम क्यों और कैसे सही ठहरा सकते हैं? अंग्रेजों ने सर्वप्रथम देश की शिक्षा का राष्ट्रीयकरण किया। क्या हम यह भूल चुके हैं?

आज हमारे देश की शिक्षाव्यवस्था कितनी दिशाहीन हो चुकी है, इसका किसी को भी कुछ अनुमान नहीं है। आजकल मेरे महाविद्यालय में दो स्तरों पर छात्रों को प्रवेश दिए जा रहे हैं- ग्रांटेड और नॉन ग्रांटेड। अभिभावकों और शिक्षार्थियों को लगता है कि ग्रांटेड यानी सरकारी और कम शुल्क वाली या लगभग मुफ्त और उत्कृष्ट शिक्षा। नॉन ग्रांटेड यानी अधिक शुल्क वाली गैर-सरकारी और हल्की शिक्षा। अब यह एक उदाहरण मात्र है। शिक्षा कैसे दी जा रही है और कैसे ली जा रही है, यह दोनों आधार सर्वोत्तम शिक्षा का भविष्य तय करते हैं। काफी अव्यवस्था और अराजकता है, आजकल। क्या इसका अनुमान श्री श्री को है? क्या कोई निजी स्कूल या अस्पताल किसी गरीब को निःशुल्क शिक्षा और स्वास्थ्य लाभ प्रदान कर सकता है? बिलकुल नहीं। देश में ऐसे बहुत-से साधु-संत हैं, जो जनता की दैनंदिन सामान्य समस्याओं और परेशानियों से परिचित नहीं है। अनेक 'श्री' तो केवल राजनीतिक पार्टियों के प्रवक्ता की तरह बात करते हैं या नव धनाढ्यों के आश्रित हैं। इनका रहन-सहन सामंती है। ऐसी स्थिति में यह देश के सामने कौन-सा उदाहरण पेश अच्छा करेंगे?

अच्छा, मुझे कहना अभिप्रेत यह है कि मैं अब तक ऐसे साधु-संतों के प्रभाव में क्यों नहीं आया? मेरी ऐसी कौन-सी अद्वितीय बौद्धिक क्षमता है कि मुझे कोई वर्तमान संत विपत्तियों में सम्मोहित नहीं कर सकता और न कोई राजनेता? विवाह से पूर्व मेरे घर में ऐसी स्थितियाँ नहीं थी। माँ और बहन किसी अनिरुद्ध बाबा के प्रभाव में आ चुकी थीं और आज भी हैं। विज्ञान की परास्नातक होते हुए भी मैंने बहन को आम घरेलू औरतों की तरह ही अनुभव किया। यह मेरी पराजय भी है। भाई किसी राजनीतिक दल से संबंधित था। लगभग 20 वर्ष तक मेडिकल दुकान चलाने के बाद भी अपने विवाह के लिए उसके पास दस हजार भी नहीं थे। विवाह के पश्चात् वह तुरंत किसी निर्मला माता के प्रभाव में आ गया, क्योंकि उसकी पत्नी उस माता पर पहले से श्रद्धा रखती थी। अब उसके घर के एक कमरे का लगभग एक चौथाई भाग उस माताजी के पूजास्थल से व्याप्त है। ऐसा क्यों होता होगा? यह मैं आजतक नहीं समझ सका हूँ। ऐसे धार्मिक संतों, बाबाओं, माताओं के कारण कितने घर और परिवार असल में अपने जीवन की व्यक्तिगत समस्याओं से मुक्त होने में सफल हो सके होंगे? कौन-सा मानसिक आधार देते होंगे? क्या किसी पढ़े-लिखे गुणवान और प्रतिभासंपन्न युवक या युवती को यह तथाकथित संत या महात्मा रोजगार दे सकते हैं? नहीं, कोई नहीं दे सकता। इन लोगों ने ऐसा कौन-सा दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो हमारे देश के सर्वांगीण विकास करने और समस्याओं को सुलझाने में सहायक हो सकता है? मैंने अब तक यह सब दूर से देखा और समझा है। इसलिए किसी स्वनामधन्य साधु या संत या किसी राजनेता के साथ मुझे फोटो खिंचवाने की कभी इच्छा नहीं हुई। हिंदी के किसी साहित्यकार के साथ भी नहीं। मुझे बड़े-बड़े प्रसिद्ध लोगों से मिलने की कभी इच्छा नहीं होती। भविष्य में कभी मेरा बेटा-बेटी या उनकी संतानें यह जानने में उत्सुक होंगी कि राहुल गांधी, नरेंद्र मोदी, अमिताभ बच्चन, सचिन तेंदुलकर, गोविंदा आदि अपने समय के बड़े लोगों से मैं मिला क्यों नहीं? वे मेरी किस उपलब्धि पर गर्व करेंगे कि ऐसे कैसे हमारे पिता या दादाजी थे। आजकल मैं देखता हूँ कि यथेष्ठ लोगों ने बड़े-बड़े लोगों से अपनी मेल-मुलाकातों के अल्बम बनाकर रखे हैं। घर पर यदि कोई अतिथि आये तो लंबे समय तक उनका यह उपलब्धि पुराण दिखाया जाता है। इस सबके प्रति मेरी अरुचि क्यों और कैसे उत्पन्न हुई है? यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। कुछ आत्मीय मित्रों को मेरे जीवन में कुछ विशेष नजर आता है। वे मुझे सम्मानित करना चाहते हैं, पुरस्कृत करना चाहते हैं। मुझे उनकी भावनाओं की कदर नहीं है, ऐसा नहीं है। पर मुझे इन सब में अरुचि है। ऐसा कुछ विशेष है भी नहीं। मुझे अपना अलंकारहीन शांत जीवन ही पसंद है।

❐❐❐

29 जुलाई, 2022
साहित्यकर्म और निकम्मापन

प्रायः कुछ लंबी पढ़ाई और लेखन के बाद जब मैं अपने अध्ययनकक्ष से बाहर निकलता हूँ तो बाहर की दुनिया मुझे काफी अजीब, चौकन्नी और होशियार प्रतीत होती है। ठेले वाले, गाड़ी वाले, घूमने वाले, बेचने वाले, सेठ, दुकानदार आदि इस प्रतीक्षा में होते हैं कि दिनभर में कुछ आश्वस्त करने लायक धन अर्जित करके घर लौटा जाये। आज मैं सावन के महीने में मात्र आने वाली जंगली सब्जी कटुरलों और पनीर को खरीदकर तुरंत घर लौटा। कटुरलें बेल वंश की एक स्वादिष्ट सब्जी है और बस सावन के महीने में उपलब्ध होती है। आज से एक माह बाद बड़ी मुश्किल से यह आपको मिल सकती है। आजकल 200 रुपये किलो मिल रही है। कुछ भिल्ल समुदाय के लोग इसे जंगल से खोजकर लाते हैं। अजीब-सी जानकारी मिली कि इस सब्जी की फसल नहीं होती। अर्थात् इसे उगाया नहीं जा सकता या खेती नहीं की जा सकती। जैसे- करेले की जाती है। प्रकृति में आज भी कुछ चीजें अपनी शाश्वत स्थिति में जीवित हैं। ऐसा होना भी जरूरी है। आप तकनीक से उसे पैदा ही नहीं कर सकते न मॉडल के रूप में।

मैंने कुछ अनुभव किया और जल्दी घर लौट आया। मुझे रोजी-रोटी की चिंता नहीं है। मुझे घर-परिवार चलाने के लिए इन सब्जी वालों, ठेले वालों, दुकानदारों, व्यापारियों की तरह दुकान लगाकर चीजें बेचना या मुनाफे के द्वारा धन अर्जित करने की जरूरत नहीं है। पर मैंने देखा कि धन कमाने के मामले में इस तमाम वर्ग में मुझे कुछ खास किस्म के लोग ज्यादा होशियार लगे। सरल आदमी का इस तरह धन कमाना काफी कठिन है। मैंने यह भी अनुभव किया है कि मैं जब कोई चीज खरीदने के लिये बाजार में जाता हूँ, तो बड़े दुकानदार, व्यापारी मेरे द्वारा कुछ न खरीदने पर उतने खिन्न नहीं होते, जितने छोटे किस्म के लोग होते हैं। बड़े लोगों को ग्राहकों की जरूरत नहीं है। उन्होंने चीजें ही ऐसी बेचना शुरू की है कि जिसमें मुनाफा ज्यादा हो और खरीदने वाले को इसकी जरूरत हो। बेचारा गरीब ठेले वाला, खोमचे वाला ही इस आशा में रहता है कि उसका कुछ माल तो लोग खरीदें।

आप नहीं जानते पर यह बेहद त्रासद स्थिति है। धन कमाना बहुत ही मुश्किल है। महिलाएँ तक घर से बाहर निकलकर इस तरह का काम करने लगी हैं। इस तरह से धन कमाना दुःख का विषय नहीं है और न संघर्ष का। ऐसी महिलाएँ दुर्भाग्य से हिंदी के लेखकों या लेखिकाओं के लेखन का प्रमुख विषय नहीं हैं। यह सच्चे पाठकों और सच्चे साहित्य का दुर्भाग्य है। हिंदी में आजकल जो कुछ लोग साहित्य लेखन कर रहे हैं, वे वास्तविक रूप से धन अर्जित करने की जमीनी हकीकत से जुड़े नहीं है। भाई, धन मनुष्य जीवन के केन्द्र में है और प्यार, विश्वास और जीवन के आदर्श से भी बड़ी चीज है। प्रेमचंद का अधिकतर लेखन धन की सत्ता को केन्द्र में रखकर ही हुआ है। हिंदी के वर्तमान अनेक साहित्यकार जीवन की बुनियादी समस्याओं के भुक्तभोगी नहीं हैं। वे एक तो खानदानी रईस हैं या किसी अच्छी सरकारी नौकरी में कायम हैं। दुख और पीड़ा आदि की संवेदनाओं से युक्त कविता, कहानी या उपन्यास लिखना उनका फैशन है। वे जब शोषण, भेदभाव, दुख, अत्याचार आदि पर कहानी लिखेंगे और तुरंत मैक डोनाल्ड या किसी रेस्तरां में बर्गर या पिज्जा खाने जाएँगे। सिल्क की महँगी साड़ियाँ पहने या तीन से पाँच सितारा होटलों में रहने, नित्य विदेशी यात्राओं के फोटो अपलोड करने वाले साहित्यकार क्या खाक लिखेंगे? और क्या खाक कमायेंगे? यहाँ निकम्मेपन से तात्पर्य मेरा यह है कि कुछ तो हासिल हो भाई! बड़ी-बड़ी बातें करना छोड़ दो। मुझे कै होती है, जब मैं ऐसा कुछ लिखा हुआ पढ़ता हूँ। जो खुद मरा नहीं है, वह मरने की अनुभूति पर लिख रहा है। ऐसा नहीं है कि मौलिक लिखना-पढ़ना आदि कोई आरामदायक काम है। इसमें भी बहुत कष्ट है। लिखने-पढ़ने के कष्ट से बचने के लिए लोग बचपन में स्कूल छोड़ देते हैं और फिर बाद में आजीविका के लिए उन्हें काफी संघर्ष करना पड़ता है। परंतु जैसे आजीविका के अन्य स्थानों से मनुष्य कुछ-न-कुछ नकद धन कमाने में सफल होता है, वैसे लिखने-पढ़ने के मामले में नहीं है। लिखना-पढ़ना आदि आजीविका का माध्यम नहीं है। अतः यह काम किसी सुरक्षित आजीविका के साधन को प्राप्त करके ही किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में लिखने-पढ़ने वालों के लिए अध्यापकी एक सरल और उपयुक्त माध्यम है। वे दूसरों को भी लिखने-पढ़ने के लिए प्रेरित कर सकते हैं। मौलिक लेखन के मामले में भी बड़ा झोल यह है कि क्या और कैसे लिखें? कुछ सूझता ही नहीं है। जो सूझता है, वह सतही है, गहरा नहीं। फिर एक-दूसरे की नकल करके लोग लिखते हैं। किसी

ने बौद्ध पर लिखा तो दूसरा उसकी नकल करके महावीर पर लिखता है। किसी ने कर्ण पर लिखा तो दूसरा रावण पर लिखता है। किसी ने महाराष्ट्र के किसान पर लिखा तो दूसरा कर्नाटक के किसान पर लिखता है। कोई किन्नरों के जीवन पर लिख रहा है, तो कोई वेश्याओं के। कोई संतों पर लिख रहा है, तो कोई राजनेताओं पर। यह क्या चल रहा है? लोग मॉडल राइटिंग क्यों कर रहे हैं। भला ऐसे लिखने से कौन-से महान लक्ष्य को प्राप्त किया जा रहा है? देखिए, धन प्राप्त करने के लिए, आनंदप्राप्ति के लिए, कीर्ति प्राप्त करने के लिए और मानव कल्याण की दृष्टि से लिखना इन चारों प्रयोजनों में से कौन-सा प्रयोजन श्रेष्ठ और उत्तम प्रयोजन कहा जा सकता है? इस पर विचार होना जरूरी है। धन जीवनयापन के लिए जरूरी है और आनंद जीवन का लक्ष्य है। अतः यह दोनों प्रयोजनों में मानवकल्याण इप्सित है, तो लिखो। लिखना निश्चित ही कष्टसाध्य और यातनापूर्ण काम है, इसमें संदेह नहीं। पर सामान्य जनता लिखने के पीछे की यातना को नहीं समझती। हमारे परिवेश में से 98% लोगों को पुस्तकों की अपेक्षा नमक, तेल, शक्कर, कपड़े आदि जीवन में अधिक जरूरी लगते हैं। लिखने-पढ़ने को अधिकांश लोग निकम्मेपन का लक्षण मानते हैं। अतः लोग मुफ्त में मिली हुई पुस्तकें भी नहीं पढ़ेंगे। साहित्य के छात्र तक पूर्ण पुस्तकें नहीं पढ़ते और गाइड से काम चलाकर पास होते रहते हैं। यह सही है कि लिखना व्यावहारिक जीवन का भाग नहीं है, बल्कि साधनामय जीवन का भाग है। यदि लिखने-पढ़ने मात्र का काम करने वालों को अध्यापक की नौकरी भी न मिले तो उन्हें भूखे मरने को नौबत आ जाये और लिखने-पढ़ने को लेकर व्यर्थताबोध उत्पन्न होने से वे निराश हो जाएँ। किसी ने अध्यापकों के लेखक होने पर तंज करते हुए कहा कि आजकल ज्यादातर लेखक अध्यापक होते हैं, तो मैं कहता हूँ कि इसमें बुरा क्या है? खैर, लिखने के कार्य को सामान्यजन नहीं समझेंगे, पर जो लोग लिखने का काम कर रहे हैं, उनका दायित्व है कि वे अपने परिवेश की इन मुश्किलों से गुजरते हुए सच्चाई को प्रस्तुत करें। अनुभवसिद्ध ही लिखें। ऐसा कुछ देखकर न लिखें, जिसे सामान्यजन देखने, समझने और अनुभव करने में असमर्थ होता है। कहा भी गया है कि 'सर्वजानाति सर्व वर्णयतीति कविः' अर्थात् जब कुछ पूर्णतः जान जाओ तब ही उसका वर्णन करो। ध्यान रखे कि यहाँ 'जानने' से तात्पर्य केवल सूचना प्राप्त करने से नहीं है, बल्कि 'रियलाइज' करने से है। विषयवस्तु के भीतर प्रवेश करने से है। जब तक आपको अपने समाज और परिवेश की एनोटॉमी की पर्याप्त समझ नहीं है, तब तक आप बेहतर लिख नहीं सकते।

❐❐❐

31 जुलाई, 2022
गरीबों की दुनिया ही सबसे बड़ी दुनिया है

महामहिम राष्ट्रपति एवं माननीय राज्यपाल भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के सर्वोच्च एवं अत्यंत सम्मानित पद हैं। इन पदों पर आसीन व्यक्तियों को धर्म, जातियाँ, समुदाय, प्रांत, राजनीतिक पार्टियाँ आदि के संबंध में निष्पक्ष होना चाहिए। कल महाराष्ट्र के माननीय राज्यपाल ने कुछ संपन्न एवं धनी वर्ग का पक्ष लेते हुए तथा सामान्य महाराष्ट्रीय जनता को हीन दृष्टि से देखते हुए, जो अभद्र टिप्पणी की क्या वह स्वीकार्य हो सकती है? इसी तरह से यदि भारतीय सेना में जो भारत के गरीब, दलित वर्ग के सिपाही हैं, वे यदि सेना में भर्ती होना छोड़ दें, तो क्या तथाकथित धनिक एवं संपन्न वर्ग के लोग सीमा पर जाकर देश की रक्षा कर सकेंगे? संक्षेप में उन्होंने भारत के गरीब, दलित, निर्धन, श्रमिक वर्ग का जो मजाक उड़ाया है, वह अत्यंत निंदनीय है। क्या कभी किसी ने सोचा है कि यह तथाकथित धनिक वर्ग धनी कैसे बना है और कैसे बन रहा है? इसी वर्ग के लोग निर्धन और असहाय जनता का जितना शोषण करते हैं, उतना और कोई नहीं करता। देश में जितने भी आर्थिक घपले, गोलमाल, भ्रष्टाचार आदि के मामले सामने आये हैं, उनमें अधिकांश इसी वर्ग के लोग हैं। यहाँ का गरीब वर्ग तो अब भी पैसे कमाना नहीं जानता और न समझता है कि कैसे अमीर बने? इस धनिक वर्ग की अपनी ही एक छुपी हुई अर्थव्यवस्था है। आप मानें या न मानें पर अभी तक इस विषय में कोई भी खुलकर नहीं बोलता। समझते और जानते सभी हैं। अचानक कोई आदमी दो-चार वर्ष में ही कैसे अकूत संपत्ति का मालिक बन सकता है?

अब यदि अल्प समय के लिए मान भी लें कि इस वर्ग के पास बहुत पैसा है, तो फिर इस वर्ग को वह रहस्य निर्धन लोगों को भी बताना चाहिए कि उनके पास यह इतना सारा धन कैसे आया? उसने कैसे कमाया? कि गरीब निर्धन वर्ग भी धनी और संपन्न हो सके। अच्छा, यह बताने से तो देश का ही भला होगा और सभी अमीर बनेंगे। कोई धन के अभाव के कारण दुःखी नहीं होगा। सभी ओर समृद्धि और सुख की नदियाँ बहेंगी। लोग छककर देशी घी से बनी मिठाइयाँ खायेंगे। कोई भी निर्धन मांस-भक्षण नहीं करेगा। परिणामस्वरूप चारों ओर अहिंसा और शांति का साम्राज्य होगा। कोई शराब नहीं पियेगा। खून-खराबा नहीं होगा। चोरियाँ नहीं होगी। यह सब तब होगा, जब यह धनिक वर्ग सभी को धनी बनने का रहस्य बता दें। वह हुनर बता दें, जिससे कि निर्धन व्यक्ति भी पर्याप्त धन अर्जित कर सके। यदि उन्हें लगता है कि यह कोई पैसे कमाने का विशिष्ट ज्ञान है, तो यह ज्ञान ही बता दें। देखिए कोई अलाउद्दीन का चिराग या सोने का अंडा देने वाली मुर्गी तो नहीं होगी ना उनके पास? वैसे होती भी नहीं है। यह लोगों को मूर्ख बनाने वाली बातें हैं।

मोहन राकेश ने खीजकर अपनी डायरी में एक स्थान पर लिखा है, ''तुम्हारे अमीर हो जाने से मैं गरीब थोड़े ही हो जाता हूँ?'' अपनी नजर में होते तो नहीं हैं, पर दूसरों की नजर में होते हैं। गरीब जब तक फेंके हुए पैसे उठाता रहेगा तो अमीर कब और कैसे बनेगा? असल में जो धनिक वर्ग होता है, वह अर्थव्यवस्था की दृष्टि में पूँजीवादी वर्ग कहलाता है। उसका मानना होता है कि यह दुनिया उसकी है। इस दुनिया पर उसकी गहरी पकड़ है। गरीबों की कोई दुनिया नहीं है। असल में गरीबों की दुनिया ही सबसे बड़ी दुनिया है, यह बात साहित्य के समझ में नहीं आती, क्योंकि साहित्य भी पूँजीवादी वर्ग की अनुकूलता में ही लिखता है। गरीब का दर्द, अभाव और दुख साहित्य का विषय जरूर बनते हैं, पर केवल करुणा को उत्पन करने तक। समस्या का समाधान नहीं करते। और सबसे बड़ी बात यह है कि साहित्यकार स्वयं उस विषयवस्तु के किसी भी अंग का भुक्तभोगी नहीं होता। हाँ, लिखता जरूर मजेदार और प्रभावशाली ढंग से है कि पाठक चमत्कृत हुए बिना नहीं रहता। समस्यामूलक उपन्यास और कहानियों को आप देखेंगे तो पायेंगे कि समस्या का चित्रण जरूर यथार्थपरक और सजीव है, पर समस्या के समाधान का कोई ब्लू-प्रिंट उसमें है नहीं। अपनी रचना को सुंदर और आकर्षक बनाने के प्रयास में रचनाकार सच की यथावत प्रस्तुति से चूक जाता है। अपने युग की जटिलताओं और विडंबनाओं को जस-का-तस पकड़ने और निर्भयता से उसे प्रस्तुत करने जैसी बात आज वर्तमान हिंदी साहित्य में कहाँ नजर आती है? अपने कार्यालय या कोर्ट से एक नोटिस मिलने पर ही आज का साहित्यकार घबरा जाता है और इधर-उधर सहायता के लिए दौड़ता नजर आता है। सम्मान के लिए निरंतर भूखा साहित्यकार अपनी आलोचना या अपमान का धैर्य से सामना नहीं कर पाता। ऐसे साहित्यकारों के अनगिनत किस्से मिलते हैं।

अपने आसपास के राजनीतिक प्रसंग, घटनाएँ, समाज, परिवार में कितने ऐसे विषय हैं, जिन पर बेबाकी से लिखा जा सकता है। जब मैंने टी०वी० पर माननीय राज्यपाल को यह कहते देखा कि यदि मुंबई या ठाणे शहर से राजस्थानी और गुजराती लोग चले जायेंगे, तो मुंबई कैसे आर्थिक राजधानी बनी रहेगी? महोदय, केवल 10 पाकिस्तानी आतंकियों ने जब मुंबई पर हमला किया था, तब इस मुंबई की रक्षा किस वर्ग ने की? क्या तुकाराम ओंबले गुजराती-राजस्थानी थे? कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। इस देश में सभी लोग शांति और भाई-चारे से रहते हैं। किसी के अमीर हो जाने से दूसरा जो गरीब होता है, उसे हीन भावना से क्यों देखा जाना चाहिए?

❐❐❐

1 अगस्त, 2022

साहित्य : जीवनसत्य की सृष्टि और पुष्टि

काव्यशास्त्रीय चिंतन में प्रारंभ से यह मुद्दा रहा है कि कवि क्यों लिखता है? आज के आधुनिक समय में हम अब इसे साहित्यशास्त्र कहेंगे और फिर वही प्रश्न दोहराएँगे कि साहित्यकार क्यों लिखता है? प्रायः साहित्यकार और रचनाकार इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर देने में असमर्थ अनुभव करते हैं कि कैसे बताएँ कि वे क्यों लिखते हैं? क्या वास्तव में साहित्यकर्म प्राकृतिक होता है? जैसे- भूख-प्यास लगना, किसी से प्रेम उत्पन्न होना आदि। क्या वास्तव में साहित्यकर्म प्रतिभाजन्य है? यदि ऐसा है, तो प्रतिभा का सही दिशा की ओर बढ़ना या जागृत होना भी आवश्यक है। कहने का तात्पर्य यह है कि सही दिशा का होना बहुत जरूरी है। दिशा गलत भी हो सकती है। कोई भी क्रिया को सही दिशा होना आवश्यक है। बिना सही दिशा के वह भटक जाएगा। सृजनकर्म का भी सही दिशा से संपृक्त होना जरूरी है। लिखने के लिए दिशा तो चाहिए ही। अर्थात् क्या लिखे, कितना लिखे और क्या न लिखे।

साहित्यकार को किसी भी विषय पर लिखते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि जो वह लिखने जा रहा है, उससे किसी जीवनसत्य की सृष्टि और उसके बाद उसकी पुष्टि हो रही है या नहीं। जैसे 'सत्य परेशान होता है, लेकिन पराजित नहीं होता' यह एक जीवन सत्य है, तो इसकी प्रमाणिकता से पुष्टि होनी चाहिए। ऐसे बहुत-से जीवनसत्य माने गए हैं और माने जाते हैं। इन जीवनसत्यों या धारणाओं को लेकर वास्तविक जीवन में कई अंतर्विरोध या विडंबनाएँ देखने को मिलती हैं। ऐसे जो जीवनसत्य माने गए हैं, हो सकता है, वे असत्य भी सिद्ध हुए हों। इन तमाम स्थितियों में साहित्यकार को इन विषयों का अत्यंत विवेकशील और तथ्यपरक दृष्टि से आंकलन करते हुए किसी-न-किसी मौलिक स्थापना या पुष्टि की ओर बढ़ना चाहिए।

❐❐❐

15 अगस्त, 2022

आत्मचिंतन की स्वतंत्रता

सन् 1947 में जब भारत स्वतंत्र हुआ, तब लगभग 562 रियासतों का भारत में विलय हुआ। रियासतें यानी रजवाड़े यानी स्वायत्त राज्य। ऐसे राज्य जिन्हें ब्रिटिश शासन से एक विशेष ऑटोनोमी प्राप्त थी। यह रियासतें भारतीय शासकों द्वारा शासित थी और इन भारतीय शासकों पर अंग्रेजों का नियंत्रण था। यानी प्रजा पर सीधा नियंत्रण अंग्रेजों का नहीं था, बल्कि भारतीयों का ही था। अंग्रेजों ने भारतीय शासकों को अपना गुलाम बनाया था और प्रजा पहले की तरह राजा, महाराजाओं, बादशाहों, सामंतों, जागीरदारों की गुलाम थी। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आखिर में कौन-सा भारत गुलाम था? किसका गुलाम था? और कौन-सा भारत स्वतंत्र हुआ?

हमारे देश के लोग आज भी वैचारिक परिपक्वता के मामले में पिछड़े हुए कहे जा सकते हैं। यहाँ के लोग धनिकों, गोरे-चिट्टों और सवर्णों की दासता को स्वेच्छा से स्वीकार कर लेते हैं। खुद ही सेवा में लग जाते हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी सेवा में लग जाते हैं, जैसे कोई खानदानी चाकरी हो। इस देश में छोटे-छोटे अमीरों के घर पर भी आपको छोटे-छोटे दास मिलेंगे। आज भी मिलेंगे। इस दासता को वे ईश्वर की पूजा की तरह करते हैं। जान देने के लिए तक तैयार होते हैं। अपने मालिक के विरुद्ध एक शब्द तक सुनना पसंद नहीं करते। इन्हें अपने मालिक में कुछ भी बुराई नजर नहीं आती। इन्हें अपनी गुलामी या दासता का किंचित भी एहसास नहीं होता। इन्हें उनका मालिक कोई जंजीरों में जकड़कर नहीं रखता, बल्कि इन्हें प्रायः प्रसन्न रखता है। धन और सुरक्षा दोनों देता है। भारत को असल में इन दो वर्गों के लोगों ने ही गुलाम बनाकर रखा। महाराज के सीधे शयनकक्ष तक पहुँच रखने वाले इस वर्ग की सामान्य प्रजा पर बड़ी धाक होती थी। स्वाभिमानी एवं श्रमजीवी प्रजा के साथ पशुओं की तरह व्यवहार होता था।

आज भी यदि आप सामान्य श्रमजीवी प्रजा का अवलोकन करेंगे तो उसे हाशिये पर ही पाएँगे। फिर से भारत में एक ऐसा शासक वर्ग तैयार हुआ, जिसने अपने समर्थकों, चमचों एवं दासों के बल पर अपनी एक विशेष ऑटोनोमी का निर्माण कर प्रजा पर अप्रत्यक्ष वर्चस्व स्थापित किया है। संविधान, पुलिस और न्यायपालिका के होते हुए भी सामान्य जन कुछ नहीं कर सकता। अंग्रेज वास्तव में इस देश की प्रशासनिक व्यवस्था को सुधारने में लगे थे। इस देश को हिंदू और मुसलमान शासकों ने कब से लूट लिया था। कोहिनूर हीरा क्या होरी और रामा के पास मिला था? अकूत संपत्ति राजा, महाराजाओं, सामंतों, बादशाहों के खजानों में संचित थी। कौन कैसे कह सकता है कि यह देश सोने की चिड़िया था? और सोने का धुँआ उठता था यहाँ? क्या यह चिड़िया किसी गरीब, दरिद्र, श्रमिक, किसान की झोपड़ी में घोंसला बनाकर रहती थी? उसके चूल्हे से क्या सचमुच सोने का धुँआ उठता था? ऐसा भारत कभी था भी इसके प्रति मुझे संशय है। इस देश के लोग कानून का जितना गैरकानूनी फायदा उठाते हैं, दुरुपयोग करते हैं उतना कोई गैर नहीं।

देखिए, मेरा जन्म इस देश को स्वतंत्रता मिलने के लगभग 24-25 साल बाद हुआ। वह भी एक मजदूर के घर में। जिनका काम था, मिट्टी के घर बनाना। मैं जब 12 वर्ष का हुआ, तब यानी 1983 में दादाजी का देहांत हुआ। दादाजी का घर के दक्षिणी दीवार में एक छोटा-सा लकड़ी का कपाट था। उसमें एक पत्रे की पेटी थी, जो मैंने आज भी संभलकर रखी है, उसमें दादाजी की कुछ डायरियाँ हैं। मुझे अच्छी तरह याद है, उस कपाट को दादाजी एकांत समय में ही खोलते थे और मैंने देखा है कि उस लोहे की पेटी में सौ-सौ की सिर्फ चार-पाँच नोटें हुआ करती थी। यह लगभग 1975 से 80 के बीच का समय है। कुछ नहीं था, हमारे पास उस समय। उस समय दादाजी यही समझते थे कि नौकरी गरीब आदमी को नहीं मिलती। यानी उनकी पक्की धारणा थी कि सरकारी नौकरियाँ अमीरों, शासकों के करीबी लोगों को ही मिलती हैं। कितना देश बदला है आज? मुझे किस तरह से यह प्राध्यापक की नौकरी मिली है, यह मैं ही जानता हूँ। लेक्चरर बनने की कानूनी योग्यता प्राप्त होते हुए भी ढाई साल तक मुझे यह नौकरी नहीं मिली। इस दौरान मैंने लगभग 35-40 साक्षात्कार दिए होंगे। पैसे दिए बगैर नौकरी लगना मुश्किल। उस समय कुछ तकनीकी अनिवार्यता के कारण मैं प्रवेश करने में सफल रहा। सत्य यह है कि यहाँ की शिक्षासंस्थानों पर पूर्णतः सवर्ण और सामंती वर्गों का वर्चस्व है। ऐसा नहीं है कि यह भेदभाव करते हैं या शोषण करते हैं। पर यह सबसे पहले अपने वर्ग का भला चाहते हैं। अपने वर्ग का नहीं मिला तो अपने निकटस्थ या अपने परिचित को प्राथमिकता देते हैं। एक ही जिले का होते हुए भी आज मैं इस स्थान पर बाहर वाला ही समझा जाता हूँ।

जब मैंने ऐसा सुना तो कहा कि क्या मैं पाकिस्तान से आया हूँ? मेरी संपूर्ण शिक्षा छटपटाहट और चरमराहट से से भरी रही है। ऐसा नहीं है कि मैं बहुत ही दरिद्र घर से रहा हूँ। लेकिन स्वाभिमान से रहने, याचना और समझौता न करने की कीमत मुझे चुकानी पड़ी है। अब भी मैं वैसा ही हूँ। अयोग्य व्यक्ति के समक्ष कुछ याचना करना मुझे आज भी अप्रिय और अपमानजनक लगता है।

किसी गरीब आदमी के पास अपनी बीमार बीवी और बच्चों के इलाज के लिए 500 रुपये तक न होना और किसी झुनझुनवाला ने घर बैठे-बैठे साढ़े चार हजार करोड़ रुपये कमा लेना, इसमें से किसे आप भारत के स्वतंत्रता की सफलता मानेंगे और किसे विफलता? हमने ही अपनों को लूटा है और आज भी लूट रहे हैं। देश की जो भी तरक्की आपको दिखाई दे रही है, वह निःसंदेह स्वतंत्रता के कारण है, लेकिन इस तरक्की तक पहुँचने में जो समय लगा है, वह चिंताजनक है। देश का सामाजिक ढाँचा अब भी वैसा का वैसा ही है। कुछ अंतरराष्ट्रीय दबाव भी है, इसलिए यह प्रगति दिखाई दे रही है, पर हम एक मंडी के रूप में तब्दील होते जा रहे हैं, यह भी नकारा नहीं जा सकता। जितनी तेजी से गरीब आदमी के पास पैसा आ रहा है, उतनी तेजी से निकल भी रहा है।

❐❐❐

18 अगस्त, 2022

समर्थ रामदास स्वामी का कवित्व-निरूपण

सोलहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में श्री समर्थ रामदास स्वामी नामक एक अत्यंत दिव्य एवं महान संत का जन्म हुआ था। आत्मसाक्षात्कार एवं स्वानुभवों के बल पर रामदास स्वामी ने अत्यंत उच्च कोटि की साहित्य रचना की। उनकी साहित्यिक रचनाओं में कुछ पद, आरतियाँ, करुणाष्टक, मनाचे श्लोक और दासबोध उल्लेखनीय है। 'दासबोध' उनकी सर्वश्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण रचना मानी जाती है और लगभग संपूर्ण महाराष्ट्र और मराठी साहित्य का अलंकार है। इस रचना में कुल 20 अध्याय हैं, जिसे उन्होंने 'दशक' कहा है। प्रत्येक दशक में मनुष्य के लौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन से संबंधित किसी-न-किसी विशेष अंग का निरूपण हुआ है और इस निरूपण में मानवकल्याण और भगवद्भक्ति केन्द्र में है। निरूपण से तात्पर्य है, किसी विषय को अधिक स्पष्ट करके समझाना। यह दासबोध एक ऐसा ग्रंथ है कि जिसका जितना अधिक विवेचन किया जाए, उतना अधिक उसका बोध होता रहता है। स्वयं रामदास जी ने यह कहा है कि, 'विवरता विशेषा विशेष कळू लागे।' अर्थात् इसकी जितनी व्याख्या होगी, उतना ही इसका विशेष प्रकट होगा। अपने आप में यह ग्रंथ अद्भुत है और मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि यदि कोई इस ग्रंथ को पढ़ ले, तो फिर उसे अपने जीवन में किसी अन्य पुस्तक को पढ़ने की जरूरत नहीं है और न किसी विश्वविद्यालय से डिग्री लेने की। क्या है इस 'दासबोध' में तो मैं कहूँगा कि क्या नहीं है इसमें? लगभग जीवन के सभी अंग और विषयों का सार और ज्ञान इसमें है। इसे आप आत्मज्ञान भी कह सकते हैं। व्यक्ति, व्यक्ति के गुणविशेष, दोष, अज्ञान, काया, ब्रह्म, माया, जगत, आत्मा, भक्ति, प्रकृति, परमात्मा, नाम, वैराग्य, बुद्धि, सिख, कवि कला, लेखन कला, मूर्ख लक्षण, करंट लक्षण, राजकारण, उत्तम पुरुष निरूपण, जन स्वभाव निरूपण, यत्न निरूपण, विवेक लक्षण निरूपण आदि आदि बहुत कुछ इस दिव्य ग्रंथ में है।

इस ग्रंथ के चौदहवें दशक के तीसरे समास में कवित्वकला का निरूपण है। श्रीसमर्थ कहते हैं कि मनुष्य एक रसिक प्राणी है और रसास्वादन करने की उसकी यह लालसा या चाह केवल कवि ही पूर्ण कर सकता है। लेकिन कौन-सा

कवि? ऐसा कवि जिसे काव्यप्रतिभा का वरदान तो अवश्य मिला है, परंतु जिसने जीवन की परम ऊँचाई को भी प्राप्त किया हो। जीवन की परम ऊँचाई पर पहुँचने पर जिसे समग्र जीवन को समझने की अद्‌भुत शक्ति प्राप्त हो चुकी हो। इस प्रकार जिसे जीवन का व्यवस्थित आकलन हुआ हो, उसे व्यक्त करने की अनेकानेक दिशाएँ उसे अपनी काव्यप्रतिभा के बल पर प्राप्त होती है और वह अनुभूत जीवन का यथाशक्ति निरूपण करता है। ऐसा कवि मानव जीवन की अपूर्णताओं, दुर्बलताओं और असफलताओं को भी भलीभाँति समझता है। ऐसे व्यक्ति या कवि से सलाह या ज्ञान लेने के लिए बड़े-बड़े राजा या शासक भी आतुर रहते हैं। राज दरबारों में ऐसे संत कवियों का बड़ा मान सम्मान होता है। ऐसा कवि भला किस प्रकार की काव्य रचना करता होगा? इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कविता के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है- ढीठ कविता, पाठ कविता एवं प्रासादिक कविता।

उनके शब्दों में कुछ इस प्रकार -

''कवित्व नसावे धीठपाठ। कवित्व नसावे खटपट। कवित्व नसावे उद्धट। पाषाण्ड मत।।14।।

कवित्व नसावे वादांग। कवित्व नसावे रसभंग। कवित्व नसावे रंगभंग। दृष्टांतहीन।।15।।

कवित्व नसावे पाल्हाळ। कवित्व नसावे बाष्कळ। कवित्व नसावे कुटीळ। लक्षुणियाँ।।16।।

हीन कवित्व नसावे। बोललेची न बोलावे। छंदभंग न करावे। मुद्राहीन।।17।।

विपत्तिहीन तर्कहीन। कळाहीन शब्दहीन। भक्तिज्ञानवैराग्यहीन। कवित्व नसावे।।18।।

ढीठ कविता : अपने मन में जो-जो आता है, उस पर जबरदस्ती से लिखना या खींच-तानकर कविता करना ढीठ काव्य है। यानी जो-जो दिखाई दिया, उस पर कविता करना अर्थात् जिसमें आंतरिकता नहीं है, जीवन का बोध नहीं है और जो न अनुभवसिद्ध है, ऐसी कविता। जिस कविता में मात्र नरस्तुति है, वह भी ढीठ कविता ही कही जा सकती है।

पाठ कविता : संसार के अनेकानेक श्रेष्ठ एवं उत्तम ग्रंथों या पुस्तकों का अभ्यास करके उसमें से जो उत्तम कविता या काव्य जैसा है, उसके जैसी हू-ब-हू काव्यरचना करना। इसे आप नकल या अनुकरण करना भी कह सकते हैं।

प्रासादिक कविता : यह कविता का वह प्रकार है, जिसमें नित्य मानव कल्याण की भावना रहती है। जो कविता पूर्णतः स्वानुभवाश्रित होती है। ऐसे अनुभव जो कवि को अपने जीवन के अनुताप से सींचकर, तपकर साध्य हो। अर्थात् कवि की वाणी कुछ ऐसा कथन या बयान करती है, जैसे स्वयं परमेश्वर बोल रहा हो, कह रहा हो। जो कुछ भी स्वानुभवों से अर्जित नहीं है, उसे वह कवि अपनी कविता का विषय बनायेगा ही नहीं। वह ऐसे विषय पर कुछ लिखेगा ही नहीं, जिसका उसने अनुभव न लिया हो। परमेश्वर पर भी नहीं। संत कविता की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वह काल्पनाश्रित नहीं होता। यहाँ पर संत शब्द से तात्पर्य शुद्ध, अच्छा, उत्तम, श्रेष्ठ आदि है।

ऐसी किसी भी काव्यरचना से यदि जीवन में अनुताप उत्पन्न हो, नाना प्रकार के अज्ञान और दोष दूर हो, भेद नष्ट हो, नाना प्रकार की वृत्तियों और अहंकार का क्षय हो, सद्‌बुद्धि प्राप्त हो, सद्‌वस्तु की प्रतीति हो, आत्मविवेक जागृत हो, मिथ्या दृश्याभास नष्ट होकर वास्तविक जीवन की अनुभूति कराने में, शंकाओं, प्रश्नों और जीवन की जटिलतम समस्याओं के समाधान में जो सहायक सिद्ध हो और परिणामस्वरूप जिसका आस्वाद लेते हुए परम संतुष्टि का अनुभव हो वही उत्तम और श्रेष्ठ कविता है।

❐❐❐

31 अगस्त, 2022
निजी जीवन में हस्तक्षेप और पुस्तकें

यह एक बहुत ही गंभीर और सोचने वाली बात है कि जब हम कोई पुस्तक लिखते हैं, चाहे वह कोई उपन्यास हो, कहानी हो, कविता हो, निबंध हो या अन्य कुछ। क्या यह सब लोगों के निजी जीवन में हस्तक्षेप करती है? क्या इस प्रकार की पुस्तकें पढ़ने के बाद पाठकों के जीवन में सचमुच का कोई सकारात्मक बदलाव आता है? यदि बदलाव आता है, तो क्या वह उनके निजी जीवन की समस्याओं को सुलझाता है या उन्हें अधिक गंभीर बनाता है? कुछ चर्चित लेखकों का जीवन उनकी पुस्तकें पढ़कर लोगों को आकर्षित करता है। पाठक ऐसी पुस्तकें पढ़ने के बाद कुछ उन लेखकों की तरह जीने लगते हैं या सोचने लगते हैं। जैसे फिल्में देखने के बाद हीरो-हीरोइन की तरह दिखने और लगने का प्रयास करना। कुछ तो पुस्तक के अनुसार अपने ही जीवन में अनेक प्रकार के प्रयोग करते हैं। इस प्रकार की पुस्तकें क्या सीधे-सीधे पाठकों के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करती? कुछ पुस्तकों के विषय ही कुछ ऐसे होते हैं, जो पाठकों को अपने ही जीवन की कहानी की तरह प्रतीत होते हैं। यह एक काफी जटिल मामला है। इस प्रकार सीधे मनोवैज्ञानिक स्तर पर पाठकों को अंतःकरण को स्पर्श करना अवश्य रचना की सफलता कही जा सकती है। पर पुस्तक ऐसी लिखी जानी चाहिए कि जो पाठक के जीवन में हस्तक्षेप न करते हुए उसके मनोवैज्ञानिक स्तर को या अंतरात्मा को स्पर्श कर सके और उसके जीवनकल्याण में सहायक हो सके। परिणामस्वरूप पुस्तक पढ़ने वाले के कारण उससे संबंधित या निकटस्थ लोगों को भी उसकी उपस्थिति का लाभ हो सके। किसी को ऐसा लग सकता है कि मैं पुस्तकों से कुछ असंभवनीय अपेक्षाएँ रख रहा हूँ।

दो दिन पूर्व बी०ए० प्रथम वर्ष की दो छात्राएँ मुझे मिली। यद्यपि वे मुझे कुछ न बताती पर जब मैंने उन्हें सृजनात्मक लेखन की ओर प्रेरित करने का प्रयास किया तो उन्होंने मुझे कहा कि वे भी कुछ लिखती हैं। लगभग 18-19 वर्ष की इन छात्राओं का लिखने में रुचि लेना मेरे लिए काफी चौंकाने वाली बात थी। अच्छा तो सबसे विशेष बात यह है कि वे कविताएँ नहीं लिखती, बल्कि गद्य में लिखती हैं। उनमें एक तो कथेतर टाइप का लिखती है और दूसरी कथात्मक टाइप का। मेरे लिए उनके लिखने के विषयों को देखना अधिक जरूरी था। वे कुछ दिनों में क्या और कैसा लिखती है, यह मुझे दिखाएगी भी। मुझे संभवतः लिखने की इस प्रारंभिक रचनाप्रक्रिया का अवलोकन करना है और यह भी देखना है कि उनका बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक स्तर किस प्रकार है? आज भी जब मैं कुछ लेखकों की रचनाओं को पढ़ता हूँ तो प्रायः उनके मनोविज्ञान एवं बौद्धिक स्तर को समझने में कठिनाई होती है। रचना से प्रभावित होना बिलकुल अलग बात है। अभी कुछ माह पूर्व कोरोना की त्रासदी के कारण लेखकों और कवियों की संख्या में जिस प्रकार वृद्धि हुई, उस लेखन से वास्तव में हमें क्या लाभ हुआ? अभी-अभी कुछ दिनों पूर्व मेरे एक वरिष्ठ हिंदी आलोचक मित्र ने किसी कहानी विधा की रचना की समीक्षा करते हुए अपनी फेसबुक टिप्पणी में यह कहा कि, ''बहुत अच्छा बेहतर, बढ़िया, गहरा, रोचक लिखा है, पर फायदा क्या?'' यह फायदे वाली बात दो तरह की हो सकती है - एक तो वह कोई आर्थिक लाभ दिला सके या कोई मनोवैज्ञानिक लाभ जो जीवन जीने में काम आ सके। लिखने से आर्थिक लाभ होने की बात तो बहुत दूर की चीज है, लेकिन मनोवैज्ञानिक लाभ की बात को कुछ समझा जा सकता है। अर्थात् ऐसी रचनाएँ जो जीवन में सहायक की भूमिका में काम आ सकें। जैसे दांपत्य जीवन की त्रासदी में भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' कुछ सहायता करती है। पर प्रेमचंद की 'निर्मला' तो भयभीत कर देती है। रचना की क्या और कैसी उपादेयता हो इसे निश्चित करना तो उसी स्तर पर संभव हो सकता है कि वह रचना कितनी बड़ी हद तक जीवनकल्याण की बात करती है। पाठक की समझ, बौद्धिक और मानसिक स्तर को उन्नत बना सकती है। वह कब? तो निजी जीवन में हस्तक्षेप किए बिना। यानी मेरे कहने का तात्पर्य है कि स्वस्थ जीवन में रचना के पढ़ने के कारण अस्वस्थता उत्पन्न न हो। निराशा का भाव उत्पन्न न हो। जीवन के प्रति काल्पनिक और मिथ्या धारणाओं का विकास न हो। ऐसी रचना जो जीवन के प्रति वस्तुनिष्ठ और यथार्थपरक दृष्टिकोण को विकसित करने में सहायक हो।

❐❐❐

5 सितम्बर, 2022
शिक्षक दिवस की औपचारिकताएँ और मौलिक शिक्षक

अब आप कुछ भी कहें पर शिक्षक दिवस के अवसर पर क्या लिखना चाहिए, इस विषय में प्रातः से ही मेरे मन में बहुत कुछ कुलबुला रहा था। कैसे और कहाँ से शुरू करूँ? जब मैं शिक्षक बना तब शिक्षक बनने की कुछ कानूनी अनिवार्यताएँ मैंने प्राप्त कर ली थी, जिसे आप योग्यता भी कह सकते हैं। मैं उस शिक्षक की बात कर रहा हूँ, जो एक तो महाविद्यालयों के शिक्षक कहे जाते हैं या विश्वविद्यालयों के। यह शिक्षकों का सबसे उच्च वर्ग है। इस वर्ग के पास जब छात्र पढ़ने के लिए आते हैं तो वे शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक रूप से पर्याप्त विकसित हो चुके होते हैं। अब उन्हें बालकों की तरह नहीं पढ़ाया जा सकता। वे लगभग लिखने-पढ़ने की जो सामान्य क्षमता है, उसको अर्जित कर चुके होते हैं और इसलिए महाविद्यालयों में पढ़ने आते हैं कि ग्रेजुएट होकर किसी सरकारी-गैर सरकारी नौकरी को प्राप्त करने में सफल हो सकें। मैं भी कुछ इन्हीं स्थितियों से गुजरा हूँ। अब सबसे जरूरी बात यह है कि शिक्षक होना या शिक्षक बनना दोनों अलग-अलग चीजें हैं। देखिए कुछ लोग अच्छे शिक्षक तो होते हैं, पर शिक्षक बन नहीं पाते और जो शिक्षक बन जाते हैं, वे असल में शिक्षक होते ही नहीं हैं। यह भारतीय शिक्षाव्यवस्था की एक बड़ी कमी या बड़ी धांधली से भरी स्थिति है। उत्तम शिक्षक बनना इतना सरल नहीं है। आप मेरी शिक्षक को लेकर की जा रही चिकित्सा या अवधारणा में से उन शिक्षकों को तो बिलकुल निकाल दीजिए, जो एक तो कोचिंग क्लास में या ट्यूशन लेकर पढ़ाते हैं। पढ़ाना शिक्षक होना नहीं। ठीक उसी तरह से अध्यापन करना भी नहीं है। हमने वास्तव में पाठ्यक्रमों को बनाकर और उन्हें नियमित पढ़ाने को लेकर ही शिक्षक की एक कच्ची अवधारणा विकसित की है। गणित, विज्ञान, अंग्रेजी के शिक्षकों की तो बात ही कुछ और है। यह हो सकता है कि अपने विषय को लेकर उनमें उच्चस्तरीय ज्ञान हो। वे अपने विषय में किसी छात्र को प्रवीण बनाने की क्षमता भी रखते हों। यह हो सकता है कि उनसे पढ़कर कोई विद्यार्थी परीक्षाओं में अधिकाधिक अंक अर्जित करने में सफल भी होता हो। पर क्या वे वास्तव में शिक्षक कहे जा सकते हैं? शिक्षक को जब से केवल एक रोजगार समझ लिया गया है, तब से बहुत कुछ अवांछित प्रवृत्ति के लोग इसमें प्रवेश कर चुके हैं। मुझे अच्छी तरह 7-8 वर्ष पूर्व का एक प्रसंग याद आ रहा है। तब मेरे नगर में म्यून्सिपल काउंसिल के चुनाव होने जा रहे थे और मेरे एक शिक्षक मित्र मुझे पैसे देने के लिए एक प्रत्याशी के साथ मेरे घर पहुँचे थे। मेरे इस शिक्षक मित्र को राज्य सरकार का आदर्श शिक्षक पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। मेरे यह समझ में नहीं आता कि शिक्षक को लेकर 'आदर्श' की कौन-सी उम्मीद लोग और सरकारें करती हैं?

मैं जब कॉलेज में अध्यापक बना तो मुझे यह पता काफी बाद में चला कि बहुत-से लोग मेरी तरह अध्यापक नहीं बने हैं। शिक्षक को शिक्षक बनने की पवित्र प्रक्रिया से भी गुजरना चाहिए। जैसे कि वह घूस देकर या रिश्वत देकर शिक्षक न बना हो। जिस देश में किसी भी स्कूल या कॉलेज में शिक्षक भर्ती प्रक्रिया में पैसे का लेन-देन होता है, वह देश शीघ्र ही खत्म हो जाएगा। शिक्षक या शिक्षा, बाजार की वस्तु नहीं है। मैं व्यावसायिक शिक्षा की बात नहीं कर रहा हूँ, बल्कि उस शिक्षा की बात कर रहा हूँ, जिसमें मनुष्य को सत्य, न्याय और प्रामाणिकता से जीवन जीने की सीख मिली हो या ऐसी प्रेरणा दी जाती हो। मुझे बहुत सारे शिक्षक हाथों में मोटी-मोटी पुस्तकें लेकर महाविद्यालय परिसर में घूमते नजर आते हैं। उनके हाथों में किताबों को देखकर शीघ्र यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भारी विद्वान किस्म के होंगे। कुछ शिक्षक भाषण देने के मामले में भी काफी प्रवीण होते हैं। वे बड़े अच्छे वक्ता के रूप में जाने जाते हैं। पर लिखने, बोलने, पढ़ाने की प्रतिभा के बावजूद भी शिक्षक में ऐसा कुछ होना चाहिए, जो उसे दूसरों से भिन्न बनाता हो। शिक्षक को केवल व्यवहारकुशल ही नहीं बल्कि नीतिकुशल भी होना चाहिए। कक्षा की चारदीवारी के बाहर भी शिक्षक से कुछ अप्रत्यक्ष रूप से सीखा जा सके, ऐसी योग्यता शिक्षक में होनी चाहिए। मुझे आजतक यह समझ में नहीं आया कि विद्यार्थीप्रिय शिक्षक क्या होता है? कुछ शिक्षक राजनीतिक संगठनों से भी जुड़े होते हैं और विद्यार्थी भी। ऐसे में विद्यार्थियों को पैसे देना, अपनी मोटरसाइकिल देना, बैंक, डाक, कचहरी के काम उनसे करवा लेना, झाड़ू-पोंछा करवाना आदि कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। विद्यार्थी शिक्षकों से इसलिए भी निकटता बनाते हैं कि शिक्षक उन्हें कुछ ज्यादा अंक दे दे। ऐसा बहुतायत में होता भी है। मैंने आजतक अपने किसी विद्यार्थी से अपना कोई निजी काम नहीं करवाया। मुझे छात्र भी बहुत कम मिलने आते हैं।

छात्रों से इस तरह के सम्बन्ध बनाना और उनसे अपने काम करवाना शिक्षक का काम नहीं है। अपने छात्र को आत्मसम्मान से जीने की जो सीख दे सकता है, वही उत्तम शिक्षक है। देखिए, विद्यालयों में जबरदस्ती से आप किसी को पढ़ा नहीं सकते। आप कोई भी काम लगातार तीन-चार घंटे नहीं कर सकते। मजदूरी का भी नहीं। पुस्तकें पढ़ना और भी कठिन काम है। शिक्षक का सबसे बड़ा काम है, छात्रों में मौलिक चिंतन-मनन की क्षमता को विकसित करना। जब से शिक्षक नोट्स देने लगे हैं और बाजारों में गाइड आने लगे हैं, शिक्षक और विद्यार्थी का आंतरिक संबंध खत्म हो चुका है। क्या आपको नहीं लगता कि हम सब केवल औपचारिकता से भरा व्यवहार कर रहे हैं? एक नाटकीय और दिखावटी जीवन जी रहे हैं। कुछ तकनीकी माध्यमों ने इसे और भी अधिक रुक्ष बना दिया है।

❐❐❐

10 सितम्बर, 2022

पारिवारिक संबंधजन्य प्रेम एक अजीब-सी स्थिति में होता है

आजतक मैं इस प्रश्न का उत्तर नहीं खोज पाया हूँ कि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से क्यों प्रेम या घृणा करता होगा? अच्छा, प्रेम या घृणा करना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। ऐसा व्यक्ति मिलना दुर्लभ ही होगा कि वह न किसी से प्रेम करता है और न घृणा। ऐसा व्यक्ति केवल मृत व्यक्ति ही हो सकता है। स्पष्ट है कि प्रेम और घृणा करने की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ मनुष्य की जीवंतता या सक्रिय अस्तित्व का लक्षण हैं। ऐसी स्थिति में प्रेम और घृणा करने के आपके आधार नितांत नैतिक और मानवीय होने चाहिए। अर्थात् जो व्यक्ति दुष्ट, अप्रामाणिक, पाखंडी और दुराचारी है, तो उससे घृणा करने का आपका नैतिक आधार है। जो व्यक्ति वास्तव में सज्जन, निःस्वार्थी, निरुपद्रवी और प्रामाणिक है, तो आपके पास उससे प्रेम करने का नैतिक आधार है। ठीक इसके उल्टा होता है, तो कई तरह की सामाजिक समस्याएँ, असंतोष और अराजकता की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसी स्थिति में सामाजिक शांति एवं सुरक्षा हेतु बनाये गए कानून भी निष्क्रिय हो जाते हैं। प्रेम और घृणा के आलंबन ही जब अनैतिक हों तो आप सभ्य समाज के निर्माण की कल्पना कैसे करेंगे?

मैंने अब तक के जीवन में समाज का जो भी और जिस प्रकार भी अनुभव लिया है, वह कुछ बहुत संतोषजनक नहीं है। मैंने अपने आसपास के लोगों को एक बड़ी हद तक दोगला, स्वार्थी, अवसरवादी और पाखण्डी के रूप में देखा है। जब किसी तरह न्याय और सत्य के पक्ष में मजबूती से खड़े होने की बात आती है, तो यह लोग अपरिचित हो जाते हैं। सत्य और न्याय को भीड़ की जरूरत नहीं होती। सत्य सिंह के समान आत्मनिर्भर और शक्तिशाली होता है। हाँ, अकेला होने पर उसे भेड़ियों से जरूर खतरा होता है, परंतु ऐसे समय में एक सिंह भी सहायता के लिए आ जाये तो सौ भेड़ियों पर वह भारी हो जाता है।

मेरी बात की जाए तो मुझे झूठ बोलने वाले, स्वार्थी और पाखंडी लोगों से बहुत ही घृणा उत्पन्न होती है। मैं इनके नजदीक एक क्षण भी ठहरना नहीं चाहता। इनसे किसी तरह से मित्रता आदि के संबंध बनाना तो मेरे लिए कतई संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में मैं अकेला और असहाय रहने का पक्ष चुनूँगा। अब

रही प्रेम करने की बात तो स्पष्ट कहना चाहूँगा कि किसी से घृणा करने के आधार तो मेरे लिए स्पष्ट होते हैं, पर प्रेम करने के नहीं। मैं जिनसे घृणा करता हूँ, उनसे किनारा भी कर सकता हूँ। परंतु जब किसी से प्रेम करता हूँ और प्रेम के बदले में जब मेरे जैसा ही प्रेम मुझे न मिले तो काफी दुःखी हो जाता हूँ। ऐसी स्थिति में मैं जिनसे प्रेम करता हूँ, उनसे किनारा करने का खतरा नहीं उठा सकता। अजीब-सा भय और असुरक्षाबोध उत्पन्न होता है। आज मेरे पास अत्यधिक निकट यदि कोई होंगे तो वह है, मेरी पत्नी, पुत्र और पुत्री है। निःसंदेह मैं इन तीनों से बहुत ही प्यार करता हूँ। आज मेरे दस वर्षीय पुत्र ने मुझसे पूछा कि यह आई०पी०एस० क्या होता है? मैंने इसे बताया कि यह पुलिस का सबसे बड़ा, शक्तिशाली और प्रभावशाली अफसर होता है। उसने कहा कि वह आई०पी०एस० बनेगा। अभी उसे कुछ पता नहीं है। वह संभवतः बन भी सकता है या नहीं भी। भविष्य किसने देखा? पर मैं यह सोचने लगा, मान लीजिये कि वह बन गया तो आज से पंद्रह या बीस वर्ष के बाद की स्थिति क्या होगी? सौभाग्य से मैं जीवित रहा भी तो मेरी आयु 65-70 वर्ष के आसपास होगी। तब मेरे पास किसका प्रेम होगा? या किसे मुझसे प्रेम करने का भाव और समय भी होगा? पारिवारिक संबंधों में प्रेम की एक अजीब-सी स्थिति होती है। संभवतः आज की स्थिति में मुझे किसी का प्रेम न भी मिले पर उस आयु में मुझे प्रेम की नितांत आवश्यकता होगी। मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि वर्तमान समय मेरा अपने परिवार से नितांत प्रेम करने का है। उनसे प्रेम प्राप्त करने का नहीं। वह मुझे आज अनायास मिलेगा। पर भविष्य में? घृणा तो मैं तब भी उन लोगों से वैसे ही करूँगा जैसे आज कर रहा हूँ। हाँ, अंत में एक और बात यह कि मुझसे भी लोग घृणा करते होंगे। परंतु मेरे लिए यह भी एक खोज और जिज्ञासा का विषय है कि क्या वास्तव में उनके पास मुझसे घृणा करने का क्या कोई नैतिक आधार है? है तो वह क्या है? मैं अपने आपको अच्छी तरह से जानता हूँ कि मैं पूरी तरह से प्रेम करने लायक मनुष्य तो बिलकुल नहीं हूँ।

❐❐❐

12 सितम्बर, 2022

जनसाधारण का नेतृत्वहीन होना अत्यंत गंभीर है

देश में अभूतपूर्व महँगाई बढ़ी है। पेट्रोल, डीजल, खाने का तेल, अनाज, लोहा, रसोई गैस आदि के भाव आसमान छू रहे हैं। सब्जियाँ पिछले दो साल की तुलना में 30-50% महँगी हुई हैं। मजदूरी में वृद्धि हुई है। वेतन में वृद्धि हुई है। इलेक्ट्रॉनिक और तकनीकी वस्तुओं के मूल्य भी बढ़े हैं। कागज का मूल्य भी बढ़ा है। पुस्तकें और नोटबुक भी महँगी हुई हैं। स्कूल और कॉलेजों के शुल्क में भी वृद्धि हुई है। भारतीय मुद्रा का मूल्य घटा है। विदेशी मुद्रा भण्डार में वृद्धि हुई है। सकल घरेलू उत्पाद निर्देशांक संतोषजनक है। जी०एस०टी० संकलन भी आशा से अधिक हुआ है। सारी दुनिया में मंदी है, लेकिन भारत पर उसका कोई कुप्रभाव नहीं पड़ा है। कहा जा रहा है कि निजी क्षेत्रों में नौकरियों के अनेक नए अवसर उपलब्ध हुए हैं। सरकारी विभागों में भी जैसे- पुलिस, सेना आदि में नौकरियाँ मिलना जारी है। इतना सबकुछ देश में हो रहा है, लेकिन महँगाई और नौकरी की समस्या को लेकर किसी मजदूर, किसान, विद्यार्थी, लेखक, प्रकाशक, डॉक्टर, अध्यापक, इंजीनियर, उद्यमी, नेता, मंत्री, व्यापारी आदि ने निराश होकर आत्महत्या नहीं की। विपक्षी राजनीतिक दलों को छोड़ दिया जाए तो जनसाधारण का कोई बड़ा तबका उठकर सरकार के विरुद्ध प्रदर्शन करने नहीं निकला। क्यों नहीं निकला?

भारतीय लोकतंत्र में आज भी जनसाधारण के हितों की बात और काम करने वाला कोई नहीं हैं। वास्तव में सामान्य प्रजा या जनसाधारण के पास न कोई नेतृत्व है, न साहस है और न कोई लक्ष्य। जनसाधारण इतना दुर्बल और असहाय है कि वह किसी भी सरकार के खिलाफ आवाज नहीं उठा सकता। वह राजनीतिक दलों का शरणार्थी या दास बन चुका है। सभी राजनीतिक दल जनसाधारण को मवेशी (ढोर-बकरी) से कुछ अधिक नहीं समझते। यह वह जनसाधारण है, जिसके पास न पर्याप्त धन है, समय है, न सत्ता है, न साहस और न भविष्य के सपने। जनसाधारण को पता है कि उसे न्याय नहीं मिलेगा। चुप रहने में ही उसकी भलाई है। क्योंकि वह अपनी हैसियत को जानता है। उसके लिए सरकार ने कुछ ऐसी आकर्षक योजनाओं का निर्माण किया है कि वह ज्यादा चिल्ला न सके। इस

जनसाधारण को तो यह भी समझ में नहीं आता कि उसे यदि एक-दो लाख रुपये मिल भी जाये तो इतनी सारी रकम का वह करेगा क्या? सरकार भी जानती है, इस जनसाधारण के पास ज्यादा पैसा आने से देश को कोई लाभ नहीं होगा। असाधारण अमीर लोगों के पास ही ज्यादा पैसा रहने से देश को लाभ होगा। यही लोग देश को गति देंगे। इसलिए अमीर लोगों के हितों की रक्षा करना सरकार की प्राथमिकता है। आप किसी भी सरकार से यह उम्मीद क्यों रखते हैं कि वह लोकतांत्रिक बने और जनसाधारण के लिए ही काम करें? वह असल में धनतांत्रिक है। विपक्ष सत्तापक्ष के हर काम की निंदा इसलिए करता है कि उसका काम ही है, विरोध करना। असल में विपक्ष सत्तापक्ष का प्रतियोगी होता है। विपक्ष की निरंतर कोशिश सत्ता में पुनः वापिस लौटने की होती है। वह उस बच्चे की तरह बौखला जाता है, जैसे किसी ने जबरन उसके हाथों से उसका प्रिय खिलौना छीन लिया हो। लोकतंत्र में चुनाव एक प्रतियोगिता मात्र है। चुनाव कोई लड़ाई नहीं है। इसमें चुने जाने या न चुने जाने के लिए लोग जीत-हार जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो अलोकतांत्रिक है। इस देश में चुनावों को आप खेल प्रतियोगिता भी कह सकते हैं। वे खेलते हैं, जीतते हैं, हारते हैं तो भी पैसा और कीर्ति प्राप्त करते हैं। जनसाधारण उनके खेल को देखने में अपना बहुमूल्य समय और पैसा दोनों खर्च करते हैं। वह केवल दर्शक होती है। लोकतंत्र में सबकुछ लोकतांत्रिक तरीके से केवल अमीरों के हित में बनाया जाता है। आप कुछ भी कहें, आप कुछ भी समझें। खेल में मजा आना, हारना, जीतना उतना जरूरी नहीं जितना कि सरलता से पैसा कमाना है। इस कमाई को न कोई चोरी कह सकता है, न ठगी और न डकैती। आप साबित ही नहीं कर सकते। वह इसलिए कि यह लोकतंत्र है।

❐❐❐

17 सितम्बर, 2022
शिक्षा और प्रतिष्ठा के अस्वस्थ अंतरसंबंध

कल मुझे मेरे बारहवीं विज्ञान के सहपाठी मित्र ने फोन किया। वे पेशे से डॉक्टर हैं और उनकी पत्नी गायनेकोलॉजिस्ट है। उनका एक ही पुत्र है और वह वर्तमान में मुंबई के किसी मेडिकल कॉलेज में एम०बी०बी०एस० की द्वितीय वर्ष की पढ़ाई कर रहा है। असल में मेरे इस सहपाठी मित्र से मैंने ही आठ दिनों पूर्व फोन किया था पर वे कहीं व्यस्त होने के कारण मेरा फोन न ले सके। अब आठ दिनों बाद मुझे उन्होंने फोन किया था। इसी तरह मेरे एक और मित्र डॉक्टर हैं। जलगाँव में उनका बड़ा हॉस्पिटल है। उनके पिता भी एम०बी०बी०एस० डॉक्टर थे और यह मित्र जब हम बारहवीं में विज्ञान की पढ़ाई करते थे, तब रोज बुलेट से कॉलेज आते थे। उनका वह रुबाब से भरा रहन-सहन देखकर अक्सर मैं उनसे काफी प्रभावित रहा करता था और सोचता था कि क्या कभी मुझे ऐसी जिंदगी मिल सकती है? आज मुझे बुलेट में बिलकुल रुचि नहीं है। जब मैं अपनी बेटी को स्कूटर पर लेकर बाजार जाता हूँ तो अक्सर किसी बुलेट को देखकर कहता हूँ कि अब मुझे यह गाड़ी लेनी है, तो बेटी जोर से चिल्लाती है, ''नहीं पापा! बिलकुल नहीं। यह आपके लिए एक गंदी गाड़ी है और आपको अच्छी नहीं लगेगी।'' मैं सोचता हूँ कि मेरे बच्चों ने मेरे बारे में और मेरे व्यक्तित्व के बारे में अभी से कितनी स्पष्ट राय बना ली है। जीन्स की दो पैंट्स मेरे पास हैं। मैंने जब एक पहनी तो बच्चे कहने लगे, ''नहीं पापा! यह आपको अच्छी नहीं लगती।'' अब मैं अपने परिवार के लिए सरलता और सादेपन का ब्रांड बन चुका हूँ। यह मेरी उपलब्धि है या और कुछ है, यह कुछ ठीक से नहीं कहा जा सकता और जल्दबाजी में तो बिलकुल भी नहीं।

अच्छा, तो कल मेरे डॉक्टर मित्र ने जब मुझे फोन किया तो बताया कि उनका एम०बी०बी०एस० कर रहा पुत्र अब यू०पी०एस०सी० करना चाहता है। मित्र ने बताया कि उनके पुत्र के कॉलेज में कोई फंक्शन था और उसमें किसी आई०ए०एस० अधिकारी को मुख्य अतिथि के रूप में निमंत्रित किया गया था। उस अधिकारी के आगे-पीछे घूमते लोग, गनमैन आदि को देखकर पुत्र के मन में भी ऐसा ही अधिकारी बनने की इच्छा जागृत हुई। मैं यह सब सुनकर हतप्रभ

था। मित्र ने मुझे मेरे परिवार के बारे में पूछा। जब मैंने बताया कि मेरी बड़ी बेटी आठवीं कक्षा में है और पुत्र चौथी में तो उन्होंने मुझे कहा कि अभी मेरे पास बहुत समय है और मुझे बेटी के लिए अभी से 'नीट' की तैयारी शुरू कर देनी चाहिए। मित्र ने कहा कि जब अपना बेटा या बेटी एम०बी०बी०एस० में सिलेक्ट हो जाता है तो अपनी कॉलर टाइट हो जाती है। समाज में लोग हमें झुककर प्रणाम करते हैं और कुछ विशिष्ट बन जाने की भावना हममें उत्पन्न होती है। पुत्र-पुत्री की सफलता का सुख सबसे बड़ा सुख होता है। जब लोग कहते हैं कि देखो इनका बेटा फलां-फलां बन चुका है। मैं मित्र की इस बात को सुनकर कुछ अधिक ही हतप्रभ हुआ।

मित्र की यह बात जब मैंने पत्नी को बतायी तो वह कहने लगी कि अपने कालोनी में एक अध्यापक ने अपनी बेटी के लिए 'नीट' ऑनलाइन क्लास लगाए हैं। अपनी बेटी जब उस अध्यापक की बेटी से मिलती है तो पाती है कि उसमें अभी से डॉक्टर बन जाने का विशिष्टताबोध उत्पन्न हो गया है। उसके पिता और माँ के बात करने, देखने और अन्य व्यवहार में भी इस विशिष्टताबोध को स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है।

मैं इसलिए यह सब लिख रहा हूँ कि शिक्षा के बारे में हमारी धारणा क्या वास्तव में संकीर्ण बनती जा रही है या उदात्त? यदि मैं सभी तरह की शिक्षा को ज्ञानार्जन की दृष्टि से देखता हूँ तो क्या गलत हूँ? डॉक्टरी पेशे की इस एम०बी०बी०एस० की शिक्षा को लेकर समाज की यह दृष्टि मुझे चिंताजनक, भेदभावपूर्ण, अव्यावहारिक और हास्यास्पद लगती है। डॉक्टरी पेशा मानवकल्याण से सीधे-सीधे जुड़ा है, जैसे कि सिविल सर्विस का भी जनता की सेवा से। हम ही यदि खुद को समाज से अधिक विशिष्ट समझने लगेंगे तो समाज का कल्याण या सेवा कैसी करेंगे? जितनी हम ऊँची शिक्षा प्राप्त करेंगे, उतना ही हममें ऊँचा विनम्रताबोध और सरलताबोध उत्पन्न होना चाहिए। परन्तु ऐसा होते हुए नहीं दिखता। शिक्षाप्राप्ति को लेकर यह विशिष्टताबोध लोगों में अंग्रेजी या विज्ञान में शिक्षा को लेकर मैं अधिक देखता हूँ। वस्तुतः देखा जाए तो किसी प्रकार की शैक्षिक या व्यावहारिक उपलब्धि से उत्पन्न हमारा विशिष्टताबोध उन नब्बे प्रतिशत लोगों में अनावश्यक हीनताबोध को उत्पन्न करता है, जो भी किसी-न-किसी तरह की योग्यता तो रखते ही हैं। एकदम कुत्ते-बिल्ली की तरह तो नहीं यह लोग। यह जो विशिष्टता एवं हीनता की उत्पन्न ग्रंथियाँ हैं, यह हमारे मानसिक अस्वस्थता एवं दरिद्रता के लक्षण हैं। एक अच्छी शिक्षा हममें वह करुणाबोध भी उत्पन्न करती है, जो दूसरों की असहायता और विवशता का लाभ उठाने से हमें रोकती है। स्पष्ट है कि हम बौद्धिक, मानसिक दृष्टि से पूर्णतः स्वस्थ समाज में जी नहीं रहे हैं। जीवन में छोटे-छोटे कामों के लायक बनना भी एक बड़ी उपलब्धि है। जैसे- घर में बर्तन, कपड़े या टॉयलेट धोना या साफ करना। मैंने अपने एक मित्र से कहा था कि अपने इस नगर के संभ्रांत परिवार (ऐसा वे अपने को समझते हैं) के लोग मुझे कभी बाजार में सब्जियाँ, फल, राशन आदि छोटी-छोटी चीजें खरीदते हुए दिखाई नहीं देते। यह काम उनके घर के नौकर करते हैं।

यदि कुछ उत्तम होता हुआ समाज में नहीं दिखाई दे रहा है, हमारी शिक्षा ग्रहण करने की समझ और परस्पर व्यवहार में तो क्या हम वाकई एक नई वर्ण व्यवस्था को जन्म नहीं दे रहे हैं? देखिए, भीषण रोग हमेशा धीरे-धीरे और चुपके से फैलता है। मुझे तो निराश होकर ही यह कहना पड़ेगा कि यदि हम अच्छी शिक्षा की अवधारणा को जल्दी से नहीं समझते हैं तो हम अपने जीवन में बहुत-से बेहतरी के अवसरों से चूक जाएँगे। फिर तो ऐसा ही कहना पड़ेगा कि हम कई तरह की स्वस्थ और उत्तम चीजों को आज भी डिजर्व नहीं करते हैं।

❐❐❐

24 सितम्बर, 2022
जब दुआ जाती है अर्श पर असर लाने को

दुआ का अर्थ है- प्रार्थना, आशीर्वाद, शुभकामना आदि। यह अरबी भाषा का शब्द है, जो हिंदी में काफी प्रचलित है। ठीक इसके विपरीत शब्द है- बद्दुआ, जिसका अर्थ है- दुष्कामना, गाली आदि। उक्त पंक्तियाँ लैला-मजनू फिल्म के एक गीत की हैं, जिसमें लैला अपने प्रेमी के शुभ की कामना करते हुए अल्लाह से प्रार्थना करती है। उसका दृढ़ विश्वास है कि उसकी दुआएँ अवश्य अर्श पर यानी अल्लाह के पास जायेंगी यानी पहुचेंगी और उनका परिणाम (असर) यह होगा कि पत्थर भी फूल बन जाएँगे। यानी हमारा कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा। ईश्वर हमारी रक्षा करेगा।

प्रश्न मेरे सामने यह उपस्थित होता है कि क्या वास्तव में दुआ, आशीर्वाद, प्रार्थना, शुभकामनाएँ आदि में इतनी शक्ति होती है कि सरल, सज्जन लोगों का कोई कुछ बिगाड़ ही नहीं सकता? यह तो तब होगा न जब ईश्वर होगा? ईश्वर तो आसमान में रहता है। ईश्वर आसमान में क्यों रहता है और वह छुपकर क्यों? सामने आने पर उसका क्या बिगड़ जाएगा? कौन बिगाड़ेगा? किसमें इतनी शक्ति है कि वह ईश्वर का बाल भी बांका कर सके? अभी-अभी समाचार-पत्र में एक खबर छपी थी कि यूरोप के वैज्ञानिकों ने किसी प्रयोगशाला में काफी प्रयोग करने के बाद यह प्रमाणित किया है कि ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है। लेकिन कौन-सा ईश्वर? मनुष्य जिसको ईश्वर मानता है वह या और कुछ? वामपंथी या मार्क्सवादी तो ईश्वर को बिलकुल नहीं मानते। उनकी दृष्टि में तो ईश्वर अफीम का नशा है। उनका मानना है कि ईश्वर एक ऐसा नशा है कि यदि वह चढ़ जाये तो मनुष्य सामान्य जीवन की सुंदरता और कुरूपता, दुर्बलता और सबलता को मानने में विश्वास नहीं करता। संक्षेप में कहें तो स्पष्ट और अस्पष्ट ईश्वर को लेकर प्रायः मनुष्यजाति अस्पष्ट ईश्वर पर अधिक विश्वास करती है। अस्पष्ट या अप्रस्तुत ईश्वर एक ऐसा विश्वास है कि मनुष्य अपने खाने-पीने, रहने और सुरक्षा की सारी जिम्मेदारियाँ उसी पर डालकर निश्चिन्त हो जाता है। मैंने काफी लोगों को यह कहते सुना है कि उसने चोंच दी है, तो दाना भी देगा। कितना दृढ़ विश्वास है, नहीं? संत मलूकदास ने भी यह कहा है, ''अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम, दास मलूका कह गए सबके दाता राम।'' यानी सबकुछ ईश्वर करता है और देता है। मनुष्य को कुछ भी करने की कोई जरूरत नहीं। द्रौपदी का भी जब वस्त्र-हरण हो रहा होता है और सभी असहाय होते हैं, तब वह भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना करती है और भगवान उसकी लाज बचा लेते हैं। क्या सही में प्रार्थना में इतनी शक्ति होती है कि वह परमेश्वर को अर्श से फर्श पर ला सके। या फिर यह दुआ, प्रार्थना आदि कोमल, सहृदय अंतःकरण की एक निष्क्रिय प्रतिक्रिया या भावना मात्र है? कुछ ठीक से कहा नहीं जा सकता। पर इतना जरूर है कि लोगों पर कितना भी अन्याय हो, अत्याचार हो, दुष्कर्म हो, वे यह विश्वास करते हैं कि यदि उन्होंने किसी का कुछ भी बुरा नहीं किया है, तो उनका भी बुरा नहीं होगा। लेकिन ठीक इसके विपरीत जो राक्षस या शैतान है, बुरा करते हुए अट्टहास करते जाता है कि जो करना है कर लो। मेरा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। क्या शैतान या राक्षस को पता है कि उसे बद्दुआ नहीं लगती? किसने देखा है कि दुआ अर्श पर जाती है और असर भी करती है? राक्षस या शैतान की मेहरबानी से आप क्या नहीं बन सकते? राम के साथ आपको वनवास ही मिलेगा और शैतान के साथ सुरा, अप्सरा और महल का सुख। सज्जनों, जागो। दुआ में असर की बात पर विश्वास करना छोड़ो और अपने हाथ-पैरों में असर पैदा करो। तुम्हारे हाथ-पैर कहीं अर्श पर नहीं हैं। एकदम तुम्हारे निकट हैं। तुम्हारी देह से जुड़े हुए। भाई, पत्थर के फूल कभी नहीं बन सकते जब तक कि तुम खुद पत्थर का जवाब पत्थर से नहीं देते। अन्याय, अत्याचार के प्रति अपने मन में क्रोध को तुरंत उत्पन्न करो। इस आग को कभी मत बुझने दो। तुम्हें अर्श की ओर देखने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

❐❐❐

4 अक्तूबर, 2022
मुझे सबकुछ देखना और समझना होगा

आज मैं शाम के समय बस से धुले गया था। लगभग साढ़े आठ बजे घर लौटा। धुले शहर में प्रवेश करने से पूर्व राष्ट्रीय मार्ग के ओवर ब्रिज के नीचे से होते हुए ही आगे बढ़ने के बाद कुछ मटन की दुकानें हैं। कुछ चीजें या दृश्य ऐसे होते हैं कि जब आप कुछ देख रहे होते हैं तो वे बीच में ही आ जाते हैं और एकदम से आप उन्हें अनदेखा नहीं कर सकते। आप ऐसे दृश्यों को देखने के लिए तैयार भी नहीं होते। पर कुछ तो देखना ही पड़ता है। मैं तो मेरी बस की खिड़की से बायोस्कोप की तरह बाहरी दृश्यों को देख रहा था और यह दृश्य एकदम से बीच में आ गया। मैं तो पहले समझा ही नहीं कि यह मैंने क्या देखा? उस दुकान के बाहर और लगभग रास्ते के निकट ही एक 13-14 वर्ष का लड़का बकरे की अधकटी गर्दन को अपने दोनों हाथों से मरोड़ रहा था। लगभग जैसे किसी पेड़ की टहनी को मरोड़कर तोड़ने का प्रयत्न किया जाए, वैसे ही। उस बकरे की गर्दन चाकू से पूरी कटी नहीं थी और उसके शरीर में कुछ चेतना भी थी। पर ऐसी हालत में अत्यंत क्रूरता से उसकी गर्दन को मरोड़ने जैसे दृश्य को एक या दो सेकेण्ड के लिए देखना भी मेरे लिए अत्यंत भारी और असह्य हो गया और मैंने ईश्वर से कहा कि तुमने मुझे आज यह सब क्यों दिखाया? मैं तो देखना नहीं चाहता था। मुझसे मृत्यु को देखना ही असहनीय होता है। पर ईश्वर क्या तू यह चाहता है कि मैं इस दुनिया की असलियत देखूँ? कुछ दिनों पूर्व मैंने ऐसे ही प्रवास में एक बैलगाड़ी को देखा था, जिसके एक बैल की कुहनी छिल गयी थी और उससे रक्त की धार निथर रही थी। फिर भी मालिक उसे आरी वाली लकड़ी से चुभोता ही जा रहा था। आज का वह बकरा या उस दिन के बैल ने इंसान के बारे में भला उस स्थिति में क्या सोचा होगा? मैं बचपन से ही कुछ अधिक संवेदनशील रहा हूँ और अत्यंत भावुक करने वाले प्रसंगों से बचता भी रहा हूँ। पर ऐसे अपने आपको बचाने से काम तो नहीं चलेगा। मुझे सबकुछ देखना और समझना होगा। कसाई का काम तो दुनिया के सबसे अधिक क्रूरतम और घिनौने कामों में से एक होना चाहिए। पर कसाई कभी इस काम को करने से ऊबता नहीं होगा क्या? वही छुरी, बकरे, रक्त, मांस और हड्डियों के टुकड़े करके बेचना और पैसे कमाना। वही दुर्गंध, वही गंदगी और वही भिनभिनाती मक्खियाँ। मैं तो अनेक बार अपने पढ़ाई-लिखाई के काम से भी ऊब जाता हूँ। कभी किसी एक अत्यंत एकांत क्षण में उस मनुष्य के मन में बकरे के प्रति प्रेम या करुणा के भाव का बिलकुल पैदा न होना ही इस दुनिया की असफलता है। मैं हत्या का उस समय ही समर्थक हो सकता हूँ, जब तक कि वह न्यायसंगत है। मच्छरों, कीड़ों, सांप-बिच्छुओं को अपनी सुरक्षा या हानि की स्थिति में ही मारने को न्यायसंगत माना जा सकता है। ऐसे पशु को मारना जो कि हमारे लिए दूर-दूर तक हानिकारक नहीं है, बल्कि उपकारक ही है और जिनके आँखों में हम अपना प्रतिबिंब देख सकते हैं, उन्हें मारने के लिए तो अहृदय या हृदयहीन ही होना पड़ेगा। अत्यंत घृणा या द्वेष या प्रतिशोध की स्थिति में हत्या करना स्वाभाविक हो सकता है। अखबारों में मैंने ऐसी हत्याओं की किस्से पढ़े हैं, जिसमें बोरी या ट्रंक में शव के टुकड़े करके भरना या तंदूर में टुकड़े करके जलाना आदि। लेकिन कसाई या उसके 13-14 वर्ष के बेटे का तो यह रोज का काम हो चुका है। हो सकता है, वह इस काम में सफल होने और तरक्की की दुआएँ भी अपने ईश्वर से माँगता होगा।

❐❐❐

11 अक्तूबर, 2022
सत्य और न्याय को नुकीले दाँत और नाखून क्यों नहीं

प्रतिदिन घर के द्वार के भीतर गिरने वाला समाचार-पत्र मैं उठाता हूँ और पढ़ता हूँ तो आक्रोश से भर उठता हूँ। यह समाचार-पत्र है या वस्तुओं के विज्ञापनों से भरा एक ढेर पत्र? जहाँ कुछ समाचार है, तो उनमें कुछ स्वस्थ और प्रसन्नता प्रदान करने वाला कुछ भी नहीं है। मुझे प्रतीत होता है कि अब मेरी हैसियत एक मनुष्य की कम बल्कि एक उपभोक्ता के रूप में सबसे अधिक बढ़ गयी है। अखबारों में मुझे तीन प्रकार के विज्ञापन सबसे अधिक बड़े देखने को मिलते हैं। लगभग पूरे एक पृष्ठ में व्याप्त यह विज्ञापन मुख्यतः कोचिंग क्लासेस के, ब्रांडेड ज्वेलरी के, मोटरगाड़ियों और रियल इस्टेट के। क्या अब यह दुनिया केवल खाने-पीने, घूमने-फिरने और मस्त रहने वाले लोगों की दुनिया बन चुकी है? कुछ वर्षों पूर्व मेरा एक रियल इस्टेट डेवलपर्स से परिचय हुआ था। मैंने बैंक और सोसाइटी से बाकायदा ऋण लेकर उनसे प्लाट खरीदा था। सोचा था कि कुछ निवेश होगा तो भविष्य में काम आएगा। अब जब भी मैं उनसे बात करता हूँ तो वे कहते हैं कि धंधा इतना मंदा चल रहा है कि जो वे प्रतिवर्ष सपरिवार बाहर विदेश यात्रा के लिए जाते थे, अब पिछले दो वर्ष से नहीं जा सके हैं। आश्चर्य है कि इस देश के धनिक वर्ग को पैसे कमाने और मौजमस्ती की पड़ी है, जबकि देश की अधिकांश प्रजा गरीबी, महँगाई, बीमारी, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार जैसी कितनी ही समस्याओं से पीड़ित है। अब मैं यह कौन-सी प्रजा की बात कर रहा हूँ? सभी ने अपने-अपने अनुकूल एक रास्ता बना लिया है। जब कोई एक व्यक्ति किसी दूसरे से ठगा या लूटा जाता है, तो वह व्यक्ति अपनी इस क्षति की पूर्ति को तुरंत किसी दूसरे को ठगकर या लूटकर लेवल करता है। मेरे एक मित्र हैं, जब उन्हें अपनी प्रमोशन के लिए एक शिक्षा अधिकारी को कुछ पैसा देना पड़ा, तो उन्होंने उसे आपत्तिजनक न मानते हुए कहा कि यह पैसा वे किसी और रास्ते से कमा लेंगे और लेवल कर लेंगे। देश के लगभग हर दस आदमियों में से नौ ने अपना तरीका चुन लिया है। परेशान सिर्फ वह एक आदमी है, जो यह समझ नहीं पा रहा है कि क्या किया जा सकता है।

क्या इस दुनिया को पूरी तरह से अच्छे आदमियों की दुनिया नहीं बनाया जा सकता? अच्छे यानी जीवन में नैतिकता को धारण करने वाले लोगों से है। मुझे लगता है कि मनुष्य के एक बड़े वर्ग को नैतिक और सभ्य वर्ग के रूप में बनाने की समस्या और चुनौती प्रत्येक युग में रही होगी और इसलिए हर युग में नैतिकता और अनैतिकता के बीच संघर्ष देखने को मिलता है। दुनिया कछुवे की गति से भी कम गति से अच्छी दुनिया बनने की ओर बढ़ती जा रही है, ऐसा विश्वास के साथ कहा जा सकता है क्या? मुझे अपने अब तक के जीवन में जितने भी छोटे-बड़े लोग मिलते रहे हैं, मैंने देखा कि वे प्रायः यही सोचते हैं कि वे ही अच्छे हैं और दूसरे गलत। यह धारणा या सोच भी बड़ी विचित्र है कि कोई भी स्वयं को गलत मानने को तैयार ही नहीं है। अपना ही पक्ष सही और न्यायसंगत है, यह सोच बड़ी खतरनाक होती है। यानी दुष्ट व्यक्ति भी अपने कुकर्म को न्यायसंगत बताने में संकोच नहीं करता और ऐसे लोग बड़ी शीघ्रता से संगठित भी हो जाते हैं। यह लोग भेड़िए की तरह संगठन में ही कार्य करते हैं और इसमें ही सुरक्षित रहते हैं। इनके हर व्यवहार या कृति में एक तीव्र क्रूरता का भाव होता है। ऊपर-ऊपर से एकदम से सच्चे और सुंदर दिखने वाले लोग, अपने लगने वाले लोग एकदम से पराये हो जाते हैं। आप प्रयास करके देखें कि सत्य और न्याय के पक्ष में खड़े हो जायें तो क्या होगा? आप तब ही जीत सकते हैं, जब आपके पास भी नुकीले दाँत और नाखून हों। परमात्मा ने सत्य को सिर्फ खुर, सींग और फुर्ती देकर सत्य की कितनी रक्षा की है, यह कुछ ठीक से कहा नहीं जा सकता। अच्छे लोगों को ताकतवर बनना पड़ेगा। सत्य और अच्छाई को शक्ति और क्रूरता शोभा नहीं देती, ऐसा निःसंदेह कहा जायेगा, लेकिन सत्य और अच्छाई सिर्फ डिफेंसिव होकर जीत नहीं सकती। उसे ऑफेंसिव यानी आक्रामक होना ही पड़ेगा।

❐❐❐

25 अक्तूबर, 2022

मेरी, आपकी, इसकी, उसकी, सबकी दिवाली

मैं बचपन से देखता आ रहा हूँ, दिवाली को। दिवाली आती है और खुशियों को लाती है, ऐसा कहना स्वाभाविक है। हम सभी सुख की प्राप्ति के लिए ही तो जी रहे हैं। लेकिन हम वास्तविक रूप से कब प्रसन्न होते हैं या होने चाहिए, यह एक अजीब-सा प्रश्न लग सकता है। बचपन में हमें नए कपड़ों, मिठाइयों और पटाखों की प्राप्ति को लेकर दिवाली में काफी खुशियाँ अनुभव होती थी। लेकिन सबसे अधिक तब होती थी, जब हम दिवाली के समय माता-पिता को अधिक खुश देखते थे। जब वे दिवाली के समय खुश होते थे और झगड़ा नहीं होता था, तो हमारी खुशियों की कोई सीमा नहीं होती थी। लेकिन जैसे ही उनमें कोई मनमुटाव हो जाये या कुछ अनबन हो जाये तो हम उदास हो जाते थे। फिर हमें पटाखे एवं नए कपड़ों में कोई मजा नहीं आता था और न लड्डू आदि खाने में। वस्तुतः प्रसन्न रहना ही हमारा जीवनपर्व है। हम अपने जीवन में खुशियों को पैदा कर सकने वाले छोटे-छोटे स्थानों को खोजने-पहचानने में कितने सफल हुए हैं पता नहीं? आश्चर्य की बात है कि धन हमें सुख प्रदान करने में सहायता प्रदान करता है। वह निश्चित ही खुशियाँ लाता है। नई-नई चीजों को खरीदने में धन हमें सहायता प्रदान करता है। बगैर धन के कोई प्रेम ही नहीं करता। धन तुम वास्तविक देवता प्रतीत होते हो। तुमने हमारे जीवन पर जन्म से लेकर मृत्यु एवं सिर के बाल से लेकर पैर के नाखून तक कब्जा कर लिया है। साँसें अनमोल हैं तुम नहीं, पर तुम न हो तो जीना भी कठिन लगता है। हे धनदेवता! तुमने हमारे जीवन को एक बड़ी सीमा तक नियंत्रण में कर लिया है। हम सभी तुम्हारी प्राप्ति, संचय और व्यय को लेकर विवश हैं। यह दीवाली जैसा प्रकाशपर्व जो ज्ञान का प्रतीक है और असत्य पर सत्य की विजय का भी। पर तुम्हारे सामने घुटने टेक चुका है। जिधर देखो उधर तुम्हारा ही प्रभाव और वर्चस्व है। तुम्हारी ही जय-जयकार है।

इस दीवाली के दो-तीन दिनों पूर्व से ही परिवार में खुशियों का आना शुरू हुआ। पहले स्वर्ण आया, फिर नए वस्त्र आये। प्रिय पत्नी, बच्चे सब खुश। फिर अचानक सौभाग्यवती को याद आया कि कुबेर ने तो अपने लिए कुछ लिया ही नहीं। फिर शर्ट्स और ट्राउजर को लेने की जिद हुई। ब्रांडेड ही लेने हैं तो इस बार ...इसी ब्रांड के ही आपको लेना है। बस क्या, मुझे भी थोड़ी हरारत हुई। इसलिए आनन-फानन में दो-तीन बार मार्केट में जाना हुआ। लोग जमकर खरीदारी करते हुए नजर आये। मैंने उस ...ब्रांड की शॉप से कुल पाँच हजार के लगभग ही वस्त्र खरीदे, जो कि एक बार में मेरे खुद के लिए खर्च हुई कुछ अधिक ही रकम थी। इस पर कुछ अप्रत्याशित प्रतिक्रिया देते हुए दुकानदार के मालिक ने कहा कि कल शाम एक व्यक्ति चौदह हजार के कपड़े लेकर गया है। अब आगे इसी रेंज के कपड़ों की कीमत बढ़ने वाली है। उसका आशय यह था कि मुझे कुछ ज्यादा खरीददारी करनी चाहिए। वाह रे दिवाली!

इसी दौरान बाजार में एक प्रसंग ने ध्यान खींच लिया। मैं जिस शॉप में था, उसमें एक परिवार भी आया। उस परिवार के साथ एक दरोगा भी थे। हमारे प्रदेश में दरोगा को फौजदार कहते हैं। वह यूनिफार्म और गन के साथ परिवार के साथ बाजार में घूम रहे थे। जैसे ही उन्होंने दुकान में प्रवेश किया तो मालिक उठ खड़ा हुआ। दुकान के अन्य नौकरवर्ग में भी एक विचित्र-सी विनम्रता और भय छा गया। मेरी ओर किसी का ध्यान ही नहीं रहा। संभवतः मेरे जाने के बाद चाय-पानी भी हुआ होगा। लेकिन इस प्रसंग में मुझे क्या सीखने को मिला पता नहीं। लेकिन वह प्रसंग और उसके चित्र मेरे मानस पटल पर अंकित हो गए और अन्वेषण का विषय बन गये। उस परिवार में जो दो-तीन महिलाएँ थीं, उनमें एक विशेष प्रकार की उच्चवर्गीय चेतना का आभास मुझे हुआ। संभवतः ऐसे ही ग्राहक दुकानदारों को अधिक प्रिय लगते हों, जो उनकी उम्मीद पर खरे उतरे सकते हों। आजतक के अपने इस नगर के निवास में मैंने यही अनुभव किया कि यहाँ के व्यापारी या अन्य बड़े-छोटे लोग मुझे एक ग्राहक से अधिक कुछ समझते ही नहीं है। इधर हिंदी के भी कई प्रकाशकों ने भी मुझे केवल ग्राहक ही समझा है। लेखक और पाठक के रूप में मुझे स्वीकार करने में उनमें संकोच ही मुझे नजर आया है, उत्साह नहीं। वे पुस्तकें बेचने के लिए संपर्क करते हैं, पर छापने के लिए नहीं। लगता है चीजों को बेचने वालों के लिए मनुष्य तो मनुष्य है ही नहीं। मुझे आज भी चीजों को बेचने को लेकर आत्महीनता का बोध होता है। लगता है यह कोई विशेष प्रामाणिकता का काम नहीं है। दृष्टि में भी लालच होता है और व्यवहार में कपट। जब मैं... ब्रांड के कपड़े खरीद रहा था, तो दुकानदार ने बताया कि इस ट्राउजर पर 20% की छूट है। मैंने उससे पूछा कि यदि आप नहीं बताते तो

मैं तो उसे एम०आर०पी० पर ही लेने जा रहा था। तो उसने कहा कि हम ऐसा नहीं कर सकते थे, क्योंकि बार कोड डालते ही आपको छूट मिलती। अब यह हुई न प्रामाणिकता। इस दिवाली पर जहाँ कुछ सीखने को मिला तो इस सीख में प्रसन्नता की अनुभूति भी हुई। यह अनुभूति सिर्फ मुझे ही क्यों हुई? कुछ कह नहीं सकता।

❐❐❐

9 नवंबर, 2022

हिंदी फिल्में यथार्थ को प्रस्तुत करने में चूक जाती हैं

कल इनॉक्स में सपरिवार 'रामसेतु' फिल्म देखी। मुझे लगता है कि विवाह के बाद के इन चौदह सालों में पहली बार मैंने मल्टीप्लेक्स में कोई फिल्म देखी। सुपुत्री नेहल का बहुत ही आग्रह था, फिल्म देखने का। मेरे बच्चे जिस तेजी से इस चकाचौंधभरी दुनिया के प्रति आकर्षित हो रहे हैं, उसे देखकर मैं थोड़ा-सा बेचैन जरूर हुआ हूँ। लेकिन नई पीढ़ी के साथ तालमेल बिठाने की नई आवश्यकता अनुभव करता हूँ। बच्चे अभी छोटे जरूर हैं, पर बड़े तेज लगते हैं। फिल्मों और उनके गानों के बारे में उनकी रुचियाँ अद्‌भुत लगती हैं। मेरे बचपन में भी मुझे फिल्मों में जरूर रुचि थी, पर पागलपन नहीं था। एक चार साल की लड़की का फिल्म ब्रह्मास्त्र का 'केसरिया' गीत पूरा कंठस्थ हो चुका है तो मैं हैरान हूँ। मुझे तो फिल्म का नाम तक पता नहीं है। इन गीतों में आध्यात्मिकता का अनुभव होता है, जिसे आप रहस्यवादी स्पर्श भी कह सकते हैं।

अच्छा, बात करनी है 'रामसेतु' की तो यह फिल्म मुझे कुछ विशेष गंभीरता या परिपक्वता से युक्त नहीं लगी। इस फिल्म का सबसे अच्छा पहलू यह है कि इसमें कोई प्रेमकथा नहीं है। लगता है हिंदी फिल्मों में अब प्रेमकथा की समाप्ति का दौर शुरू हो चुका है। इसे एक अच्छा संकेत कहना चाहिए। सच तो यह है कि हम वैसा प्रेम करते भी नहीं हैं, जैसा आमतौर पर हिंदी फिल्मों में दिखाया जाता है। अपनी निजी जिंदगी में तो अभिनेताओं, निर्देशकों, संगीतकारों आदि को भी ऐसा प्रेम करना संभव नहीं होगा। मुझे यह समझ में नहीं आया कि यह फिल्म बनाई क्यों गयी है और इसके द्वारा निर्देशक क्या कहना चाहता है या संदेश देना चाहता है? यद्यपि यह फिल्म बहुत ही अच्छे ढंग से बनाई जा सकती थी। जिस तरह से पुरातत्व विभाग की भूमिका, कार्यशैली और जवाबदेही को इस फिल्म में चित्रित किया गया है, वह मुझे नाटकीय प्रतीत होता है। उस पत्थर की तलाश करना कि जो पानी पर तैरता है और मानव निर्मित है और इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि राम ने ही यह सेतु बनाया है, कुछ असंगत प्रतीत होता है। यदि देखा जाए तो यह पुल आज के समय में भी पानी पर तैरते हुए होना चाहिए था। पर ऐसा नहीं है। यह सेतु या पुल आज भी समुद्र के तल पर

स्थित है। तैरता हुआ नहीं है। मैंने भी अभी हाल ही में पंचमढ़ी की यात्रा में जटाशंकर की गुफा में जाने वाले रास्ते पर हनुमान जी के मंदिर में यह पत्थर देखा और इसे अपने हाथों से उठाया भी। यह पत्थर आम पत्थरों से बिलकुल भिन्न है।

मुझे लगता है कि रामायण में महर्षि बाल्मीकि ने नल और नील के द्वारा पत्थरों के तैरने की जो कहानी लिखी है, वह कुछ अज्ञान या भ्रम से युक्त हो सकती है। राम ने पुल या सेतु अवश्य बनाया परंतु वह समुद्रतल में मिट्टी-पत्थरों का भराव करके बनाया होगा, जहाँ पर तल अधिक गहरा नहीं होगा। यह काम करना मुश्किल ही नहीं बल्कि असंभव भी प्रतीत होता है। अतः मुझे लगता है कि इसे एक अलौकिक स्पर्श दिया गया हो।

अब रामसेतु को वास्तव में देखने की इच्छा प्रबल हो रही है। फिल्म के अभिनेता का पानी में तैरने और डूबने के बाद सकुशल सतह पर आने पर बायफोकल चश्मे का चेहरे पर सही सलामत होना हैरत में डालता है। सफेद दाढ़ी वाले 50-55 वर्ष के अभिनेता के बच्चे का दस-ग्यारह वर्ष के होने की बात भी कुछ हजम नहीं होती। इस पर तुक्का यह कि संजीवनी बूटी को भी खोज लिया गया है, बल्कि इस बूटी का पौधा उखाड़कर भी दिखाया गया है। पता नहीं हिंदी फिल्में यथार्थ को प्रस्तुत करने में क्यों चूक जाती हैं? इस तरह के दृश्य हास्यास्पद प्रतीत होते हैं।

❐❐❐

18 नवंबर, 2022

हिंदी की पुस्तकें, साहित्यकार और मेरे संबंध

मुझे धुँधली-सी याद है कि अपने स्कूली पढ़ाई के दिनों में जब मैं संभवतः सातवीं या आठवीं कक्षा में रहा हूँगा, मुझे धीरे-धीरे साहित्य के प्रति रुचि होने लगी थी। मैं गणित, अंग्रेजी या विज्ञान की अपेक्षा संस्कृत और हिंदी में अधिक रुचि लेने लगा था। उस समय श्री एल.एम. आग्रे नामक एक वरिष्ठ अध्यापक हमें एक साथ संस्कृत और हिंदी पढ़ाते थे। अभी-अभी मेरे एक स्कूल के मित्र ने मुझे बताया कि मैं आग्रे गुरूजी द्वारा कहा गया कोई भी होमवर्क समय पर लिखकर लाता था और बहुत ही अच्छे ढंग से। इसके कारण आग्रे सर मेरी प्रशंसा करते थे और अन्य छात्रों को दंडित करते हुए मेरा उदाहरण देते थे। बचपन के दिनों के मित्रों में छोटे-बड़े झगड़े या नोक-झोंक होती है, पर रंजिश नहीं होती। मुझे बचपन से साहित्य में रुचि होने के कारण मैं साहित्य की पुस्तकों को पढ़ने में अधिक समय देता था। इसके लिए मेरा मैथ और विज्ञान प्रारंभिक दिनों में कच्चा अवश्य रहा। पर दुर्भाग्य से हमें यह कोई नहीं बताता था कि साहित्य में भी करियर किया जा सकता है या वह भी कोई महत्वपूर्ण चीज है। आज स्कूल के उसी मित्र ने मेरी साहित्य के प्रति रुचि, निष्ठा या प्रतिबद्धता को अनावश्यक बताया। हमारे देश का यह बड़ा दुर्भाग्य है कि आज भी लोग शिक्षा या ज्ञान की वास्तविक अवधारणा को समझ नहीं पाए हैं। देश के अधिकांश लोगों को पता नहीं है कि आर्ट्स कॉलेजेस में दी जाने वाली साहित्य और सामाजिक विज्ञान की शिक्षा का मनुष्य के जीवन में कितना महत्व है। देश में ऐसे हजारों महाविद्यालय हैं, पर मुश्किल से दो प्रतिशत से भी कम में कोई अच्छा साहित्यकार या चिंतक पैदा हुआ हो।

खैर, कुछ दिनों पूर्व ही अंतिका प्रकाशन से बहुत ही महत्वपूर्ण बारह पुस्तकों का एक सेट मुझे प्राप्त हुआ। प्राप्त हुआ मतलब मैंने यह पुस्तकें खरीदी हैं। इन पुस्तकों में से जिन दो पुस्तकों में मुझे सबसे अधिक रुचि थी, वह है बलराज पांडेय की 'डायरी में साहित्य' और निदा नवाज की 'सिसकियाँ लेता स्वर्ग'। यह दोनों डायरी विधा की पुस्तकें हैं और अपनी विषयवस्तु के कारण पाठक का ध्यान आकर्षित करती हैं। निदा नवाज कश्मीर के लोकप्रिय कवि हैं

और उनकी यह डायरी कश्मीर की तत्कालीन स्थिति, सामाजिक और धार्मिक परिवेश और समस्याओं को समझने में सहायक तो है ही पर इसमें वह भी है, जो प्रायः लोगों को दिखाया नहीं जाता।

बलराज पांडेय की डायरी में अक्टूबर 2001 से लेकर मार्च 2013 तक के हिंदी के साहित्यिक परिवेश, अकादमिक और साहित्यिक गतिविधियों और सरोकारों का लेखा-जोखा मिलता है। जब मैं कभी साहित्यिक सरोकारों या साहित्यकारों के संस्मरणों पर आधारित पुस्तकें पढ़ता हूँ तो मुझे आश्चर्य होता है कि इन साहित्यकारों के परस्पर संबंध इतने खुले, गाढ़े, घनिष्ठ और तरल कैसे हो सकते हैं? एकदम रसोई तक पहुँचने तक के यह संबंध मुझे कुछ असामान्य प्रतीत होते हैं। ऐसे संबंध तो कभी मेरे अपने संबंधियों से भी नहीं रहे हैं। आजतक न मैं किसी साहित्यकार मित्र से न इतनी घनिष्ठता बनाने में सफल हुआ हूँ न किसी सामान्य मित्र से। क्या यह सब लिखा हुआ सच होता है?

❐❐❐

25 नवंबर, 2022 (शुक्रवार)
मैं कई हिस्सों में बंट गया हूँ

आजकल मैं यह क्या देख रहा हूँ कि मेरे कई सारे हिस्से बन चुके हैं। चूँकि एक शरीर के रूप में मैं लोगों को एक इकाई के रूप में नजर तो आता हूँ और यह स्वाभाविक भी है। लोगों को मैं वैसे बिलकुल भी दिखाई नहीं दूँगा, जैसे कि मैं अपने आपको देखता हूँ और जैसे मैं अपने आपको देखता और समझता हूँ, वैसे ही लोग मुझे देखें और समझें, ऐसी उम्मीद मुझे रखनी भी नहीं चाहिए। मैंने हमेशा यह गौर किया कि लोग वह क्यों नहीं देखते जो मैं हूँ। उत्तर यह मिला कि लोग वही देखते हैं, जो देखना चाहते हैं। इसलिए ठीक से समीक्षा नहीं हो पाती। पुस्तकों के बारे में भी यही हालत है। कुछ समीक्षक पहले से तय कर लेते हैं कि यही देखना है और यही दिखाना है। असल चीज जो देखनी चाहिए, वह देखी ही नहीं जाती। लेखकों के भी यही हाल हैं। वे लिखते तो बहुत कुछ हैं, पर बाद में उन्हें लगता है कि जो लिखना चाहिए था, वह तो अब तक लिखा ही नहीं। बड़ी क्षोभ से भरी स्थिति होती है यह।

अच्छा, तो मैं यह कह रहा था कि मैं कई हिस्सों में बंट गया हूँ। मेरे समझ में अब यह आने लगा है कि जितने लोग मेरे आसपास हैं, उतने मेरे हिस्से बन गए हैं। हर किसी ने अपने-अपने हिसाब से और अपने-अपने अनुकूल-प्रतिकूल मतलब के अनुसार मुझे एक तो स्वीकार कर लिया है या अस्वीकार। यद्यपि इसका मुझ पर कोई फर्क तो पड़ नहीं रहा है। मैं अपने परिवेश के लोगों को लेकर अब अधिक गंभीर नहीं बनना चाहता। वैसे मुझे अपने परिवेश से संबंधित लोगों पर कोई टिप्पणी करने या उनके बारे में सोचते रहने का कोई समय नहीं है। मुझे अब उनमें रस भी नहीं है। मुझे बहुत-से लोगों से मिलने पर बोरियत होती है। खाने-पीने, घूमने, बातें करने के बीच मुझे लगता है कि मैं जीवन के किसी उम्दा क्षण को पकड़ लूँ और शिद्दत से उसे जी लूँ तो अधिक उत्तम होगा। कल जब मैं अपने कुछ हिंदी अध्यापक दोस्तों के बीच में था, तो मैंने कहा कि भाई कोई चाय तो पिलाओ। तीन बजे से यहाँ हूँ, किसी ने चाय-पानी तक नहीं पूछा और फिर मजेदार बहसें शुरू हो गयी। वह क्षण जिंदा हो गया। वहाँ सभी के लिए काजू-बादाम आदि टेबल पर रखे थे। लेकिन उसकी मेरे मन में कोई चाह नहीं थी। मेरी तो चाह चाय थी। पता नहीं उन्होंने क्या सोचा होगा? मुझे हर जगह जीवन और साहित्य खोजने की बीमारी लग गयी है।

किसी ने आज मुझे कहा कि सर, आपने प्राचार्य पद के लिए क्यों नहीं आवेदन किया? तो उसी समय एक बंदे ने कहा कि सर, आपके लिए यह पद योग्य नहीं है। पहले वाला उससे सहमत हो गया। पता नहीं उन्होंने मेरे व्यक्तित्व को किस तरह से लिया। मैं कोई बहुत करेक्ट आदमी तो नहीं हूँ। करेक्ट होने के लिए भी एक दिखावा करना पड़ता है या पाखंड रचना पड़ता है। यह कला मुझमें है नहीं। आश्चर्य हुआ कि यहाँ भी मेरा एक हिस्सा बना लिया गया है। लोग तय करेंगे कि आपको क्या सूट होता है। आपको खुद तय करने नहीं देंगे। संभव है, ऐसा बहुत बड़े पदों के लिए भी होता हो। बहुत-से लोग दुनिया का कल्याण करने की जिम्मेदारी से इसी तरह हटा दिए जाते हैं।

मैं गाँव गया, रिश्तेदारों में गया, पुराने मित्रों में गया, कॉलेज में गया, कालोनी में गया तो वहाँ मेरा एक हिस्सा पहले से तोड़कर रखा हुआ था। उसमें मैं भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। मैंने फिर यह गौर किया कि मेरा हिस्सा वहाँ नहीं बनाया जा सका, जहाँ मैं बिलकुल नया था। जहाँ कोई मुझे नहीं जानता था। अपरिचितों के बीच ही मैं हिस्सों में नहीं बंट सका। वह भी ज्यादा से ज्यादा दो-तीन दिन तक ही। थोड़ा-सा परिचय बढ़ते ही फिर मेरे हिस्से बनना या बनाना शुरू हो गया।

❐❐❐

21 नवंबर, 2022

इंतहा हो गयी...

एक प्रश्न प्रायः मेरे सामने यह उपस्थित होता है कि जीवन के किस मोड़ पर मृत्यु को अधिक वरेण्य या स्वीकार्य माना जा सकता है? मुझे लगता है कि जब तक किसी एक इंसान को भी इस संसार में आपकी आवश्यकता अनुभव होती है या उसे आपसे प्यार है, तब तक जीवित रहना आपका अधिकार बनता है। ईश्वर को ऐसे मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जब आपकी उपस्थिति या प्रेम की किसी को भी आवश्यकता न हो और आप हर मामले में नितांत गैर जरूरी बन गए हों, तब आपका इस संसार से उठ जाना ही अधिक बेहतर है। इसमें संसार का ही कल्याण है। पर नियम यह होना चाहिए कि जब तक किसी एक को भी आपकी जरूरत है, आप न मर सकें। मैंने कुछ दिनों पूर्व एक बंदरिया और कुतिया का वीडियो देखा था। बंदरिया की गर्दन किसी शेरनी के जबड़ों में थी और उसके निष्प्राण-निढाल शरीर से उसका बच्चा चिपका हुआ था। वह कुतिया सड़क किनारे किसी गाड़ी की चपेट में आने से खत्म हो चुकी थी, पर उसके दो-तीन बच्चे सूखे स्तनों को चूसे जा रहे थे। मैं यह नहीं देख सकता प्रभु। जरूरत हो तो मत मारो। पर ऐसा न कभी हुआ है न होगा। यह तो इंतहा हो गयी।

बहुत ही इंतहा है यह। आज सुबह मैं बच्चों को लेकर मॉर्निंग वॉक निकल गया। नौंवी कक्षा के एक बालक की कल घर में ही किसी दुर्घटना में करुण मृत्यु होने के कारण आज स्कूल से बच्चों को छुट्टी घोषित हुई थी। लगभग तीन मील चलने के बाद बच्चे थक गए और लौटने की माँग करने लगे। लौटते हुए फरमाइश हुई कि घर पहुँचते ही पाव, ब्रेड या बिस्किट के साथ चाय लेंगे। बिटिया ने कहा कि घर में कुछ नहीं है। जाते समय ही कुछ लेना होगा। मैं तो बटुआ घर ही भूल गया था, तो मुझे फारुख भाई की याद आयी। उनका घर रास्ते में ही पड़ता था और उन्होंने एक छोटी किराना दुकान खोल रखी थी। मुझे लगा कि यहीं से ब्रेड-बिस्किट्स लेंगे। पैसे बाद में दिए जा सकते थे। मैं जैसे ही उनके घर के निकट पहुँचा तो देखा कि घर के सामने छोटा सफेद टेंट लगा हुआ है। टेंट के नीचे दो बंदे खड़े हैं और कुछ काम और बातें कर रहे हैं। घर के मुख्य द्वार

के निकट बहुत-से जूते और चप्पलें बिखरी पड़ी हैं। मुझे लगा कि कुछ ठीक तो नहीं है, पर ऐसा बुरा भी क्या हो सकता है? जैसे ही मैं उन लोगों के पास पहुँचा और पूछने लगा कि फारुख भाई कहाँ हैं? तो वे मेरी ओर हैरानी से देखने लगे। मैंने फिर पूछा तो एक बंदे ने कहा कि सर, वे तो कल ही एक्सपायर हो गए। मैं कुछ क्षणों के लिए स्तब्ध हो गया। यह मेरे जीवन का पहला ऐसा प्रसंग था, जब मैं किसी व्यक्ति से मिलने उसके घर पहुँचा हूँ शिद्दत से मिलने और घर वाले यह कहें कि वे अब इस दुनिया में नहीं है। मैंने कहा कि यह क्या कह रहे हो भाई? यह कैसे हो सकता है? अभी तो परसों मैं उनसे मिला। उसने कहा कि हाँ सर, शनीचर को सुबह ही चार बजे उन्हें दिल का दौरा पड़ा। पहले कै हुई और हम जब तक उन्हें अस्पताल ले जाते तब तक बहुत देर हो चुकी थी। इस सामने वाली पुलिया के पास ही उनकी जान निकल गयी।

फारुख भाई पिछले वर्ष जनवरी में ही मेरे संपर्क में आये थे, जब मैं कोंकण यात्रा के लिए उनकी इनोवा को हायर करने उनके घर पहुँचा था और उनसे पहली बार मिला था। आर्मी से ड्राइवर की नौकरी से रिटायर्ड हुए फारुख भाई की आज की उम्र 43-44 वर्ष के आसपास थी। वे मेरे जीवन के पहले फौजी मित्र थे। वे दिखने में एकदम स्वस्थ और फुर्तीले इंसान थे। एकदम युवा और भले-चंगे। मेरे घर के पास वाली कालोनी में ही वे अपनी पत्नी, वृद्ध बीमार माँ और दो बच्चों के साथ रहते थे। मकान में उन्होंने कुछ अधिक कमरे बनाकर किराए से चढ़ा रखे थे। वे अपनी इनोवा किराए से सिलेक्टेड लोगों को देते थे और स्वयं ड्राइव करते थे। यद्यपि उन्हें पेंशन मिलती थी, पर इनोवा भी उनकी आजीविका का एक वर्तमान साधन थी। उनकी बातचीत, व्यवहार में वे अत्यंत शालीन, विनम्र, मिलनसार और निरंतर एक सहयोगी की भूमिका में उपस्थित होते थे। देखने में और बोलने में वे अन्य मुसलमानों से एकदम भिन्न प्रतीत होते थे। उनमें अपने धर्म के प्रति कट्टरता के भाव की अनुभूति नहीं होती थी। यही कारण भी था कि वे अधिकांश हिंदू परिवारों के सान्निध्य में अपने निवास को कायम करने में सफल हो सके। मुझे उनमें नित्य एक दीर्घ मित्रता से युक्त संबंध के बनने की संभावना अनुभव होती थी। वे किसी भी मुश्किल समय में और आधी रात को भी अपनी सेवा देने में संकोच नहीं करते थे। भीषण कोविड त्रासदी में भी अनेक जरूरतमंद लोगों को उन्होंने अस्पताल पहुँचाया था। लॉकडाउन के समय में उन्होंने पुणे और मुंबई में भी अस्वस्थ लोगों को भर्ती किया था। वे मुझे अत्यंत

विश्वास के साथ कहते थे कि उन्होंने कभी मास्क नहीं लगाया। यह भी उतना ही सच है कि उन्हें कुछ भी नहीं हुआ। जबकि मैंने नित्य मास्क लगाया और लोगों से दूरी भी बनाकर रखी पर कोरोना ने मुझे चपेट में लिया ही था। वे तब भी एकदम स्वस्थ थे और आज भी थे।

फारुख भाई में मुझे एक विशेष प्रकार की बौद्धिक और मानसिक परिपक्वता की अनुभूति होती थी। उनमें सामाजिक संबंधों को निभाने की अद्वितीय प्रतिभा थी। कोई भी उनसे बातचीत करके उनके सानिध्य के प्रति आकर्षित हो सकता था। उनकी बातचीत करने की शैली अत्यंत शांत और सलीकेदार थी। वे जमावड़े में रहने वाले इंसान नहीं थे। वे मुझे नित्य कहते थे कि गलत और बुरे लोगों के साथ रहने की अपेक्षा मैं अकेला रहना अधिक पसंद करता हूँ। कई बातों और आदतों में उनमें और मुझमें अद्‌भुत समानता थी। वे भी मुझे कई बार कहते थे कि सर, आपसे मिलकर मुझे भी खुशी होती है। मैं जब उनसे मिला तो वह एक अजीब ही संयोग था। जबकि इस नगर में मुझे रहने को बीस साल हो रहे थे और दुर्भाग्य से लगभग 22 महीने की हमारी मित्रता की अल्पायु रही। मुझे जीवन में इसका हमेशा दुःख बना रहेगा और कमी भी।

इसी वर्ष एक जनवरी को अपनी कार की डिलीवरी लेने के लिए जब मुझे जलगाँव जाना था, तो मैं इस तलाश में था कि किस मुकम्मल बंदे को ले जाऊँ? मित्र और परिचित तो कई थे, उनके पास गाड़ियाँ भी थी, पर पता नहीं क्यों मेरी उनसे वैसी निकटताएँ नहीं बन पायी थी कि मैं अपने जरूरत के समय उनकी सेवा ले सकूँ। परिवार के बीच किसी नए व्यक्ति रूप में फारुख भाई को जोड़ना मुझे निःसंदेह उपयुक्त प्रतीत हुआ। मेरी पत्नी को भी उनके सानिध्य में एक निश्चिन्तता और सुरक्षा अनुभव होती थी। कोंकण यात्रा में फारुख भाई का सहयोग वह देख चुकी थी। मैंने नवंबर-21 में ही ड्राइविंग क्लास लगाया था और मात्र 21 दिन के प्रशिक्षण के बाद मुझमें कार ड्राइव करने का साहस उत्पन्न हुआ था, जिसके प्रति नीता (पत्नी) को उतना भरोसा नहीं था। केवल सुरक्षा के लिए हमें एक व्यक्ति की जरूरत थी कि यदि मैं ठीक से ड्राइव न कर पाऊँ तो कोई गाड़ी घर ठीक से पहुँचा सके। वैसे तो शो-रूम से भी मुझे ड्राइवर देने की पेशकश की गई थी। मैंने फारुख भाई को फोन किया और वे झट से तैयार हो गए। दोपहर 2 बजे मैंने अपनी X16 का स्टेयरिंग अपने हाथ में लिया। फारुख भाई बायीं सीट पर बैठे। पिछली सीट पर नीता और बच्चे। शो-रूम का स्टाफ चिंतित था। सेल्स

प्रबंधक आमिर खान भी कुछ आश्वस्त न थे। फारुख भाई को कोई शंका न थी और न डर। मैंने घनी ट्रैफिक से गुजरते हुए भुसावल रोड के एक फैमिली होटल में गाड़ी रोकी। हम सभी ने मिलकर लंच किया। फिर कार मैंने ही चलाई। शाम में 5 बजे के आसपास RTO नंबर मिला। 05:30 के आसपास मैं अपनी कार लेकर श्रीगणेश मंदिर पदमालय पहुँचा। पूजा हुई। उन्होंने मंदिर में गणेश भगवान के दर्शन किए। माथे पर तिलक भी लगाया और नारियल का प्रसाद भी ग्रहण किया। वे मुझे अपने जीवन में आने वाले पहले उदार मुसलमान प्रतीत हुए जिस पर मुझे गर्व है। उनकी जो सबसे खास बात मुझे यह लगी कि लगभग 85 किमी० की ड्राइव में रात 9 बजे के लगभग घर पहुँचने तक कभी उन्होंने मुझे कोई अदद सूचना तक नहीं की, बल्कि गाड़ी की स्पीड और बढ़ाने को कहा। स्पीड ब्रेकर पर जिस तरह मैं गाड़ी धीमी करता तो वे मेरी तारीफ करते। मुझे उन्होंने एक क्षण के लिए भी टोका नहीं। कहीं भी उन्हें मेरी ड्राइविंग में कुछ असंगत नहीं लगा। मैंने उनसे तब सच्ची अध्यापकी सीखी। उन्होंने तो सबसे पहले मुझमें ड्राइविंग के प्रति आत्मविश्वास जगाया और डर को निकाला। मैंने उनके व्यवहार और आचरण से बहुत कुछ लिया, जो पहले मुझमें नहीं था।

वे अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। ग्रेजुएट तो बिलकुल भी नहीं। पर उनमें कमाल की सूझ-बूझ और व्यवस्था थी। ऐसी तो मुझे बड़े-बड़े प्रोफेसरों, डॉक्टरों और रचनाकारों में भी नजर नहीं आयी। लगता है एक अच्छे इंसान होने और पढ़ने-लिखने का कोई विशेष संबंध नहीं है। फारुख भाई आयु में मुझसे लगभग 6-7 वर्ष ही छोटे होंगे। उनको देखकर मुझे लगा कि अधिक पढ़ना और ऊँची डिग्रियाँ लेना जीवन में बहुत जरूरी नहीं है, बल्कि जरूरी है, नित्य सामान्य बने रहना। सेना की नौकरी में भी उनके अपने मित्रों और अधिकारियों से निश्चित मधुर संबंध रहे होंगे। वे किसी बात का प्रतिरोध नहीं करते थे और न अपने मतों का दुराग्रह प्रकट करते थे। उनमें कमाल का सामंजस्य था। मुझमें यह नहीं है और समय पड़ने पर मैं प्रतिरोध करता हूँ।

उनके दोनों बच्चे छोटे हैं। बड़ा दसवीं कक्षा में है और छोटा शायद पाँचवी में। माँ घर में बिस्तर पर लेटी हुई है। वे हमेशा कहते थे कि माँ की अस्वस्थता के कारण वे बाहर नहीं रह सकते। वे पहली बार कोंकण यात्रा में केवल मेरे लिए अपने घर से आठ दिन बाहर रहे थे। बच्चों की शिक्षा के प्रति बहुत गंभीर थे। जिस दिन उनकी गाड़ी की कोई वर्दी नहीं होती, उस दिन वे अपने बच्चों का

नियमित होमवर्क लेते। इधर-उधर निरर्थक घूमने की अपेक्षा वे परिवार को समय देना अधिक बेहतर समझते थे। इसलिए उनके टाइम पास मित्र नहीं थे। जो भी थे वे चुनिंदा, सच्चे और ईमानदार। फारुख भाई को कोई खराब आदतें नहीं थी। खान-पान संतुलित था। मांसाहार के प्रति भी उनमें अधिक आकर्षण नहीं था। कोंकण के हरणे बंदरगाह पर मछली बाजार में घूमना और ताजी सुरमई मछली और प्रॉन्सकरी का आस्वाद वे हमेशा याद करते थे। मछली खाने से पूर्व जब मैंने ब्लेंडेड प्राइड की चुस्कियाँ ली थी और उनसे प्यार भरा आग्रह किया था, तो उन्होंने स्वयं परहेज किया था। बहुत ही व्यवस्थित जीवन था भाई आपका। क्या करें? अल्लाह की इंतहा तो बेशक हुई है। प्यारे दोस्त! तुम हमेशा याद रहोगे। जिंदगी में मेरे अब किसी खाली कमरे की तरह।

❐❐❐

5 दिसंबर, 2022
कुछ भी विश्वसनीय नहीं है

पिछले दो-तीन वर्षों में मेरे साथ कुछ ऐसे वाकयात हुए कि मुझे अपनी जिंदगी पर कई बार गौर करने की जरूरत महसूस हुई। अपनी जिंदगी के जीने के ढंग पर गौर करना चाहिए, ऐसा मुझे कई बार लगा। मुझे मेरे विवेक और समझ के अनुसार जो चीजें ठीक नहीं लगी, उनके विपक्ष में मैंने बोला और मैं खड़ा भी हुआ। जहाँ मैंने कुछ असंगत, अनुचित और अमानवीय देखा मैंने उसकी जोर-शोर से शिकायत भी की। मैंने तब यह नहीं सोचा कि कोई सहारा या प्रोटेक्शन मेरे पीछे है या नहीं। मैं आजतक किसी बैनर को साथ लेकर नहीं लड़ा। एकदम अकेला जिसे 'एकला चालो रे' के तर्ज पर आप ले सकते हैं। आज भी मैं किसी राजनीतिक, गैर-राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षिक या सांस्कृतिक संगठन से संबद्ध नहीं हूँ। मुझे अब भी यह लगता है कि यदि मुझे यह बताया जाए कि एक-दो दिन के बाद तुम्हारी मौत हो सकती है, तो क्या इतने कम समय के लिए भी तुम न्याय के पक्ष में खड़े रह सकते हो? या फिर निराश होकर यह फैसला करोगे कि छोड़ दो भाई, दो दिन में क्या होगा? मैं तो नहीं छोडूंगा। कुछ हो या ना हो, लेकिन कुछ करूँगा जरूर। क्यों नहीं करना चाहिए?

मैंने अपनी जिंदगी पर गौर क्या किया? तो वह यह किया कि मुझे जो आजतक सुख-दुःख, आशा-निराशा, सफलताएँ-असफलताएँ मिलती गयी, तो उसमें मैंने ऐसा क्या प्राप्त किया जिस पर मैं गर्व कर सकता हूँ? खुद अपने ऊपर गर्व की बात करने जैसा मेरी जिंदगी में कुछ भी तो नहीं है। मेरे कुछ मित्र इधर के कुछ वर्षों में काल की भेंट चढ़ गए। मैं जब उन्हें मिलता, उनके साथ घूमता, बातें करता तो यह देखता कि उन्हें रत्तीभर भी यह आशंका नहीं थी कि उनकी आयु कुछ ही महीनों की बची है। ऐसे ही कुछ जिस्म में हरारत हुई, कुछ मामूली-सी तकलीफ हुई और वे इसी वहम के शिकार हो गए कि उन्हें कुछ नहीं हो सकता। मैं क्या देख रहा हूँ कि सत्तर-अस्सी के कई गैर जरूरी लोग पैर घसीटते हुए भी जिंदा हैं और तंदुरुस्त भाग-दौड़ करने वाले बेशकीमती लोग अचानक से खत्म हो गए, जैसे टिमटिमाते दीपक फूँक मारकर बुझा दिए गए हों। तो मुझे लगता है कि इस खेल में ही बहुत बड़ी गड़बड़ है, तो क्यों नहीं इस खेल को अपनी शर्तों पर खेला जाए। जब मैं युवा था और कॉलेज की पढ़ाई कर रहा था, तो दोपहर में नियमित रेडियो सुनता। उस समय मैंने एक हिंदी अभिनेता का साक्षात्कार सुना था, जिसमें उन्होंने बताया था कि आप अपनी जिंदगी को ट्रेन की तरह जियो। ट्रेन जिस तरह से दौड़ती चलती है कि लगता है कि पटरी अब उखड़ी या तब उखड़ी पर उसी तेज गति से धड़धड़ाते हुए गुजर जाओ। किसी ने गाली दी, मान न दिया, अपमानित किया या महत्व न भी दिया तो भी इसे बहुत दिल से न लगाना। आगे बढ़ते जाना। तिरस्कार, अपमान, अवहेलना आदि को महसूस ही नहीं करना। यदि सामने वाले को ऐसा लगे कि आप एक कायर आदमी हैं तो ऐसी स्थिति में चुप भी नहीं रहना। 'हारे को हरिनाम' जैसी जिंदगी को जीना तो मरने के समान ही है। कल किसी संत के प्रवचन को अखबार में पढ़ा। वे कह रहे थे कि आजकल अधिकांश लोग संपत्ति, पद और प्रतिष्ठा की प्राप्ति को लेकर दुःखी और निराश हो रहे हैं। यह तीन चीजें जीवन में नहीं भी मिलती हैं, तो चलता है। अच्छा, आज से पचास वर्षों पूर्व जिन लोगों के पास पद, प्रतिष्ठा और संपत्ति तीनों थे, आज उनके पास क्या है? मान लीजिए कि आपके सगे-संबंधियों, अनुयायियों ने आपका पुतला या मंदिर बना भी लिया तो क्या विशेष हुआ? जो मर गया, उसको इसका क्या फायदा? आजकल मेरे बहुत-से दोस्त पैसे कमाने के लिए कितना कुछ मेहनत कर रहे हैं। शेयर्स, सोना और खेती खरीदना, झूठ बोलकर कमीशन से पैसे कमाना, प्यार और मित्रता में एक-दूसरे को ठगना। आसक्ति होनी चाहिए, लेकिन किसकी और कितनी यह कौन बताएगा? जो भी है, वह बहुत है, पर्याप्त तो है ही इसकी समझ सभी में कैसे विकसित होगी? इसमें प्रत्येक व्यक्ति का संतुष्ट न होना ही बड़ी समस्या है। दुनिया के सबसे अमीर व्यक्तियों की सूची हर वर्ष जारी होती है। कई लाख करोड़ की उनकी संपत्ति है, पर आप बने तो हाड़-मांस-चमड़े से ही हो न भाई। कोई अति विशिष्ट मटेरियल से तो आप बने नहीं हो। करोगे क्या अपने लिए इसका। धन या संपत्ति का भी किसी एक व्यक्ति के आसपास एकत्रित हो जाना बड़ी समस्या है। विश्व के विचारशील लोगों को इस समस्या की ओर ध्यान देना चाहिए कि कैसे संपत्ति का विकेन्द्रीकरण करके इसको केवल मनुष्यकल्याण के लिए ही नहीं बल्कि पशु-पक्षी और प्रकृति के कल्याण में भी उपयोग में लाया जा सकता है? कई लाख करोड़ रुपये खर्च करके छह लेन और आठ लेन के रास्ते बनाये जा रहे हैं, लेकिन खेतों और स्कूलों में जाने के लिए ठीक से रास्ते नहीं हैं। यह कौन

सोचेगा कि किस काम की पहली जरूरत है? अस्पतालों, स्कूलों और तीर्थस्थानों की दुर्दशा की ओर कौन ध्यान देगा? मुझे लगता है कि इस संसार में कुछ भी विश्वसनीय नहीं है। सबकुछ तात्कालिक है। इस अविश्वसनीयता, तात्कालिकता और नश्वरता के बीच में हमें जीवन जीने के वास्तविक सूत्र को पकड़ना है। पता नहीं कैसे?

❐❐❐

8 दिसंबर, 2022

पराया धन, पराई नार पे नजर मत डालो

मनुष्य-मनुष्य के परस्पर व्यवहारों के बीच ईर्ष्या, घृणा, प्रतियोगिता, द्वंद्व, द्वेष आदि भावों को कभी नष्ट नहीं किया जा सकता। शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति आदि के क्रमशः विकास के बावजूद भी यह तमाम भाव अधिक दृढ़ हुए हैं, बल्कि फले-फूले हैं। शिक्षाजगत में मैंने इन भावों को काफी निकटता से अनुभव किया है। किसी को नियुक्ति या प्रोन्नति नहीं मिलनी चाहिए, चयन नहीं होना चाहिए या यदि कोई पी०एच०डी० कर रहा हो तो उसमें बाधा डालने या अकारण विलंब करवाने की अनेक दुरभिसंधियों से यह क्षेत्र भरा है। मेरी सहयोगी प्राध्यापक पद हेतु प्रोन्नति नहीं होनी चाहिए, इसके लिए भी कुछ अज्ञात तत्वों ने विश्वविद्यालय एवं उच्च-शिक्षा विभाग को जो भी पत्र लिखे, क्या मैं उन्हें भूल सकता हूँ? मुझे कुछ विलंब और तकलीफ अवश्य हुई पर वे मेरा कुछ विशेष बिगाड़ न सके और मुझे न्याय मिला। फिर प्रोफेसर की प्रोन्नति के समय किसी ने बाधा नहीं डाली। आपके भीतर यदि कुछ विशिष्ट बात हो या आपकी कोई विशेष उपलब्धि हो और आपको इसके बारे में पता न हो तो वह तब पता चलता है, जब कोई आपकी विकासयात्रा में अवरोध उत्पन्न करता है। समझ लेना चाहिए कि जब आप अपने विकास की सही दिशा और स्तर की ओर बढ़ रहे हों तो चौकन्ना रहने का समय आ गया है। आपकी कोई उपलब्धि न भी हो तो भी आपको अपने आसपास के लोगों की आँखों और बातों का बारीकी से निरीक्षण करते आना चाहिए। देखिए, ऐसी स्थिति में आपका सबसे दुर्बल शत्रु आपका कुछ बिगाड़ेगा तो नहीं पर मुँह फेर लेगा या बातचीत बंद कर देगा। अपने आप वह आपसे दूरी बढ़ा लेगा। लेकिन आपका खूँखार शत्रु ऐसा जोखिम नहीं लेगा। वह आपसे मधुर बात करता हुआ और आपसे बिना संबंध बिगाड़े आपके विषय में गोपनीयता से सूचना एकत्रित करते हुए गुप्त तरीके से प्रहार करेगा या आपके जीवन में प्रतिकूल समय या संकट के आने की प्रतीक्षा करेगा। खुला शत्रु अधिक खतरनाक नहीं होता। देखिए, आजतक इस दुनिया में अजातशत्रु पैदा नहीं हुआ। कुछ लोग जन्मतः अपने लिए शत्रु लेकर ही पैदा होते हैं। यह टर्म ही बड़ी संदिग्ध और अविश्वसनीय है। आपका छोटा-मोटा यदि कोई भी शत्रु नहीं है, तो वह आपके अच्छे और उत्तम

व्यक्तित्व होने या सज्जन होने का चिह्न बिलकुल भी नहीं है। कम से कम मेरी तो यही धारणा है।

मुझे अपने जीवन में खुलेआम नाराज व्यक्तियों या मित्रों से कोई हानि नहीं पहुँची और दूरःस्थों से बिलकुल भी नहीं। जिनसे पहुँची वे मुझसे मित्रता या प्रेम का नाटकीय व्यवहार करने वाले मात्र थे। पते की बात तो यह भी है कि प्रेम और मित्रता का तो नाटक किया जा सकता है, पर द्वेष और शत्रुता का नहीं। इसीलिए हजारों वर्षों से यह तमाम भाव आज भी बदस्तूर कायम हैं और लगता है कि जैसे अमरत्व को प्राप्त कर चुके हैं। कुछ दिनों पूर्व एक महाविद्यालय के लिपिक से मेरी बातें हुईं। वे यद्यपि मुझसे अधिक बातें नहीं करते थे, पर उस दिन उन्हें पता नहीं क्या हुआ। कहने लगे कि मैं थोड़ा जल्दी में ही नौकरी में चढ़ गया और लिपिक बन गया। अब मुझे स्थायी नौकरी तो मिल गयी, पर उतना पैसा नहीं मिलता जितनी कि मुझे चाह है। मैंने उनसे कहा कि आपको थोड़ा धैर्य धारण करना चाहिए था, जैसे कि मैंने रखा। आपके अच्छे रसूख थे तो आपको जल्दी में स्थायी नौकरी मिल गयी और आप खुश हो गए और आज आप दूसरों की आर्थिक उन्नति को देखकर दुःखी या परेशान हो रहे हो। यह तो अच्छी बात नहीं। इससे आपका स्वास्थ्य भी बिगड़ेगा। जो मिल रहा है, आपको वह भी बहुतों को नहीं मिलता। बाद में उन्होंने मुझे यह भी बताया कि वे तीन विषयों में परास्नातक हैं और अध्यापन से संबद्ध कुछ कोर्स भी उन्होंने किए हैं, पर वे अध्यापक या प्राध्यापक नहीं बन सके। अब यह उनका दुःख था, समस्या थी या ईर्ष्या थी, मैं कुछ समझ न सका। मुझे कुछ ऐसा बोध हुआ कि मेरे पास तो केवल एक ही विषय में और वह भी मात्र हिंदी की ही डिग्री है और उससे ज्यादा कुछ नहीं। लेकिन मुझे उनकी यह बात लगातार और नित्य अस्वस्थ करती रही। कुछ करीबी मित्रों से जब मैंने इस प्रसंग को छेड़कर इसका पता लगाने का प्रयत्न किया कि ऐसा उस लिपिक ने मुझसे क्यों कहा होगा? लेकिन वे भी कुछ उसपर प्रकाश न डाल सके। फिर मैंने अपने ही स्तर पर इस प्रसंग को लेकर छानबीन शुरू की। मैंने यह देखा इन विगत 20 वर्षों में लिपिक वर्ग का मेरे साथ कैसा व्यवहार एवं सहयोग रहा। अच्छा मैंने यह भी गौर किया कि जो लिपिक या अध्यापक मुझसे आयु में बड़े और वरिष्ठ थे, वे मुझे तब भी सम्मान देते थे और सेवानिवृत्त होने के बाद आज भी देते हैं, हालचाल पूछते हैं। परंतु जो मेरे समआयु के हैं या आयु में छोटे हैं (मैं उन्हें कनिष्ठ नहीं कहूँगा) उनमें वह आदर या

आत्मीयता का भाव मुझे नहीं दिखाई दिया। आज एक भोजन समारोह में विज्ञान के सेवानिवृत्त प्राध्यापक ने स्वयं मुझे नमस्कार किया तो मैं थोड़ा-सा लज्जित हो गया। पहले वाले लोगों में और इधर के लोगों में मैं कमाल का अंतर देखता हूँ। यह अंतर केवल भाव का ही नहीं तो बड़प्पन का भी है। आदरभाव को व्यक्त करने के लिए तो कोई शुल्क नहीं लगता। कुछ लोग तो ऐसे देखते हैं कि लगता है कि अभी गिरेबान पकड़ेंगे। वह भाव क्यों नहीं? इसके पीछे क्या कारण होगा? क्या वे इसलिए हमारा आदर नहीं करते कि उन्हें हम अयोग्य लगते हैं? एक व्यक्ति ने मुझे यह बताया था कि सर, बहुतों को हमारा बड़ा वेतन रास ही नहीं आता। जब अपनी सैलरी क्रेडिट होती है, तो वे अपनी कम दूसरों की सैलरी पर दृष्टि रखते हैं।

मेरा एक छात्र है। वह संभवतः 8-10 वर्ष पूर्व हिंदी में नेट पास हुआ होगा। मेरे लिए तो उसका नेट पास होना उस पर गर्व करने और प्रसन्नता की ही बात थी। वह मुझे कभी-कभार मिलने आता और मिलने पर विभाग के अन्य अध्यापकों से मेरी तुलना करते हुए मुझे उनसे अच्छा और बेहतर बताता। मेरे समझ में नहीं आता कि यह प्रायः ऐसी बातें क्यों करता है? मैं मेरे विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापकों का प्रायः आदर करता। मुझे उनसे निजी स्तर पर कोई शिकायत नहीं थी। पर यह छात्र जब भी मुझे मिलता तो मेरी प्रशंसा करता। मुझे पता था कि मुझमें ऐसा कुछ भी अद्वितीय नहीं है, जिसकी प्रशंसा की जा सके। फिर उसने मुझसे एक नयी बात करना शुरू की कि सर, विभाग में हिंदी की कोई जगह रिक्त नहीं होगी क्या? अब मैं सहजता से उसे बता देता कि 5-6 वर्ष बाद. .. के सेवानिवृत्त होने पर जगह बनेगी। अभी तो विभाग पूर्ण है। पर वह नहीं मानता। ऐसा उसने मुझे इसके बाद कई बार पूछा और मैंने यही उत्तर दिया। अब मैं उसके भाव को समझ चुका था और मैंने तय कर लिया कि इसके बाद यदि यह फिर वही प्रश्न करता है, तो क्या उत्तर देना है। वह 3-4 माह बाद मुझे फिर मिला। उसके साथ विभाग के अन्य सहपाठी भी थे, जो मुझसे मिलने आए थे। मैं जब उन सभी को चाय पिलाने बाहर ले गया तो उसने मुझे फिर पूछा। सर, विभाग में अब जगह कब खाली होगी? मैंने उसे तुरंत उत्तर दिया कि तुम चाहो और प्रयत्न करो तो शीघ्र खाली हो जाएगी। उसने पूछा कि कैसे? मैंने उसे कहा कि तुम अपने किसी प्रिय देवता का निष्ठा से व्रत करो या कहीं कोई काला जादू करने वाला हो तो उसकी सलाह से कोई ऐसा गुप्त अनुष्ठान करो

कि विभाग से कोई अध्यापक जल्दी ईश्वर को प्यारा हो जाये। या फिर ऐसा प्रयास करो कि कोई किसी दुर्घटना में खत्म हो जाए या प्लानिंग करो कि यदि हम पाँचों लोग किसी संगोष्ठी में भाग लेने कार से जा रहे हों तो किसी ट्रक से उड़ा दो। एकदम से पाँच जगह रिक्त। क्या कोई छात्र इसलिए आपसे पढ़ने आता है? मैंने तो ऐसा कभी नहीं सोचा। लाख दुश्मनी हो पर मैंने दुश्मन के मरने या उसकी हानि की भी कामना कभी नहीं की। किसी का धन, किसी की बेटी, किसी की नौकरी या किसी की कोई भी छोटी-बड़ी चीज पर मैंने दृष्टि नहीं डाली। कोई चीज मुझे भायी और वह मुझे मिलनी ही चाहिए, यह दुराग्रह मेरा कभी नहीं रहा। हमारे खानदान में नहीं रहा। नहीं दिया तो हमने उस चीज को भुला दिया।

वह छात्र फिर भी मिलता रहा। जब सी०एच०बी० पर नियुक्तियाँ होने लगी तो मैंने अध्यापक के रूप में उसका चयन कर लिया। तब भी वह वरिष्ठ अध्यापकों के बारे में मुझे कुछ-न-कुछ गलत कहता। उनसे सावधान रहने के बारे में कहता। मैंने उसे एक बार कड़े शब्दों में कहा कि आज के बाद तुम सिर्फ विषय और उसके अध्यापन के बारे में मुझे रिपोर्टिंग करोगे। अब उसे अंदाजा हो गया था कि मैं कुछ अलग मिट्टी का आदमी हूँ। वह अब किसी अन्य कॉलेज के प्रोफेसर के पास पी०एच०डी० करने लगा था। मुझे उसके व्यवहार से बहुत दुःख हुआ और फिर आगे मैंने उसे कोई महत्व नहीं दिया और न कभी यह कहा कि तुम मेरे निर्देशन में पी०एच०डी० करो। मैंने आजतक यह किसी छात्र से नहीं कहा कि तुम मेरे पास रिसर्च करो। यदि किसी ने इच्छा जाहिर की हो तो उसे स्वयं विषय चयन करने या संबंधित विषय का अध्ययन करने के लिए कहा। एक प्राइमरी स्कूल के अध्यापक थे, जो नित्य मुझसे मिलते आते और उनके घर आने का न्योता भी देते। मैं जब उन्हें कुछ किताबें और पत्रिकाएँ खरीदने की सलाह देता या कुछ लिखकर लाने के लिए कहता तो वे प्रायः उनके व्यस्त होने या किसी पारिवारिक बाधाओं का बहाना बनाते। उनकी संभवतः यह इच्छा रही हो कि मैं उन्हें सरलता से पी०एच०डी० दिलवा सकता हूँ। जब उन्हें लगा कि यहाँ सफलता नहीं मिलेगी तो उन्होंने मुझसे किनारा कर दिया। मिलना और फोन करना बंद कर दिया और विश्वविद्यालय के प्रोफेसर से घनिष्ठता बढ़ा ली। मैंने भी मुक्ति की साँस ली। अच्छा, यह जो मेरा पहले वाला छात्र था, यह कुछ दिनों बाद मुझसे धोखाधड़ी करने लगा। मुझे बताता कि क्लास में गया हूँ और बाहर घूमता या काम को टालता। छात्र विभाग में पूछने आते, तब वह कुछ नए-नए कारण

बताता। एक बार उसको मैंने काम टालते हुए पकड़ लिया और प्रिंसिपल से शिकायत की। उसे तुरंत तलब किया गया और कारण पूछा गया कि वह ऐसा क्यों कर रहा है? तो उसने बताया कि उसकी तबियत खराब रहती है और प्रायः चक्कर भी आते हैं। मैंने कहा कि यदि तुम क्लास में जा ही नहीं रहे हो तो मुझसे झूठ क्यों बोलते हो? तो उसने उत्तर क्या दिया कि "तुमसे ज्यादा और बड़ी डिग्रियाँ मेरे पास हैं।" उसके इस उत्तर से मैं हतप्रभ हुआ, तो इधर प्रिंसिपल झल्ला गए। मुझे जो दुःख हुआ वह अलग से। इसके बाद वह मुझसे माफी माँगने भी आया पर मैं उससे क्यों रुष्ट होता? कौन, किससे और कैसा ज्ञान प्राप्त करता है, यह तो उसकी अपनी जवाबदेही है।

अच्छा, एक प्यून की बात तो कहना रह ही गयी। उसने तो मेरे अंतर्जगत में घोर सन्नाटा उपस्थित कर दिया था। यह भी 10-12 वर्ष पहले की ही बात है, जब उसने तैश में आते हुए मुझसे कहा था कि मैं प्रोफेसरों को कभी नमस्कार नहीं करता। पता नहीं उसकी क्या समस्या रही हो? एक अंग्रेजी के अध्यापक जो सेवानिवृत्त हो चुके हैं, ने गेट पर मुझे मिलते ही कहा था- "सर, आप मुझसे हिंदी में बात मत किया करो।" पता नहीं उनको मुझसे समस्या थी या हिंदी से? अच्छा, हिंदी फिल्मों के गीत वे गाकर सुनाते थे। मुझे भी यह आजतक समझ में नहीं आया कि यह मामला क्या है? हिंदी से तो मुझे अथाह प्रेम है, था और रहेगा भी। यद्यपि मेरी सारी पढ़ाई मराठी भाषा में हुई, पर यह हिंदी का रोग पता नहीं कहाँ और कैसे लगा? इस हिंदी ने मुझे न चिकित्सक बनने दिया और न इंजीनियर। अभी-अभी कुछ दिनों पूर्व मेरे बचपन के एक सहपाठी और घनिष्ठ मित्र अशोक ने बताया कि मैं उनसे स्कूल में भी हिंदी में ही बात करता था। इसका भी मुझे आजतक पता नहीं। ऐसा कोई पढ़ाई करता है क्या?

❐❐❐

25 जनवरी, 2023
अपना दांपत्य जीवन और...

मेरी नीता से सगाई हो चुकी थी और विवाह के लिए एक महीना शेष था। मुझे अपने मोबाइल पर एक अपरिचित फोन नं० से मैसेज आया था - ''थोड़े दिन रुक जाते तो और अच्छा मॉडल मिल जाता।'' मैंने अभी-अभी अपनी उस समय की डायरी देखी जिसमें 12 जनवरी, 2008 को रात में 21:33 पर यह संदेश आया था। तब मेरे पास नोकिया का ब्लैक एंड वाइट मोबाइल था। विवाह मेरा उम्र के छत्तीसवें वर्ष में हो रहा था। अब भला मैं कितना ठहर सकता था? और किसके लिए? लेकिन मैं इतना जरूर कह सकता हूँ कि विवाह के मामले में मैंने अपने साथी को लेकर कोई बड़ा समझौता नहीं किया। लेकिन अपने जीवनसाथी को लेकर मेरे मन में जो कुछ इमेजेस थी, वे उम्र के तीसवें वर्ष तक आते-आते धराशायी हो गयी थी। वह इसलिए भी धराशायी हुई, क्योंकि वे अधितकम काल्पनिक और आदर्शवादी थी और जीवन की सच्चाई से मेल नहीं खाती थी। इसलिए मैं कई बार इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि विवाह कोई महान कार्य नहीं है। प्रेम-विवाह तो बिलकुल भी नहीं है। इसलिए इस संबंध को लेकर बहुत अधिक भावुक और महत्वाकांक्षी होने की आवश्यकता नहीं है। इस संबंध को लेकर अधिक तामझाम और दिखावा करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है और न किसी को नीचा दिखाने और न इसे जीवन की किसी उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। मैं असल में अंतरजातीय विवाह या प्रेम-विवाह के विषय में भी बहुत ही आदर्श विचार रखता था। मैं ऐसे सोचता था कि इस तरह से विवाह कर लेने से में कोई क्रांति कर लूँगा। पर ऐसी सोच मेरी बड़ी मूर्खता थी और इसका परिणाम भी मुझे भुगतना पड़ा। पर मैंने इसका भी दिल पर कोई बोझ नहीं पड़ने दिया। कभी-कभी किसी वस्तु या व्यक्ति के विषय में आपकी बनायी हुई एक तरफा आदर्श अवधारणा भी कोई बड़ी बात नहीं है।

मेरा जब विवाह हुआ तो नीता भी तीसवें वर्ष में थी। अभी-अभी कुछ दिनों पूर्व उसकी किसी करीबी संबंधी ने उसे यह ताना दिया था कि तीस वर्ष तक वे उसकी तरह घर पर नहीं पड़ी रही। नीता को काफी दुःख पहुँचा था, पर मैंने उसे कहा कि इस सच को स्वीकार करने में ही तुम्हारी अद्वितीय सफलता है।

जब मेरे विवाह संबंध जुड़ने में कुछ अवरोध उत्पन्न हो रहे थे तो मैंने यह तय कर लिया था कि विवाह बिरादरी में ही होगा। उसके बाहर नहीं। फिर चाहे जो भी हो। यह भी एक समझदारी से भरा निर्णय था। किसी धार्मिक पुस्तक में मुझे उत्तम जीवन संगिनी के प्राप्त होने के विषय में एक अद्‌भुत मंत्र मिला था - ''पत्नी मनोरमां देहि, मानोवृत्तानुसारिणीम। तारिणीमं दुर्ग संसारस्य सागरस्य कुलोद्‌भवाम।।'' मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि मैं नित्य इस मंत्र का पाठ करता था। यानी किसी मंदिर के सामने या पूजा घर के सामने नहीं बल्कि किसी भी समय में। जब मैं मोटरसाइकिल चला रहा होता तब भी। मैं कुछ दावे के साथ तो नहीं कह सकता क्योंकि वामपंथी नाराज हो जाएँगे। पर लगता है कि इस पाठ का कुछ तो फल मुझे अवश्य मिला है। ऐसा नहीं है कि मेरी सहचारिणी कोई बहुत असाधारण सुंदरी या विदुषी है। पर जो भी उसमें मुझे मिला, वह मेरे लिए पर्याप्त है। मैं उससे अधिक सुंदर स्त्रियों को देखकर न तड़पता हूँ और न अपने भाग्य को दोष देता हूँ। महादेव के मंदिर में एक बार मुझे एक साधारण से व्यक्ति मिले थे। उनसे जब मैंने अपनी समस्या को बताया था, तो उन्होंने कहा था कि स्त्रियों की यौन शुचिता और पवित्रता के बारे में बहुत गंभीरता से सोचना नहीं चाहिए। उनका अपना दृष्टिकोण और मान्यता थी कि स्त्री कभी अपवित्र नहीं होती, रजस्वला होने के पश्चात् वह फिर से पवित्र हो जाती है। अशुद्धता और अपवित्रता मन की होती है। किसी गलती, अज्ञानता या धोखे के कारण शारीरिक रूप से अपवित्र स्त्री भी यदि मन से किसी पुरुष का वरण करे तो वह सदाचारी और पवित्र नारी ही है।

यह सही है कि इस समाज को समझने में मुझे थोड़ा समय लगा, पर इसके बाद मुझसे कोई त्रुटि नहीं रह सकी। हमारे बीच का पति-पत्नी का यह संबंध भी केवल इसी जन्म का है, यह भी मैं अच्छी तरह समझता हूँ। हम बहुत ही दिव्य प्रेमियों की तरह भी नहीं हैं कि हममें से किसी एक को कांटा चुभे तो दूसरे को दर्द हो। प्रेम की कितनी ही मूर्खतापूर्ण कहानियाँ हमने बनाकर रखी हैं, नहीं? मैं यह भी जान चुका हूँ कि स्त्री का प्रेम कोई बहुत बड़ी चीज नहीं है। इसलिए मुझे भगवती बाबू के चित्रलेखा उपन्यास के कई प्रसंग काफी प्रभावित करते हैं। इस उपन्यास के 19वें परिच्छेद में सन्यासी युवक से कहता है, ''वत्स, प्रेम एक मिथ्या कल्पना है। स्त्री और पुरुष का संबंध केवल संसार में ही होता है - संसार से पृथक दोनों ही भिन्न-भिन्न आत्माएँ हैं। संसार में भी स्त्री और

पुरुष में आत्मा का ऐक्य संभव नहीं है। प्रेम तो केवल आत्मा की घनिष्ठता है। वह घनिष्ठता कोई बड़े महत्व की वस्तु नहीं होती, वह टूट भी सकती है। उस घनिष्ठता के टूटने पर अपने जीवन को दुःखमय बना लेना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। तुम्हारा कर्तव्य है तुम अपना विवाह करो - विवाह न करके तुम कर्तव्य से विमुख हो रहे हो।''

यह कोई साधारण अनुभव की बात नहीं है। वास्तव में जीवन में हम अभाव, असफलता, दुःख और संकटों से लड़ सकें, इस कर्तव्य की अनुभूति होना ही अत्यंत आवश्यक है। कर्तव्य की यह शक्ति यदि हमारे पास नहीं है, तो अनंत धन के बाद भी हम गरीब और दरिद्र ही रहेंगे। मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि पत्नी और दो बच्चों के साथ जो मैं प्रीतिमय जिंदगी जी रहा हूँ, उसका भी एक अंत है। फिर उसके बाद क्या? इसलिए अब न कोई गर्व है, न कोई महत्वाकांक्षा।

❐❐❐

30 जनवरी, 2023

बेशर्म रंग देखा दुनियावालों ने

मैं अभी-अभी कुछ देर पहले सिर पीटता हुआ घर पहुँचा हूँ। जिस फिल्म को मैं बड़ी उम्मीदों से देखने के लिए गया था, उस फिल्म को मैं दर्शकों को ठगने वाली फिल्म कहूँगा। यदि दुनिया इस फिल्म को एक सफल और सर्वोत्कृष्ट फिल्म समझ रही है, तो मुझे लगता है कि मैं सचमुच ही एक नासमझ, अपरिपक्व और असुरुचिपूर्ण समाज के बीच जी रहा हूँ। पर मैं इस समाज का प्रतिनिधि कभी नहीं बनना चाहूँगा।

बचपन से पिता के साथ जब मैं टूरिंग थिएटरों में जमीन पर बैठकर फिल्में देखता था, तो मैं काफी प्रभावित हो जाता था। मैं तब की फिल्मों के हिंसक और करुण दृश्यों को बहुत ही गंभीरता से लेता था। वे दृश्य लगभग सच की तरह प्रतीत होते थे और कई दिनों तक मेरी अचेतन अवस्था में दबे पड़े रहते थे। किसी अभिनेता के मरने पर मुझे काफी रोना आया था, तब पिताजी ने मुझे कहा था कि वह मरा नहीं है। कुछ दिनों बाद उसी मृत अभिनेता की एक नई फिल्म मुझे दिखाकर पिताजी ने एक तरह से चकित कर दिया था। मुझे याद है, धर्मेंद्र की एक फिल्म थी, जिसमें एक बच्ची को शेर खा लेता है और वह मर जाती है, तो इस प्रसंग के प्रभाव से कई दिनों तक निकल नहीं पाया था। मुझे यह बताने में कोई संकोच नहीं है कि मैंने कभी मनोरंजन या टाइमपास करने के लिए फिल्म नहीं देखी।

मैंने जब दो दिन पूर्व इस ...फिल्म के थिएटरों में लगे होने का जायजा लिया तो क्या देखा कि जलगाँव के लगभग सभी थियेटरों में इसके शो चल रहे हैं। बाकी फिल्मों को तो बस नमक-अचार की तरह स्क्रीन दी गयी है। यह कोई सोची-समझी चाल लगती है। सौ से भी कम दर्शक होंगे। मुझे न कहानी ने इम्प्रेस्ड किया न अभिनय ने। मुझे न गीतों ने इम्प्रेस्ड किया और न संवादों ने। कुछ भी ऐसा नहीं जिसे उल्लेखनीय कहा जा सके। मेरे दोनों बच्चे भी मायूस हो गए, पर कुछ कह न सके। फिल्म के दृश्य कृत्रिम और नाटकीय अधिक लगे। उन्हें डरावने दृश्य भी नहीं कहा जा सकता। वे सब एक्शन दृश्य थे, जिसमें एक्टिंग (अभिनय) को बहुत कम स्थान बचता है। उनमें कला की मार्जिन बहुत कम रखकर तकनीक

एवं स्पेशल इफेक्ट जैसे तरीकों से अधिक काम लिया गया था। जो काफी हास्यास्पद प्रतीत होते हैं। मुझे पता नहीं क्यों पर देखकर क्षोभ ही उत्पन्न हुआ। भारत सरकार द्वारा कश्मीर में आर्टिकल 370 को हटाने के बाद पाकिस्तानी जनरल का बौखला जाना और भारत से प्रतिशोध के लिए एक योजना बनाना समझा जा सकता है। इसी विषय को लेकर यह फिल्म काफी यथार्थपरक, राजनीतिक, कूटनीतिक और सुतार्किक ढंग से बनाई जा सकती थी। इसके लिए रॉकेट, बम, मिसाइलें, फाइटर जेट, ट्रेन और बिकनी में नाचती औरतों को दिखाना आदि की कोई जरूरत नहीं थी और थी भी तो बहुत कम। देशभक्ति और आत्मबलिदान जैसी कोई बात भी इस फिल्म में दूर-दूर तक नहीं है। कोई भी आदमी एकदम अकेला इतना नहीं लड़ सकता। टाइगर की उपस्थिति भी अनावश्यक और हास्यास्पद ही कही जा सकती है। क्यों यह सब? किसलिए? मुश्किल से दिन में 400-500 रुपये कमाने वाले व्यक्ति की बद्दुआ का तो डर रखा करो। कुछ तो शर्म करो। पता नहीं इतनी फालतू फिल्में बनाने के लिए समय और पैसा आपके पास कहाँ से आता है? इससे किसको फायदा होता है? पाकिस्तान इस देश की समस्या नहीं है। इस देश में ऐसे बहुत-से मुद्दे हैं, जिस पर अटैचमेंट के साथ फिल्में बनायी जा सकती हैं।

यह फिल्म हिंदू-मुस्लिम कोण से देखने की फिल्म तो कतई नहीं है। यद्यपि इस फिल्म के मुख्य नायक मुस्लिम और नायिका हिंदू है। एक गीत पर इस नायिका ने अत्यंत असभ्य नृत्य किया है। असभ्य इसलिए कि मेरे बच्चों को इस नृत्य को देखने में हमारे सामने लज्जा का अनुभव हुआ और उनके सामने हमें भी। इस गीत में नायिका के बिकनी के भगवा रंग को लेकर व्यर्थ का विवाद उत्पन्न किया गया। हिंदू संगठनों को थोड़ा संयम से काम लेना चाहिए था। इस विवाद के कारण न फिल्म व्यर्थ में चर्चित होती और न लोग बहुसंख्या में उसे देखने जाते। इस देश में अब फिल्मों को बहुत गंभीरता से लेने का समय नहीं रहा है। फिल्मजगत अब किसी भी सामाजिक जवाबदेही को नहीं रखता। मुझे आजतक यह नहीं समझ में आया कि लोग कलाकारों के फैन कैसे बनते और क्यों बनते हैं? मैं कई बार मुंबई गया पर मुझे किसी भी अभिनेता को देखने, मिलने की इच्छा नहीं हुई। संभवतः मैं अपने जीवन में फूहड़ता की ओर झुकने से बचा हूँ। अभी-अभी हमारा देश ही नहीं बल्कि सारा विश्व कोविड की भयानक त्रासदी से मुक्ति की साँस ले रहा है। इस त्रासदी को भी कुछ लोगों ने पैसे कमाने के अवसर के रूप में लिया। हममें संभवतः बहुत ऊँचे स्तर की मानवीय संवेदना नहीं है। हम झूठी और दिखावे की जिंदगी जीना पसंद करते हैं और यही कारण होगा कि हमें झूठ और दिखावा ही सच लगता है।

यह पूरी तरह से व्यावसायिक फिल्म है। इसका लक्ष्य केवल पैसा कमाना है और कुछ नहीं। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में यह सफल जरूर हुई है, लेकिन इस फिल्म की कोई उम्र नहीं। यह देखकर भूलने लायक फिल्म है। हिंदी में ऐसी गिनी-चुनी फिल्में बनी हैं, जो आज भी मेरे अंतर्जगत को झकझोरती है। सत्यकाम एक ऐसी फिल्म है, जिसने मुझे अपनी पचास की उम्र में भी रुलाया था। आजकल की इन मसाला फिल्मों में कुछ भी स्वस्थ नहीं है। संभवतः चलचित्र बनाने की उन्नत तकनीकों ने संवेदना को पकड़ने में अपनी असफलता को ही साबित किया है। कुछ फिल्में तो मुफ्त में भी देखने के लायक नहीं होती। दूरदर्शन ने तो इस विधा को और भी अधिक सस्ता और महत्वहीन बना दिया है। आदरणीय भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटक विधा की उपयोगिता के विषय में लिखा है- ''दुःखार्तानां, श्रमार्तानां, शोकार्तानां तपस्विनाम, विश्रांतिजननम काले नाट्यमेव तन्मयाकृतं।।''

नाट्य की उत्पत्ति श्रम, दुःख और शोक से पीड़ित आत्माओं को विश्रांति प्रदान करने के हेतु से होती है। लोग इतने तन्मय हों कि अपना दुःख भूल जाएँ। मनोरंजन काव्य का एक पाश्चात्य प्रयोजन है, परंतु उसमें भी मानवकल्याण की भावना को जोड़कर भारतीय काव्यशास्त्र में एक उसे महत्वपूर्ण प्रयोजन माना गया है। मनोरंजन नितांत मानसिक जरूरत है। इस मनोरंजन के नाम पर कुछ अवास्तविक और काल्पनिक दिखाना भी अधिक आपत्तिजनक और निरर्थक नहीं है। पर यदि यह फूहड़ता और बलिशता से युक्त हैं, तो मनोरंजन की इस अत्यंत लोकप्रिय और गरिमापूर्ण विधा पर पुनर्विचार की सख्त जरूरत है। इस फिल्म ने मेरे साथ जो अत्याचार किया, जो मुझे परेशान किया, उसे मैं कभी नहीं भूलुँगा।

❐❐❐

3 फरवरी, 2023

पता चला कि गलत ले के मैं पता निकला

''सिंहन के नहीं लेहड़े, हंसों के नहीं पात।
लालन की नहीं बोरियाँ, साधु न चले जमात।।''

यह संत कबीर का दोहा है, जिसका तात्पर्य है कि, सिंह झुंड में नहीं होते और न कतारों में हंस, न रत्न आदि बोरियों में भरे जाते हैं और न साधु जमात में रहते हैं। कहने का आशय यह है कि यह चारों चीजें समूह में रहने से श्रेष्ठ नहीं मानी जाती, बल्कि इनकी श्रेष्ठता या मूल्य या गौरव इनके अकेले होने या अक्खड़पन में ही है।

कई बार मैंने इस दोहे की प्रासंगिकता को समझने का प्रयास किया और लगा कि ऐसा कैसे हो सकता है कि संसार में कुछ चीजों का गौरव अकेले होने में ही बढ़ता है या बढ़ सकता है? वर्तमान समय में जो समूह में नहीं है, वह तो बहुत ही असुरक्षित और दुर्बल माना जाता है। आपके साथ भीड़ या संगठन शक्ति का होना बहुत आवश्यक है। संगठन की शक्ति के बल पर आप दूसरों पर शासन कर सकते हैं। यह असत्य नहीं है कि मध्ययुग में अनेक जातियों ने अपनी मेजोरिटी के बल पर ही अन्य छोटी जातियों या असंगठित वर्गों पर शासन किया। उन्हें अपने अधीन बनाया। वर्तमान राजनीति में भी जातीय ध्रुवीकरण को बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। जाति या संगठन के बल के अभाव में किसी का भी चुनकर आना लगभग असंभव है। यह वास्तव में अच्छी चीज है या बुरी कुछ कहा नहीं जा सकता।

मैं अपने प्राध्यापक की नौकरी के प्रारंभ से ही एक बड़े अखिल भारतीय प्राध्यापक संगठन का सदस्य नहीं हूँ। मुझे अपने जीवन के मुश्किल से मुश्किल समय में भी इस संगठन की आवश्यकता नहीं पड़ी। मैंने कभी इस संगठन का सदस्य बनने की कोशिश नहीं की और न किसी दूसरे संगठन का। बल्कि इस संगठन के अनेक सदस्य मेरे मित्र हैं। एक बार एक मित्र ने मेरे प्रति मिथ्या सहानुभूति दिखाते हुए यह कहा कि मैं कब तक अकेला रहूँगा। मैंने उस मित्र से कहा कि भाई, मैं कहाँ अकेला हूँ? आपको जो मैं अकेला दिखाई देता हूँ, वह आपका अज्ञान या भ्रम है। मेरे जीवन में सूनापन या अकेलापन जैसी कोई बात नहीं है। यद्यपि उस मित्र की बात में दम तो था, क्योंकि सौ लोग एक तरफ और मैं अकेला एक तरफ था। अकेला तो था ही फिर भी कभी मुझे असुरक्षा या भय अनुभव नहीं हुआ। जब अकेला होकर भी मुझे असुरक्षा की अनुभूति नहीं हुई, तो मैं अकेला कैसे हुआ? कोई तो आंतरिक शक्ति मेरे पीछे है, जो मुझे प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मजबूती से खड़ा रहने में सहायता प्रदान करती है।

जब सिंह, हंस, रत्न और साधु का अकेले होना ही शोभायमान होता है, तब आज के समय में समूह या संगठन में रहने से किसकी और कैसी शोभा बढ़ती है? मैं टी०वी० चैनलों पर देखता हूँ कि नेताओं और मंत्रियों के आगे-पीछे कितने ही लोग खड़े होते हैं। कितनी सारी गाड़ियाँ उनके साथ होती हैं। कार्यकर्ताओं, सुरक्षाकर्मियों से घिरे इन लोगों से अजीब-सा भय उत्पन्न होता है। इसके बाद दूसरे नंबर पर फिल्मों और क्रिकेट के खिलाड़ी आते हैं। इधर मैंने हिंदी के कुछ प्रतिष्ठित साहित्यकारों और आलोचकों के भी कुछ ऐसे ही दृश्य देखे तो उनसे भी भय ही उत्पन्न हुआ। मुझे आजतक यह याद नहीं आता कि मैं किसी राजनेता या मंत्री के घर अपने किसी निजी काम से गया हूँ और न कभी किसी के चुनावप्रचार में काम आया हूँ।

मुझे लगता है कि हुजूम बनाना अर्थात् संगठन या बड़ा मित्र-परिवार बनाना इतना सरल काम नहीं है। इसके लिए धन और समय दोनों को नष्ट करना पड़ता है। अर्थात् यह समय और धन व्यर्थ में नष्ट नहीं होता, बल्कि एक निवेश के रूप में संचित रहता है। इसका सुनिश्चित परिणाम बाद में मिलता ही मिलता है। शक्तिशाली नेताओं या संगठन प्रमुखों के साथ रहने में अनेक लाभ होते हैं। बल्कि यूँ कहें कि कोई आपको छू तक नहीं सकता या आपका बाल बाँका नहीं कर सकता। आपके अलोकतांत्रिक और अनैतिक काम भी हो सकते हैं। शिक्षक संगठनों के नेता लोग तो कभी अध्यापन का काम करते ही नहीं हैं। आपको किसी चुनाव का टिकट भी मिल सकता है और आप चुनकर आने के बाद मनमर्जी की जिंदगी जी सकते हैं। दूसरों पर शासन कर सकते हैं और धन भी कमा सकते हैं। बोनस में प्रतिष्ठा, कीर्ति, सम्मान जो मिलेगा, वह क्या कम छोटी बात है? घर या कार्यालय में अनेक लोग आपसे मिलने आते रहेंगे। आपको दादा या साहेब कहेंगे। तब मुझे यह बताएँ कि यह जो शोभा आपकी बढ़ेगी वह क्या जीवन की कम छोटी उपलब्धि है?

जब से किसी-न-किसी संगठन से मेरे कुछ संबंधी या मित्र जुड़ गए तो उनका समय और स्नेह मिलना मुझे लगभग दुर्लभ हो गया। मैं लगभग अकेला ही हो गया था। लेकिन इस प्रक्रिया में मेरा विशेष आंतरिक रूपांतरण हुआ और दृष्टि में परिपक्वता आयी। पुस्तकें पढ़ने और चिंतन-मनन के लिए मुझे समय मिलने लगा। कोई भी मुझे सरलता से अपने अधीन नहीं कर सकता था और न सम्मोहित। यह बात भी मुझे बाद में पता चली। मुझमें सही और गलत का जो सामान्य विवेक उत्पन्न हुआ, वह दूसरों के लिए विशेष उपयोगी नहीं था, क्योंकि इसी कारण मैं किसी के काम नहीं आ सकता था, क्योंकि मैं व्यक्तिप्रिय बनने की बजाय न्यायप्रिय बनता जा रहा था और अवरोध के रूप में ही अधिक प्रतीत होने लगा था। इसप्रकार मेरे उपयोगिता मूल्य में भी तेजी से कमी आने के कारण मेरे मित्र घटे होंगे। संगठन को बनाने या जोड़ने में लोगों के दोष नहीं देखने पड़ते, बल्कि उनका मूल्य देखना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति अपने कभी भी काम में आ सकता है, लाभ दिलवा सकता है, इसका नित्य ध्यान रखकर संबंधों को जोड़कर रखना पड़ता है। आलोचना और निंदा को भी सहना पड़ता है। एक व्हाट्सएप्प ग्रुप में मेरे एक मित्र नित्य प्रतिदिन कोई न कोई पोस्ट फारवर्ड करते, मित्रों के जन्मदिन या विवाह की सालगिरह पर बिना भूले उनको शुभकामनाएँ देते थे, किसी भी सामान्य उपलब्धि पर अभिनंदन की वर्षा करते। मैंने एक बार उनसे पूछा कि भाई आप यह सब कैसे याद रखते हो? कैसे कर लेते हो और क्यों करते हो? बल्कि आपने मुझसे सालभर में कभी फोन पर बात तक नहीं की। उनका उत्तर था कि वे प्रायः सभी की स्मृति में बने रहना चाहते हैं, सभी से अच्छे और मधुर संबंध यदि वे बनाकर रखते हैं तो सोसाइटी के चुनाव में उन्हें इसका लाभ मिलेगा। मैं उनकी बातों से हैरान रह गया। कितनी दूर की योजना बनाई है, नहीं?

संगठन में रहने से जो पद या दायित्व मिलते हैं, वह किसी सम्मान से कम नहीं होते। कॉलेज की जो कमेटियाँ होती हैं, उसका प्रमुख बनने की भी अध्यापकों में होड़ सी लगी रहती है। मुझे ऐसी ही जब किसी कमेटी का प्रमुख बनाया गया था, तो कुछ वरिष्ठ अध्यापक मित्र यू ही मुझसे रुष्ट हो गए थे। जब मुझे पता चला कि ऐसा भी कुछ हुआ है, तो मुझे इसका काफी दुःख पहुँचा था। तब से मैंने अनुभव किया कि हमारी सामान्य उपलब्धियाँ भी कुछ लोगों को अनायास खटकती हैं। ऐसा क्यों होता होगा, पता नहीं? बल्कि ऐसा मुझे कभी नहीं होता। इधर के कुछ वर्षों में जब मुझसे कनिष्ठ कुछ अध्यापक विश्वविद्यालय या कॉलेज स्तर पर विशिष्ट विभागों के प्रमुख या कन्वेनर बनाये गए तो मुझे उनसे दूर-दूर तक ईर्ष्या नहीं हुई। मैंने तो सिद्धांत बना लिया है कि मिला तो अच्छा, नहीं मिला तो बहुत अच्छा।

अब यह रास्ता मेरा अपना स्वयं का वरण किया हुआ रास्ता है। भीड़ नहीं। हुल्लड़बाजी नहीं। पार्टियाँ नहीं। शोर नहीं। तुलना और द्वंद्व भी नहीं। चापलूसियाँ नहीं। वर्चस्व भावना नहीं। महत्वाकांक्षा भी नहीं। ''न काहू से दोस्ती न काहू से बैर'' ऐसा भी कुछ नहीं। दोस्ती कम और बैर कुछ ज्यादा ही है। मैं अपने कुछ मित्रों में गर्व से कहता हूँ कि कुछ लोगों से मैं अब भी बात नहीं करता और न करना चाहूँगा। किसी संगठन से संबद्ध तो मैं बिलकुल भी नहीं हूँ। राजनीतिक, साहित्यिक, अकादमिक संगठनों से संबद्ध लोग कई सरकारी समितियों पर आसानी से चयनित हो जाते हैं। लेकिन वहाँ करते क्या हैं? कुछ नहीं। कुछ आता ही नहीं है, उन्हें बिना तिकड़मबाजी के। केवल ऐसे पदों पर आसीन होकर अपने बॉयोडाटा को विस्तृत करते जाते हैं। उनमें योग्यता नाम की कुछ चीज होती भी है या नहीं इसके प्रति मुझे संदेह है। मैंने देखा है तिकड़मबाजी ही उनकी बड़ी योग्यता है। लेकिन मैं ऐसे लोगों में कभी घुला-मिला ही नहीं। अजीब-सी घिन मुझे आती रही। यह डगर इतनी आसान भी नहीं है, जिस पर मैं चल रहा हूँ। इसका लक्ष्य केवल अपना आत्मगौरव एवं वैचारिक स्वतंत्रता को सुरक्षित बनाये रखना मात्र है। ऐसा नहीं हो सकता कि मैं गलत पते पर आगे बढ़ता जा रहा हूँ या पता गलत ले के निकला हूँ। वैसे पते जैसी चीजें या लक्ष्य को निर्धारित करके आगे बढ़ना यानी ठहराव के करीब पहुँचकर समाप्त होना है। दिशा सही तो सही या गलत तो गलत। मैं चला तो सही। बनी तो बनी, नहीं बनी तो नहीं बनी।

❐❐❐

4 मार्च, 2023

पुस्तक और परिवार दोनों मेरे लिए समान हैं

विश्व पुस्तक मेले के हेतु से इस बार राजधानी दिल्ली जाना हुआ। इससे पूर्व सिर्फ तीन बार मैं राजधानी गया था और वह भी अकेला। इस बार राजधानी ट्रेन से जलगाँव से राजधानी दिल्ली सपरिवार गया और चार दिन दिल्ली रहा। आर०के० आश्रम मेट्रो स्टेशन के निकट के एक होटल केलसन डीलक्स (ब्यूटिक होटल) में ठहरा। यद्यपि यहाँ रहते हुए ब्यूटिक होटलों की अवधारणा को मैं ठीक से समझ नहीं पाया। यहाँ से मेट्रो कनेक्टिविटी कुछ अधिक सरल होने के कारण मैंने इस स्थान को चुना था। इस स्थान से ही कुछ दूरी पर बृह्म महाराष्ट्र भवन की एक पुरानी इमारत थी, जिसके निकट से कई बार शाम को गुजरना हुआ। काफी भीड़ से भरी दिल्ली ने मुझे कुछ अनाकर्षण से भर दिया, पर लगा कि एक आम आदमी भी कम से कम आमदनी में दिल्ली में रह सकता है। लेकिन प्रश्न यह भी उपस्थित हुआ कि दिल्ली में रहने की इतनी जरूरत क्यों है? गाँवों में शांतिपूर्ण जीवन क्यों नहीं जिया जा सकता? निजामुद्दीन स्टेशन के बाहर फुटपाथ पर लेटे हुए एवं छोटी-मोटी चीजों का बाजार सजाये लोगों का फोटो जब एक विदेशी ले रहा था, तो बड़ा अजीब-सा लगा। पता नहीं वह दुनिया को भारत के बारे में क्या बतायेगा?

तारीख छब्बीस को दोपहर में सीताराम दीवानचंद के यहाँ छोले-भटूरे और लस्सी का आस्वाद लेते हुए बड़ा मजा आया। लगभग दो भटूरों में ही पूरा काम तमाम हो चुका था। इतने मुलायम भटूरे मैंने पहली बार खाये। छोलों में कुछ विशेष नहीं था और वे चना-मसाला जैसे ही कुछ स्वाद में लगे। इसके बाद सीधे आर०के० आश्रम से मेट्रो से सुप्रीम कोर्ट स्टेशन पहुँचे। यहाँ स्टेशन पर ही पुस्तक मेले की पासेस प्रति व्यक्ति रुपये 20/- में मिल रही थी। समझ में नहीं आया कि पासेस कहाँ से खरीदें? मनीष पांडे ने हमारे लिए पासेस की व्यवस्था कर रखी थी, जिससे कारण मैं निश्चिन्त था। लेकिन मुफ्त पासेस और सशुल्क पासेस का मामला मैं कुछ समझ नहीं पाया। सुप्रीम कोर्ट मेट्रो स्टेशन के बाहर आते ही प्रगति मैदान का गेट नं० 10 नजर आया। यहीं से भी अनेक लोग अंदर जा रहे थे। मनीष पांडेय ने कहा था कि गेट नं० 4 पर पहुँचें। यह भैरो मंदिर द्वार कहा जाता है। ऑटो से हम जब इस स्थान पर पहुँचे तो बड़ी लंबी लाइन लगी थी। लेकिन मुख्य द्वार पर पहुँचने और कुछ क्षण प्रतीक्षा के बाद ही एक भद्र महिला सुरक्षाकर्मी ने हमें अंदर प्रवेश दे दिया। उसने ऐसा संभवतः हमारे द्वारा विनम्रतापूर्वक पूछताछ करने के बाद ही हमें अनुमति दे दी। प्रगति मैदान के बारे में मेरी राय थी कि वह एक खुला मैदान मात्र होगा, लेकिन वह कंक्रीट के रास्तों और मॉल जैसी इमारतों से बना हुआ स्थान लगा। काफी कुछ निर्माण अब भी हो रहे थे। गेट नं० 4 पर पहुँचते ही सामने राजकमल प्रकाशन के बड़े और पुस्तकों से सजे-धजे स्टॉल ने स्वागत किया। इसके बाद मैं हिंदी के जिन कुछ स्टालों पर पहुँचा, उनमें नेशनल पब्लिशिंग हाउस, अंतिका प्रकाशन, बोधि प्रकाशन, वाणी प्रकाशन, पेंग्विन प्रकाशन, केन्द्रीय हिंदी निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, ऑल इंडिया तालीम घर आदि। काफी कुछ लोग मिले जिनसे मैं आजतक केवल फेसबुक एवं फोन के माध्यम से संपर्क में था। काफी कुछ लोगों को पहचान नहीं पाया। पुस्तकें देखने और खरीदने में ही शाम के सात बज चुके थे। नेशनल से मैंने ज्यादातर पुरानी पुस्तकें ही खरीदी। मेरी पुस्तकों में व्यस्तता को देखते हुए नीता और दोनों बच्चे बाहर फूड पार्क में चले गए थे। सात बजे के बाद उन्होंने लगातार मुझे फोन लगाना शुरू कर दिया था। मैं सात बजे के बाद हॉल से बाहर आया। बाहर निजी चैनल के कुछ छात्र इंटरव्यू ले रहे थे। उन्होंने मेरा भी इंटरव्यू रिकार्ड किया। कहा कि भेजेंगे। अब तक नहीं भेजा। सामने दो एम्फी थिएटर थे। एक की सीढ़ियों पर हम बैठने गए तो उन पर काफी धूल थी। दूसरे एम्फी थिएटर में कबीर की रचनाओं पर केन्द्रित गीतों का शो शाम 7 बजे के आसपास शुरू हो चुका था। काफी भीड़ थी और हमें खड़े रहने के लिए तक वहाँ पर्याप्त जगह नहीं थी। हमने केवल आधा घंटा युवा गायकों की प्रस्तुति को देखा, जो एक विलक्षण अनुभव था, खासकर मेरे दोनों बच्चों के लिए। रात में लगभग नौ बजे के आसपास हम अपने होटल पर पहुँचे।

❐❐❐

6 मार्च, 2023
दिल्ली से देश का पता नहीं चलता

पहले तीन बार जब मैं दिल्ली गया था, तो यह नगर मेरे उतने समझ में नहीं आया था जितना कि इस बार की यात्रा में आया। इस बार की यात्रा में मैंने दिल्ली की असली गंध को सूंघा। दिल्ली की सच्ची धड़कन को महसूस किया। लगा कि देश के हर आदमी को दिल्ली कम से कम एक बार जरूर देखनी चाहिए और यह निर्णय करना चाहिए कि हम देश के जिस स्थान पर रह रहे हैं, वह सबसे अच्छी है या दिल्ली ज्यादा बेहतर है। 2 मार्च को दिल्ली से लौटने पर शाम को अपने बेटे के साथ अमलनेर में घूमते हुए मैंने उससे पूछा कि दिल्ली अच्छी लगी या यह अपना अमलनेर अच्छा लग रहा है। तो उसने तुरंत बताया कि अमलनेर ही ज्यादा अच्छा है। उसने संभवतः कुछ तो अनुभव किया जिसका इस उम्र में अनुभव करना ज्यादा जरूरी था। दिल्ली आप किसलिए जाओगे? लाल किला, इंडिया गेट, कुतुब मीनार, जंतर-मंतर, राजघाट, राष्ट्रपति भवन, संसद भवन, मुगल गार्डन, इंदिरा गांधी स्मृति स्थल, बिरला भवन, अक्षरधाम, चाँदनी चौक आदि देखने को ही जाओगे ना? एक संतुष्टि मिलती है कि हमने दिल्ली देखी। मैंने बहुत-से ऐसे यात्रियों को देखा, जो देश के सुदूर राज्यों से दिल्ली देखने आए थे। दक्षिण के राज्यों से अनेक वृद्ध और अधेड़ उम्र पुरुषों और महिलाओं को मैंने देखा, जो केवल दिल्ली देखने का अपना सपना पूरा करने आये थे। दिल्ली में ऐसे यात्री आपको अनेक स्थानों पर मिलेंगे। यह लोग भाषा की बिना किसी रुकावट के खुले दिल से दिल्ली देखते हुए मिलेंगे। लेकिन दिल्ली के कुछ ऐतिहासिक स्थानों एवं राष्ट्रीय स्थलों को देखने के बाद बाकी दिल्ली को देखने से कुछ भी विशेष नहीं मिलता। बल्कि एक बेदिली-सी महसूस होती है। दिल्ली के कई सार्वजनिक स्थल, वहाँ की भीड़, ठेला गाड़ी, साइकिल रिक्शा, ऑटो, टेम्पो आदि से दिल्ली के रास्ते, चौराहे आदि ओवरफ्लो हो रहे हैं। ऐसे लगता है जैसे किसी अलमारी में खचाखच भरा हुआ सामान या कपड़े। मुझे लगता है कि मैं दिल्ली को बहुत ही आदर्शवादी दृष्टि से देखने की कोशिश कर रहा हूँ। मुझे दिल्ली से ऐसी आशा नहीं करनी चाहिए। अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत के अनुसार, चीजें कैसी होनी चाहिए, इस दृष्टिकोण से दिल्ली को देखना क्या गलत है? दूसरी ओर

सेंट्रल दिल्ली में कुछ रास्ते और दुकानें साफ-सुथरे और चौड़े जरूर लगे। लेकिन मैंने देखा कि ऐसी दिल्ली 15-20% से भी कम है। 80% दिल्ली का हाल तो देश के देहातों से भी नीचे गिरा हुआ है। लाल किले के पास जिस शांति और सुकून की जरूरत थी, वह है ही नहीं। ग्रामीण क्षेत्रों में आमतौर पर लगने वाले मेले की तरह झूलों और उछल-कूद के खेलों से भरा वह मेला मुझे फूहड़ ही लगा। लाल किले के दर्शनी भाग से जहाँ से हमारे प्रधानमंत्री देश को संबोधित करते हैं, के सामने वाले रास्ते पर गाड़ियों का जाम कुछ अशोभनीय प्रतीत हुआ। लगे जाम के बीच में से लोगों को रास्ता पार करते हुए देखना काफी भयभीत करने वाला था। इस तरह लोगों को निडरता से रास्ता पार करते हुए मैंने अपने जीवन में पहली बार देखा। दो-तीन बार जब हमें ऑटो से यात्रा करनी पड़ी तो देखा कि वह जिस तेजी से ऑटो चलता था, तो बड़ी कारें और बसें तक उसके लिए रास्ता छोड़ देती थी या धीमी हो जाती थी। मुझे लगा कि यह ऑटो रिक्शा और साईकिल रिक्शा चलाने वाले लोग जैसे दिल्ली के असली मालिक हों।

दिल्ली में ध्वनि और वायु प्रदूषण तो है ही पर मुझे मानव प्रदूषण की भी अधिक अनुभूति हुई। मुझे कई बार ऐसा लगा कि मुझे तुरंत दिल्ली से बाहर निकलकर सुकून की साँस लेनी चाहिए। चाँदनी चौक में एक-दूसरे से टकराते हुए लोगों का जब हम तेजी से हिस्सा बनने लगे तो तुरंत निर्णय लिया गया कि मेट्रो में चलते हैं। मेट्रो ही एक ऐसा स्थान है, जहाँ शांति मिलती है। चाँदनी चौक में देशी घी में बनायी गयी लगभग आठ इंच की और उंगलियों जितनी मोटी तार वाली छह सौ रुपये किलो की जलेबी खाने के मोह से मैं अपने को रोक न पाया। एक जलेबी एक आदमी बड़ी मुश्किल से खा सकता है। जलेबी खाने वाले एक सरदार जी ने मुझे कहा कि हरियाणा के किसी स्थान पर एक फिट व्यास की चौड़ी जलेबी मिलती है। आश्चर्य हुआ।

चाँदनी चौक से दोबारा सरोजिनी नगर जाने की योजना बनी। 27 फरवरी को शाम में हम कैब से वहाँ गए थे। कैब को सात बजे मुक्त करना था, इसलिए महिलाओं को ज्यादा समय नहीं मिला। संभवतः वायलेंट लाइन से पिंक लाइन की मेट्रो पकड़कर हम सीधे सरोजिनी नगर मार्किट गेट के सामने ही उतरे। गेट को देखकर ही किट्टू ने कहा कि यही गेट उसने गूगल पर देखा था। महिलाओं के सस्ते कपड़ों के लिए यह मार्केट जाना जाता है। काफी सच्ची-झूठी बातें इस मार्केट के बारे में सुनने मिली थी। एक अच्छी दिखने और लगने वाली महिला

ने नीता से कहा कि खरीद लो, सोचो मत। वह खुद द्वारका से कपड़े लेने यहाँ आती है। जानती हो न कि द्वारका में कैसे लोग रहते हैं? आश्चर्य तब हुआ कि एक डिजिटल कलाई घड़ी जिसकी कीमत पहले 1600 रुपये बताई गई, वह अंत में 400 रुपये में देने में राजी हो गया। कोई महँगी साड़ी पहनी हुई अफसर जैसी महिला जिसके साथ सुरक्षा के लिए एक गनमैन भी था, जैसे ही मार्केट की फोटो लेने लगी तो डरकर लोग अपना सामान उठाकर अंदर रखने लगे। अफरा-तफरी-सी मच गई तब। चीजें तो मुझे भी अच्छी लगी। दिल्ली का यह सरोजिनी नगर मार्केट स्मृतियों में अंकित हो गया।

कुतुब मीनार के ऊपर से लगातार गुजरते हुए विमानों का फोटो लेने से मैं अपने आपको रोक न सका। हर पाँच मिनट बाद एक विमान कुतुब मीनार के ऊपर से उड़ता हुआ नजर ही आता था। जंतर-मंतर के पास होटल ला-मेरेडियन और होटल शांगरीला की ऊँची इमारतों ने इस स्थान को अधिक ही भव्य रूप प्रदान किया था। एक ऊँची इमारत के ऊपरी पाँच-छह मंजिलों वाला हिस्सा लगभग खाली छोड़ दिया गया था। यह खाली हिस्सा और उसमें दिखता बॉयलर मशीन जैसा कुछ बड़ा ही अजीब लगता था। दिल्ली में बड़ी असमानताएँ हैं। गरीबी-अमीरी, दरिद्रता-संपन्नता, भव्यता, आजीविका का संघर्ष और सत्ता का अद्‌भुत संगम। एक ओर मंत्रियों और अफसरों के बड़े सफेद बंगले तो दूसरी ओर फुटपाथ पर सोते और भारी साईकिलों के पैडल मारते दुबले-पतले गाल पिचके हुए मेहनतकश लोग। दिल्ली को रात में देखने का अधिक अवसर नहीं मिला। हो सकता है रात की चकाचौंध से भरी दिल्ली अपनी विद्रूपताओं को छुपा देती हो और सबकुछ अच्छा-अच्छा और मस्ती से भरा लगता हो।

❐❐❐

8 मार्च, 2023

पुस्तकें प्रतिदिन जीवनोपयोगी काम की चीज क्यों नहीं हो सकती?

राजधानी में लगे विश्व पुस्तक मेले से लौटने के बाद मेरे मन में निरंतर अनेक प्रश्न उपस्थित होते रहे हैं। यह प्रश्न पुस्तक, प्रकाशक, लेखक, पाठक, अध्यापक, संपादक आदि के अंतरसंबंधों और पुस्तकों की हमारे जीवन में वास्तविक जरूरत और भूमिका को लेकर अधिक रहे हैं। कुछ दिनों पूर्व फेसबुक पर किसी मित्र की एक पोस्ट पढ़ी। जिसमें उन्होंने लिखा था कि दिल्ली विश्व पुस्तक मेले में पुस्तकों के क्रय-विक्रय का जितना कारोबार हुआ, उससे कई गुना अधिक छोले-भटूरे का हुआ है। लगभग पचास करोड़ के आसपास छोले-भटूरे अकेले दिल्ली शहर में लोगों ने खाए। इतनी तो पुस्तकें भी लोगों ने नहीं खरीदी। आप कल्पना कीजिये कि एक फूहड़ फिल्म कुछ ही दिनों में पाँच सौ करोड़ का कारोबार करती है। क्रिकेट के खिलाड़ी पाँच से दस करोड़ की बोली लगाकर खरीदे जाते हैं। मैंने आजतक नहीं देखा, पढ़ा और सुना कि किसी प्रकाशक ने किसी लेखक को एक लाख रुपये में खरीदा हो। बहुत ही फालतू का काम है भाई लिखना-पढ़ना। मुझे नहीं लगता कि अपना देश पढ़ने-लिखने वाले लोगों के लिए कोई विशेष सम्मानित जगह है। प्रकाशकों के लिए पुस्तकें मात्र एक उत्पाद की तरह हैं। मेरे नगर में सिर्फ पोहा और रस्सा-वडा बनाने वाले आदमी ने कुछ ही दिनों में प्लॉट खरीदा और दो-मंजिला घर भी बना लिया। ठेला गाड़ी पर मुगवड़ा, पाथरा, पोहा और पकौड़े बेचने वाले ने सामने के काम्प्लेक्स में एक शॉप खरीद लिया।

देखिए, बात यह है कि हमें देश के लोगों की नब्ज को समझना होगा। लोग वही पढ़ाई करना चाहते हैं, जिसमें पैसे कमाने जैसा कोई हेतु साध्य हो सके। लोगों की रुचि पुस्तकों में नहीं है और पुस्तकें पढ़ने में तो बिलकुल भी नहीं। पुस्तकें लिखने और पढ़ने के मामले में कोई करोड़पति बना हो, ऐसा कोई उदाहरण मेरे आजतक देखने में नहीं आया। मुझे दिल्ली में सीताराम छोले-भटूरे वाले से छोले खाने के बाद कैब वाले टोनी भाई ने बताया कि यह बहुत बड़ा करोड़पति आदमी है। उसने यह भी बताया कि इसके छोले-भटूरों से तो इसके

भाई राधेश्याम के छोले-भटूरे अधिक स्वादिष्ट हैं। मुँह में रखते ही भटूरा पिघल जाता है, इतना नर्म और मुलायम। किसी पुस्तक की तारीफ करते हुए मैंने ऐसे आम लोगों को कभी नहीं देखा। इस देश के छोटे-से छोटे और बड़े लोगों में भी मैंने पुस्तकों के प्रति आकर्षण नहीं देखा। रोटी और कपड़ा तो ठीक है, क्योंकि वह जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है। लेकिन समोसा, कचौड़ी, छोला-भटूरा, भेल, पानी-पूरी, बटर, टोस्ट, खारी, चॉकलेट, दूध, दही, जलेबी, दारू, बीड़ी, सिगरेट पर जितनी आसानी से लोग पैसा खर्च करते हैं, उतना पुस्तकों पर नहीं। लोग पुस्तक चाहते भी हैं, तो मुफ्त में। मैंने एक लाख रुपये का वेतन ले रहे अध्यापकों को भी साल में कभी एक हजार रुपये की पुस्तकें खुशी से उत्साह से खरीदते हुए नहीं देखा। देखा भी तो बहुत कम। पुस्तकें खरीदने के बाद बहुत-से लोगों को मैंने यह अफसोस करते हुए देखा है कि यदि तेल-शक्कर खरीद लेता तो अच्छा होता।

पुस्तकों को लेकर ऐसी बातें करना यद्यपि अच्छा नहीं लगता, पर यह हकीकत है। इस देश में कम से कम दस लाख अध्यापक तो होंगे ही। यदि यह सब मिलकर साल में केवल एक हजार की ही किताबें खरीदें तो देश का एक अरब रुपये का पुस्तक कारोबार सिर्फ शिक्षकों के भरोसे पर होगा। इसके बाद कॉलेजों, स्कूलों, सार्वजनिक पुस्तकालयों, संस्थाओं और पुस्तक प्रेमियों के बल पर होने वाली पुस्तकों की खरीददारी अलग से। मैं पाठ्यपुस्तकों की बात नहीं कर रहा हूँ; बल्कि साहित्य, समाज, राजनीति, मानविकी, इतिहास, धर्म, दर्शन, भाषा, व्याकरण, न्यायशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि की सर्जनात्मक, चिंतनात्मक, मौलिक पुस्तकों की बात कर रहा हूँ। लेकिन लगभग इस तरह के पुस्तकों के प्रति आम जन तो क्या शिक्षा से जुड़े लोगों में भी कोई रुचि नहीं है। मुझसे परिचित एक अध्यापकों के समूह को मैंने इस तरह की पुस्तकें खरीदने के प्रति काफी प्रेरित किया था और हिंदी के कुछ प्रकाशकों के सूची-पत्र भी उन्हें दिए थे, पर उनमें इसके प्रति कुछ आस्था नहीं जगी। हिंदी की कुछ पत्रिकाओं के पते भी मैंने उन्हें दिए पर 300-500 रुपये की वार्षिक सदस्यता को ग्रहण करने में भी उन्हें संभवतः कठिनाई महसूस हुई।

यह हाल है अपने देश का। ऐसी स्थिति में लेखकों और रचनाकारों में जो एक विशिष्टताबोध, उनका ही स्वरचित गरिमाबोध, आत्ममुग्धता और अपने कुछ बड़े और महान बन जाने का भाव मैं देखता हूँ, तो बड़ा तरस आता है।

देश के स्तरीय साहित्य का देश के आम जनों या सामान्य लोगों से कोई संबंध नहीं है। मैंने इधर कुछ स्थापित एवं नए-नए उत्पन्न लेखकों, कवियों, साहित्यकारों को कॉलेज या स्कूलों की लाईब्रेरी में जुगाड़ करके अपनी पुस्तकें बेचते हुए देखा तो बड़ा दुःख हुआ। ऐसे ही एक सेवानिवृत्त हिंदी प्राध्यापक और स्वयं घोषित लेखक ने मुझसे परिचय और संबंध बढ़ाकर अपनी फूहड़ पुस्तकें बेचने का प्रयत्न किया। एक बार तो वे मुझे ठगने में सफल हो गए पर जब दूसरी और तीसरी बार प्रयत्न किया तो मैं समझ गया। अपनी स्तरहीन पुस्तकों को बेचने में उन्हें बड़ा गर्व महसूस होता था। आज भी मुझे पुस्तकें बेचने का प्रयास करने वाले लोग अत्यंत दयनीय प्रतीत होते हैं। मेरे पढ़ने में रावी जी की 'बुक सेलर की डायरी' आयी थी। रावी पुस्तकें बेचने से पूर्व उनका जीवन में महत्व समझाते थे। वे घर-घर जाकर पुस्तकें बेचते थे। स्वतंत्रतापूर्व और उसके बाद भी दो-तीन दशकों तक इस देश के लोगों में साहित्यिक पुस्तकों के प्रति बड़ी रुचि होती थी और अपनी आय का एक छोटा-सा भाग साहित्यिक पुस्तकें खरीदने में लोग खर्च करते थे। पर अब यह संस्कृति नष्ट हो चुकी है। पुस्तकों को खरीदना लोगों को धन का अपव्यय लगता है। मैं अपने बचपन और किशोरावस्था के दिनों में पुस्तकों का बड़ा प्रेमी हुआ करता था और आज भी हूँ। दो माह पूर्व जब मैं गाँव गया था तो हमारे एक पुराने किरायेदार मुझे मिले थे। उन्होंने मुझे बताया था कि सर, मैंने आपके टेबल पर तब हिंदी की कई पुरानी किताबें जो देखी थी, उसका चित्र आज भी नहीं भूला हूँ। उन्होंने मुझसे कहा कि जब वे बाड़े में प्रवेश करते थे, तो मेरी करीने से रची हुई पुस्तकें सबसे पहले उन्हें दिखाई देती थी। मैं हिंदी क्यों पढ़ता हूँ इसका भी उन्हें बड़ा आश्चर्य होता था।

मुझे यह नहीं पता कि हिंदी का साहित्य पढ़ने का शौक मुझे कैसे लगा। पर अब जब मैं थोड़ा एकांत में जाकर महसूस करता हूँ कि तब तो मैं बड़े खतरे में था। इस तरह यह पुस्तकों का शौक मुझे अध्यापक नहीं बनाता तो मेरा क्या होता? पिता के मिस्तरी काम में हाथ बंटाते हुए क्या मैं वैसा ही साहित्यप्रेमी पाठक बन सकता था, जैसे आज हूँ? दिल्ली के विश्व पुस्तक मेले में जाकर बहुत कुछ परिवर्तनों से लैस होकर मैं लौटा हूँ। मुझे अपने लेखक बनने की प्रक्रिया पर भी विचार करना है। मुझे क्या और कैसा लिखने की जरूरत है, इस पर भी मैं बहुत कुछ सोच रहा हूँ। मेरी रचनाप्रक्रिया वैसी नहीं है, जैसी कि साहित्य की रचना की आम धारणा बनाई गई है। मुझे थोड़ा अलग और तटस्थ रहकर ही कुछ

करना होगा। मैं इस मेले में एक पाठक और अपरिचित बनकर ही गया था। लगता है जहाँ मैंने अपना परिचय दिया और जिनसे भी मिला, उनसे भी मुझे कुछ सीखने के लिए मिला। क्या मिला? मुझे आगे भी कुछ ऐसी चीजों से बचकर चलना जरूरी है। पर क्या यह संभव हो सकता है? फिलहाल कुछ कहा नहीं जा सकता। पर इतना और थोड़ा-थोड़ा समझ पा रहा हूँ कि लेखकों को जागने और सुधरने की नितांत आवश्यकता है। बेचारे, सीधे और सरल मन के पाठक धोखा खा जाते हैं। लेखकों को अपने आपको देश का बहुत ही महत्वपूर्ण, असाधारण और महान व्यक्ति नहीं समझना चाहिए। उन्हें कोई नहीं पढ़ रहा। साधारण जन तो बिलकुल भी नहीं पढ़ रहा है, उन्हें। उनका पड़ोसी भी उन्हें विशेष कुछ नहीं समझता। वे एक बहुत बड़े भ्रम में जी रहे हैं और लिख रहे हैं। मराठी के एक बहुत बड़े कवि थे और नासिक में रहते थे। उनके घर के नल में कुछ लीकेज हो गया था। उन्हें एक प्लम्बर की जरूरत थी। प्लम्बर ने आने में कुछ देरी की तो वे परेशान हो गए। प्लम्बर के आने के बाद वे उसे यह बताते थे कि वे एक बहुत बड़े कवि हैं। पर इसका प्लम्बर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने उतनी ही मजदूरी ली जितनी लेनी थी।

❐❐❐

21 अप्रैल, 2023

अब तक की अपनी अध्यापकी

अपने अध्यापकी के पेशे में काम करते हुए मैं अनेक लोगों को देखता आ रहा हूँ। इसमें प्रिंसिपल, अध्यापक, क्लर्क, लाइब्रेरियन, सिपाई आदि से लेकर प्रबंधन से जुड़े लोग भी आते हैं। लेकिन इनमें से बहुत कम लोगों में मैंने शिक्षा के प्रति रुचि और निष्ठा देखी है। असल में मैंने यह देखा है कि मूल शिक्षा की अवधारणा से यह लोग पूर्णतः अपरिचित हैं। अधिकांश लोगों की रुचि सिर्फ पैसा कमाने में है। इस पेशे से संबंधित ऐसे बहुत-से लोग हैं, जो किसी-न-किसी दूसरे धंधे या बिजनेस से जुड़े हैं और लगभग अपने इस धंधे या बिजनेस के प्रति ही अधिक गंभीर होते हैं। इन्हें शिक्षा के क्षेत्र में रुचि सिर्फ मूल वेतन, वेतन में बढ़ोत्तरी, प्रोन्नति, महँगाई भत्ते में वृद्धि और एरियर्स को लेकर होती है। शिक्षा के क्षेत्र में पढ़ने-लिखने की बात छोड़कर जिस जगह भी इन्हें पैसे मिलने की संभावना दिखती हो, वहाँ यह लोग पहले हाजिर हो जाते हैं। संगठनों के विभिन्न पदों पर यह लोग जमे होते हैं और ऐसे चिपक जाते हैं कि हटने का नाम ही नहीं लेते। मेरे कॉलेज में एक अध्यापक थे, जिन्होंने अपने पूरे कार्यकाल में मुझसे सिर्फ इतनी ही बात की कि वेतन कब हो रहा है? ऐसे लोगों में मैंने किसी विशिष्ठ एवं बहुसंख्यक जाति के लोगों का ही अधिक प्रतिनिधित्व देखा है और ऐसे लोग अत्यंत आराम से सेवानिवृत्त भी हो जाते हैं। मैंने अपने अब तक के जीवन में अनेक स्कूलों-कॉलेजों का अनुभव लिया और कई खराब अनुभव तो मुझे अपने कुछ अध्यापक मित्रों से सुनने को मिले। ऐसे माहौल में भी ईमानदारी से काम करने वाले लोग नहीं हैं; ऐसा नहीं है, पर वे संख्या में इतने कम हैं कि स्थितियों में कुछ अच्छा, उम्दा और सकारात्मक बदलाव नहीं कर सकते।

शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े अनेक लोग अपने दूसरे काम-धंधों में इतनी अधिक रुचि लेते हैं कि कभी-कभी लगता है कि हम पढ़ाने-लिखाने का कोई फालतू काम कर रहे हैं। मैंने ईमानदारी से पढ़ाई-लिखाई का काम करने वाले अनेक शिक्षकों की जबरदस्त उपेक्षा होते देखी है और फिर वे निराश भी हो जाते हैं। स्कूल या कॉलेज प्रबंधन से जुड़े लोगों को भी लगता है कि सिर्फ पढ़ाई-लिखाई का काम करना, कोई बड़ी बात नहीं है। उनको लगता है कि इसके अलावा भी दूसरे काम

उन्हें करने चाहिए। आजकल उच्चशिक्षा के क्षेत्र में 'फंड जनरेट' करने की बात को बहुत अहमियत दी जा रही है। मेरे अपने ही विषय हिंदी में मुझे 10 छात्र मिलना भी मुश्किल हो रहे हैं, बल्कि BBA और BCA जैसे विषयों में 200 छात्र प्रवेश ले रहे हैं। मैं हिंदी को लेकर कैसे और कहाँ से फंड जनरेट करूँ? यह बड़ा मुद्दा है। पैसे कमाकर लाना बहुत जरूरी है। बिना पैसे के न देश चलेगा और न घर। पर पूरी तरह शिक्षा को रोजगार के अवसर के रूप में देखना भी गलत है। ज्ञानार्जन और कार्यकुशलता दोनों अलग-अलग चीजें हैं। शिक्षक का काम ज्ञानार्जन, ज्ञानवर्धन और ज्ञान-वितरण का है। यह कोई रोजगार नहीं है, जैसे- दुकानदारी, होटलिंग, कोचिंग, चिकित्सा, मशीन रिपेयरिंग, मैन्यूफैक्चरिंग आदि। भाषा, साहित्य, गणित, इतिहास, भूगोल आदि की शिक्षा ग्रहण करने के बाद आप तुरंत कोई काम नहीं कर सकते कि झट से पैसे कमाने लग गए। इतिहास या भूगोल या हिंदी की आप झट से दुकान नहीं डाल सकते और न ही जरूरतमंद लोग आपकी दुकान पर इतिहास, भूगोल या हिंदी का मटेरियल खरीदने आयेंगे।

देश में शिक्षा के वर्तमान स्ट्रक्चर के बारे में गंभीरता से पुनर्विचार करने की जरूरत है। शिक्षा से जुड़े अनेक अनुशासनों को आप सिर्फ पैसे कमाने की मशीन के रूप में तैयार या प्रस्तुत नहीं कर सकते। शिक्षा के क्षेत्र में सिर्फ पैसे कमाने की दृष्टि से आने वाले चतुर और धूर्त लोगों को भी रोकना बहुत जरूरी है। यह लोग इस क्षेत्र में सिर्फ सरलता से वेतन प्राप्त करने की मंशा रखकर ही आते हैं। इस क्षेत्र से जुड़ी संपूर्ण व्यवस्था को यह लोग बड़ी चतुराई से मैनेज करते हैं या यूँ कहें कि खरीद लेते हैं। इन लोगों ने कुछ बड़ी डिग्रियों को खरीदना शुरू कर दिया है। कुछ दिनों पूर्व मुझे दो अध्यापक मित्र मिले थे। उनमें से एक ने दूसरे का परिचय देते हुए मुझसे बड़े गर्व से कहा कि यह थीसिस लिखते हैं। बाद में वे झेंप गए। मेरे एक निकटस्थ अध्यापक ने एक बार मुझसे अनजाने में यह कह दिया कि कॉलेज से घर पहुँचते ही उन्हें बोरियत होती है और वे सीधे शाम को अपने एक मित्र की दुकान पर रात 8-9 बजे तक बैठते हैं और फिर घर लौटते हैं, तब उन्हें कुछ राहत मिलती है। एक अध्यापक तो सुबह 9 बजे ही अपने खेत में जाते हैं और फिर 11-12 बजे के बीच कॉलेज में आते हैं और 3-4 बजे फिर खेत में। ऐसा ही कुछ दिनक्रम लगभग उन अध्यापकों का भी है, जिनकी शहर में किसी-न-किसी तरह की कोई दुकान या धंधा है।

मैं जब भी बाजार या मंडी में जाता हूँ तो मुझे झट से आधे-पौन घंटे में ही घर लौटने और अपने अध्ययन-कक्ष में जाने की बेचैनी होने लगती है। मैं बाजार या मंडी से इरिटेट होने लगता हूँ। अनेक बार मेरी पत्नी को भी मेरे घर पर ज्यादा समय बिताने को लेकर शिकायत होती है, तो मैं उससे कहता हूँ कि तुम यह ऐसा महसूस ही मत करो कि मैं घर पर हूँ। मैं तुम्हें और तुम्हारे काम में कोई बाधा नहीं डालूँगा। जब तक मैं न आवाज दूँ, तब तक मेरे कक्ष में तुम आना भी नहीं और न बच्चों को भेजना। यह स्वभाव मेरा लगभग पहले से रहा है। असल मैं एक साधना टाइप के काम करने में रुचि रखने वाला आदमी हूँ। इसके लिए एकांत बहुत ही आवश्यक होता है। मधुर से मधुर संगीत की उपस्थिति भी इस साधना में वर्जित है। अनेक लोगों से अधिक घनिष्ठ संबंध बनाना भी इस साधना में बाधा डालता है। कुछ लोग जब मिलने आते हैं तो एक-दो घंटा ले लेते हैं। उन्हें भी समय देना जरूरी है। पर कब तक? मैंने कुछ सामाजिक, शैक्षिक, धार्मिक संस्थाओं, संगठनों और राजनीतिक टाइप के जुड़े लोगों से भी काफी दिनों से दूरियाँ बना रखी हैं। वक्त-बेवक्त अब मैं परेशान नहीं होता। पत्नी को कहा कि तुम जा सकती हो, पर घर की अपनी सारी जिम्मेदारियों से मुक्त होने के बाद। मुझे हरिराम और धनीराम दोनों भी बनना नहीं है। बहुत-से सम्मानित पदों को लेकर भी मुझमें मोह नहीं है। विशिष्ट रुतबों या पदों की सीमित चहारदीवारी के भीतर भी मुझे घुटन ही महसूस होती है। जब कोई किताब या विचार-श्रृंखला मुझे जकड़ लेती है तो अपूर्व या दिव्य की अनुभूति होती है। आप कुछ भी कहें पर मेरे इस पुस्तक-प्रेम और पढ़ने-लिखने के नशे ने मेरे जीवन में द्वंद्वात्मक नियति का ही काम किया है। इन रुचियों ने मुझे दूसरे रसहीन क्षेत्रों या कामों में जाने या घुसने से जबरदस्ती से रोका है। यदि मैं भूल-गलती से विपरीत दिशा में चला भी गया तो इस रुचि ने मुझे जबरन खींचकर बाहर निकाला है। कुर्सी पर बैठना भी मुझे रसहीन प्रतीत होता है। शहर में मैंने देखा कि अनेक दुकानदार लोग बड़ी-बड़ी चमकीली मेजें बनवाकर और विशाल व्हील चेयरों पर बैठे सिर्फ अपने स्मार्टफोन में डूबे पाए जाते हैं। पत्नी ने मुझे दो-तीन बार कहा कि मैं व्हीलचेयर ले लूँ। पर मैं तो अपने बेड पर बैठकर ही लिखता हूँ और टाइप करना हो तो स्टूल पर बैठकर। विभागाध्यक्ष होकर भी अभी तक न मेरे नाम का टेबलपट्ट है और न नेम प्लेट। मुझे इन चीजों की जरूरत भी महसूस नहीं होती। विभाग में 'कमवा और शिका' योजना में कार्य कर रही एक छात्रा ने 15 वर्ष पूर्व नैक के

मूल्यांकन के समय बना मेरे नाम का एक टेबलपट्ट मेरे टेबल पर रख दिया और जब टेबल पर रखा नेम प्लेट मैंने देखा तो विचित्र-सी अनुभूति हुई कि अभी तक मैंने कभी इस जरूरत को अनुभव ही नहीं किया। लगता है कि ऐसी ही जिंदगी यदि मेरी गुजर जाती है, तो कितना अच्छा होगा, नहीं?

❐❐❐